अंक-21

ISSN 0975-5217

UGC-CARE LIST (GROUP-I)

वर्ष 2022

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

ISSN 0975-5217
UGC-Care list (Group-I)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2022 अंक 21)

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कल की शोध-पत्रिका)

ISSN 0975-5217

UGC-Care list (Group-I)

वर्ष-2022, अंक : 21

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 400/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 800/- रुपये / त्रैवार्षिक 2400/- रुपये

पंचवार्षिक 4000/- रुपये / आजीवन : 15000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 850/- रुपये / त्रैवार्षिक 2500/- रुपये

पंचवार्षिक 4500/- रुपये / आजीवन : 16000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

''भैरवी'' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित एवं UGC-Care list (Group-1) में शामिल है। साथ ही यह Peer Reviewed Refereed Visual and Performing Arts Research Journal है।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201 102

Patron

Prof. Chaman Lal Verma
Ex. Dean and Head
University Department of Music
Himachal Pradesh University, Shimla

Prof. Pt. Ritwik Sanyal
Top Grade Dhrupad Artist
Ex. Dean, Faculty of Performing Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

Prof. Pt. Sahitya Kumar Nahar
Vice-chancellor
Raja Maan Singh Tomar Sangeet Vishwavidyalaya
Gwalior, Madhya Pradesh

Editorial Board

Chief Editor

Prof. Pushpam Narain
Ex. Dean, Faculty of Fine Arts
Head, University Department of Music and Dramatics
Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga, Bihar

Editorial/ Advisory Board

1. Prof. K. Shashi Kumar
   Dean, Faculty of Performing Arts
   Banaras Hindu University, Varanasi
2. Prof. Snehashish Janpriya Das
   Head. Department of Music
   Women's College Jag Chowk, Amarawati, Maharashtra
3. Dr. Ashwani Kumar Singh
   Associate Prof, Department of Music
   Faculty of Performing Arts. M.S. University, Baroda, Gujrat
4. Dr. Shobhit Kumar Nahar
   Asst. Prof. Instrumental Music
   Women's College
   Banaras Hindu University, Varanasi

Peer Review Committee

1. Prof. Om Prakash Bharti
   Head, Department of Performing Arts
   Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
   Wardha, Maharashtra
2. Dr. Rajesh Kelkar
   Dean, Faculty of Performing Arts
   Maharaja Siyaji Rao University, Baroda, Gujrat
3. Prof. Umesh Kumar
   Head, Department of Hindi
   B.M.A Callege Baheri, Bihar
4. Dr. Amar Kant Kuwar
   Head, Department of Hindi
   M.L.S.M College, Darbhanga, Darbhanga, Bihar
5. Dr. Santosh Dattatrayrao Parchure
   Head, Department of Music
   S.P.H. Women's College, Malegaon, Nashik, Maharashtra
6. Dr. Shashank S. Maktedar
   Associate Prof. and Officiating Principal
   Goa College of Music, Panji, Goa
7. Dr. Ved Prakash
   University Department of Music and Dramatics
   Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga, Bihar
8. Dr. Ramshankar
   Faculty of Music and Performing Arts
   B.H.U., Varanasi
9. Dr. Pallavi Shailesh Meshram
   Associate Prof. In Applied Arts
   Bharti Vidyapeeth' Collge of Fine Arts, Pune, Maharashtra

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुणा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

'Music is the bridge of peace and love'

‘संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।’

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

संपादक की कलम से ...

जीवन एवं लोक व्यवहार में गीत रचे-बसे हैं गीत बेजान नहीं होते हैं, उनमें समय का स्पन्दन होता है। गीत संगीत जीवन्त समाज के परिचायक है। सुर, लय, ताल, आरोह, अवरोह और गीत गाने की शैली हर व्यक्ति को अपनी ओर खींचती है। गीतों के माध्यम से किसी विषय-वस्तु को सरलता से न केवल अभिव्यक्त किया जा सकता है बल्कि कहीं अधिक बोधगम्य भी बनाया जा सकता है। गीत वातवरण की नीरसता, एकरसता, ऊब और मारीपन को दूर कर सरसता, समरसता, उमंग और उत्साही परिवेश का निर्माण करते हैं। सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को गीत रोचक और ऊर्जावान बना देते हैं। गीत केवल शब्दों का कोरा समुच्चय भर नहीं होता बल्कि इनमें माटी की महक, लोक की गमक और सामाजिक प्रवाह का कलरव भी होता है। ये समकालीन संस्कृति की धड़कन है। समाज और राष्ट्र की अमूल्य धरोहर है। गीतों में अगर भौगोलिक सीमाएँ नदी, तालाब, पर्वत, घाटी, जंगल, कोहरा, जाड़ा, गर्मी, वर्षा, पवन, फूल और पशु-पक्षी प्राणवान हो उठते हैं तो इतिहास भी अपने पात्रों, प्रस्तर औजारों, मुहरों-मुद्राओं, संधि पत्रों, युद्धों और हार-जीत के साथ प्रत्यक्ष होने को लालायित हो उठता है। इतना ही नहीं फाग, होरी, चैती, कजरी, विरहा, सावनी के साथ-साथ विभिन्न जाति समूह के गीत के माध्यम से मानवी जिजीविषा, पहचान, अस्मिता, गौरव-बोध और सांस्कृतिक बोधा जाग उठता है। अतः संगीत मानव जीवन का अविभाज्य अंग है। इसका प्रयोग हम मनोरंजन, सम्प्रेषण, शिखा आदि विभिन्न क्षेत्रों में करते हैं। संगीत संज्ञानात्मक प्रक्रिया में सहायक होने के साथ-साथ अधिगम के लिए आवश्यक सभी तत्त्वों को प्रभावित करता है। मेरा मानना है कि भाषा को सीखने-सिखाने के लिए संगीत एक शक्तिशाली साधन है। चाहे वह शास्त्रीय संगीत हो, लोक संगीत हो, फिल्मी संगीत हो, पॉप संगीत हो या पढ़ते-पढ़ाते समय पृष्ठभूमि में बजने वाली हल्की-हल्की संगीत लहरियाँ हो इन सभी से भाषा के कौशलों का विकास होता है।

एक प्रश्न उठता है संगीत ही क्यों?

लय, ताल, तुक और गीत-संगीत की आवृत्ति—ये स्वयं सिद्ध साधन हैं जो बच्चों के धयान और कल्पना को अपनी ओर खींचते हैं, साथ ही पढ़ाई मूलभूत अवधारणाओं को आत्मसात करके उनहें याद रखने में भी सहायक सिद्ध होते हैं। संगीत के प्रयोग से बच्चों का अधिगम हर्षपूर्ण हो जाता है और वे नई जानकारी को आसानी से आत्मसात करने में सक्षम हो जाते हैं।

लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए संगीत का सफल प्रयोग विज्ञापनों में देखने को मिलता है। क्या हम उन लोकप्रिय 'जिंगल्स' को भूल सकते जिनमें विज्ञापन कर्त्ताओं ने वर्षों-वर्षों से अपने उत्पादों के लिए संगीत का सहारा लिया है। ''विक्स की गोली, खिंच-खिंच दूर करों'', ''लाइफबॉय है जहाँ, तन्दुरुस्ती है वहाँ'', ''निरमा वाशिंग पावडर निरमा'', ''बादशाह मशाला'' आदि लय-ताल निबद्ध जिंगल इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर बनाए गए हैं कि हम उत्पादों को ध्यान में रख सकें। अगर विज्ञापन कर्त्ता संगीत की शक्ति का

उपयोग उपभोक्ताओं का ध्यान अपनी उत्पादों की ओर खींचने के लिए, उन्हें याद रखने के लिए कर सकते हैं, तो हम संगीत का ध्यान पढ़ाई की ओर खींचने और जो कुछ पढ़ा है उसे याद रखने के लिए क्यों नहीं कर सकते। किसी लोकधुन, श्लोक, गायन, कविता या फिल्मी गाने का प्रयोग करके छात्रों को भाषायी कौशल और अवधारणाएँ सिखा सकते हैं।

संगीत के प्रति रुचि जागृत होने से छात्रों में कई गुण स्वतः आ जाते हैं यथा–

- संगीत भाषा कौशल का विकास करता है।
- यह विषय-वस्तु को रोचक बनाकर एक अच्छे वातावरण का निर्माण करता है।
- एकाग्रचित्तता को बढ़ाता है।
- मानसिक थकान को कम करके चिन्तन शक्ति का विकास और सृजनात्मकता में वृद्धि कर सकता है।
- स्मरणशक्ति को बढ़ाता है।
- शब्दों के उच्चारण शुद्ध होते हैं।
- गीत गाने से शब्द भण्डार में वृद्धि होती है।
- शारीरिक या मानसिक रूप से असमर्थ बच्चों को विशेष रूप से दी जानेवाली शिक्षा में संगीत की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है।

अन्ततः कहना चाहूँगी कि संगीत जीवन जीने को महत्त्वपूर्ण कला है। प्रिय पाठकगण 'भैरवी' शोध पत्रिका का अंक 21 वर्ष 2022 आपके हाथ में है। टंकण भूल प्रूफ रीडिंग के उपरान्त भी कभी-कभी रह जाया करती है। कृपया इस हेतु क्षमा करेंगे। नववर्ष की मंगलकामना सहित।

–प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

संपादक की कलम से ... 9

1. जनजातीय लोक संगीत की लुप्त होती परम्परा — डॉ. श्वेता कुमारी 13
2. सदानी झूमर : एक विवेचनात्मक अध्ययन — डॉ. सुनील कुमार तिवारी, मोऊ सन्तारा 18
3. उत्तर प्रदेश में भक्ति और लोक संस्कृति की संवाहक : कथक नृत्य शैली — डॉ. सुनीता द्विवेदी 22
4. डोमकच : बिहार का स्त्री प्रधान लोकनृत्य — खुशबू कुमारी, डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय 27
5. लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत में अन्तर्सम्बन्ध — ज्योति कुमारी एवं डॉ. अंजू कुमारी 32
6. आचार्य रजनीश के विचारों में लोक-कला और संगीत का महत्त्व — राजीव कुमार रंजन' 35
7. बिहार की लोक-संगीत परंपरा में प्रयुक्त अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग — प्रो. पुष्पम नारायण, संजीत कुमार 40
8. सांगीतिक रचनाएँ — प्रोफ़ेसर ओजेश प्रताप सिंह 46
9. त्रिपुष्कर से तबला — डॉ. शोभित कुमार नाहर, प्रेम प्रकाश प्रजापति 49
10. अवनद्य वाद्य में तबले का स्थान एवं महत्व — डॉ. निधि श्रीवास्तव 54
11. पं. रामाश्रय झां जी की रचनाओं का सौन्दर्यपरक विश्लेषण — डॉ. श्वेता केशरी 56
12. संगीत मकरंद ग्रंथ में वर्णित एकोत्तरशत ताल का अध्ययन — गौरांग भावसार, अक्षिता बाजपेई 63
13. बौद्ध वाङ्मय में संगीत : एक अध्ययन — डॉ. निशा पाठक 70
14. संगीत और साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध — स्वाति शर्मा 75
15. पंडित गजानन बुवा जोशी- एक महान वायलिन वादक — श्रीप्रकाश पाण्डेय 78
16. श्रीकृष्ण जन्मोत्सव काव्य में वर्णित 'पंचशब्द' का सांगीतिक स्वरूप — डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय 82
17. उत्तर भारतीय संगीत में रागों के ध्यान की परिकल्पना — डॉ. मधुमिता भटटाचार्य 85
18. भारत में संगीत का विकास — डॉ. रामशंकर, अशोक कुमार 88
19. नये दौर की खुली हवा में : पंख पसारता ग़ज़ल — गौरव शुक्ल 94
20. संगीत एवं मानसिक स्वास्थ्य — सोनिका कुमारी, डॉ. सुनील कुमार तिवारी, डॉ. श्वेता पाठक 96
21. मुगलशासन काल में ध्रुवपद शैली की लोकप्रियता — रेखा कुमारी एवं डॉ. किरण सिंह 101

22. नवाब वाजिद अली शाह का कलकत्ता प्रवास तथा अवध के संगीत पर प्रभाव
डॉ. निष्ठा शर्मा 105

23. +2 (इण्टर स्तर) तक विद्यालयीय सांगीतिक शिक्षण में
पाठ्य निर्माण के तत्त्व : एक विश्लेषण प्रो. पुष्पम नारायण, निधि कुमारी 112

24. घरानेदान शिक्षण-पद्धति एवं विद्यालयीन
शिक्षण-पद्धति : एक तुलनात्मक विश्लेषण डॉ. ममता रानी ठाकुर, सोनम कुमारी 116

25. सफलता की कुंजी अनुशासित अभ्यास संध्या यादव 120

26. संगीत कला एवं सौंदर्य तत्व
दिपेश थोडी, प्रो. गौरांग भावसार, प्रो. दर्शन एस. पुरोहित 126

27. संगीत एवं आध्यात्म की समन्वयता नीतू तिवारी 132

28. संगीत के द्वारा आपराधिक मनोवृत्ति पर नियंत्रण प्रो. पुष्पम नारायण, नीतिश रंजन 136

29. संगीत में अभ्यास का महत्व डॉ. माधुरी पोद्दार 142

30. बाँसुरी वादन में सौंदर्य बोध रोहन तारा 145

31. संगीत के प्रचार-प्रसार में वैज्ञानिक उपकरणों का योगदान
प्रो. पुष्पम नारायग, हेमलता कुमारी 148

32. पेशकार में उपज का महत्व धनंजय वेकरीया, प्रो. गौरांग भावसार, डॉ. चिराग सोलंकी 152

33. A Study of Factors Affecting Listening Music
and Various Types of Feelings Ms. Parul Sharma 158

34. Aesthetic Aspects Through Comparative Study of
Raaga Kafi in North and South India Mitali Mukherjee, Dr. Kiran Singh 164

35. An Introduction to Nandikeshwara and his 'Abhinayadarpana'
Disha Roopang Mody, Dr. Ami Pandya 170

36. "Asymmetric Non-repetitive Non-circular Physics in Tabla"
Shalini Saxena and MS Godbole 177

37. Liberal Arts and the Political Science Pedagogy:
Exploration of How Liberal Arts Assists in
Comprehending the Political World Harsha Srinivas & Akshay Agrawal 182

38. Performing Women: A Critical Study of Construction
of 'Woman' in Ancient Indian Drama Dr. Mrityunjay Kumar Prabhakar 190

40. The musical prowess of Sri. Subbarama Dikshitar–
A study through the Tanavarnam in Erukalakambhoji
Bindu J R, Dr. V Janaka Maya Devi 197

41. Essence of Adbhuta Rasa in Tyagaraja's
composition with special reference to Valmiki Ramayana
R. Nandhini, Dr. V. Janaka Maya Devi, 205

जनजातीय लोक संगीत की लुप्त होती परम्परा

डॉ. श्वेता कुमारी

सारांश

जनजातीय समुदाय के लोग अपनी लोक परम्पराओं के मूल स्वरूप को संजीवित रखने में विशेष रूप से सजग रहते हैं। अपनी मूल सभ्यता को संजोने के इस विशिष्ट गुण के कारण जनजातीय समुदाय में आज भी आदिम काल के मानव का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। समय समय पर विभिन्न सभ्यताओं ने जनजातियों को प्रभावित किया किन्तु इन प्रभाव में आ कर भी वे अपनी मूल परम्परा को संजीवित रखे हुए हैं। जनजातीय समुदाय बदलाव को शीघ्रता से स्वीकार नहीं करता है फलतः आज भी जनजातीय समुदाय अपने आदिम स्वरूप से बहुत अधिक अलग नहीं हो पाया। वर्तमान काल खंड में आधुनिकता की चमक सरकारी तथा गैर. सरकारी प्रयासों के माध्यम से जनजातियों तक पहुँच रही है। इसका प्रभाव भी देखने को मिल रहा है। इस आधुनिता तथा पहले की विभिन्न संस्कृतियों के प्रभाव ने जनजातीय जीवन में सकारात्मक बदलाव जरुर लाया है। लेकिन इन बदलावों के नकारात्मक पक्ष भी सामने आ रहे हैं। जनजातियों को अपनी पल्लवित परम्पराओं के कुछ अंश का विस्मरण हो रहा है। फलतः ये परम्पराएं लुप्त हो रही हैं। वर्तमान बदलाव के युग में इन परम्पराओं को सहेजने की आवश्यकता है। इस दिशा में कार्य अवश्य हो रहे हैं किन्तु ये प्रयास पर्याप्त नहीं हैं।

मुख्य बिन्दु : *जनजाति, लोक संगीत, जनजातीय समुदाय, लुप्त, परम्परा, नृत्य*

आधुनिक युग के विकास की चमक ने समाज के प्रत्येक अंग को प्रभावित किया है। मानव में आधुनिकता की ओर बढ़ने तथा स्वयं को आधुनिक सिद्ध करने की होड़ लगी है। यह अत्यंत चिंतनीय विषय है कि इस दौड़ में व्यक्ति अथवा समाज अपनी अमूल्य पुरातन परम्पराओं को सहज ही विस्मृत कर दे रहा है। आधुनिकता की चमक में परम्पराएं ही नहीं अपितु अनेक समुदाय भी अपना अस्तित्व खो चुके हैं। अनेक सभ्यता जो आज केवल कही तथा सुनी जा सकती हैं उनको संजीवित करने वालों ने सदैव परिवर्तनशील प्रकृति के प्रभाव में आ कर अपनी मूल सभ्यता को छोड़ दिया फलतः अनेक जातियां लुप्त हो गयीं।

जनजातीय लोक संगीत के सन्दर्भ में आधुनिकता के प्रभाव का विश्लेषण किया जाय तो देखा जा सकता कि जनजातियों की अनेक लोक परम्पराएं ही नहीं अपितु स्वयं अनेक जनजातियों का अस्तित्व खतरे में हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में जनजातियों के लुप्त होते लोक संगीत का विश्लेषण किया जाएगा।

जनजातियों की परम्पराएं अत्यंत प्राचीनता की सम्वाहक हैं। मानव के आदिम स्वरूप की छवि जनजातियों में देखी जा सकती हैं। अपने आदिम स्वरूप से विकास की ओर बढते हुए मानव का एक वर्ग विकास के प्रभाव में आने से वंचित रह गया। इस प्रकार दोनों ही वर्गों में अंतर हो गया। विकास की ओर निरंतर बढ़ता हुआ समाज सभ्य नागरिक

* सहायक आचार्या, गायन इकाई, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, मो. 918604502611, shweta.k/bhu.ac.in

तथा अपने आदिम स्वरूप को संजीवित रखने वाला वर्ग वर्तमान समय में जनजाति अभिधान प्राप्त करता है।

डॉ ए. आर. एन. श्रीवास्तव जी के अनुसार ''जनजाति, मानव समाज का एक विशेष वर्ग है। जनजातियों को आदिवासी, वनवासी, आदिम जाति आदि शब्दों से भी संबोधित किया जाता है। जनजाति को परिभाषित करने के लिए अनेक विद्वानों ने अपने अपने ढंग से प्रयास किया किन्तु सभी एक मत नहीं हो सके। विद्वानों द्वारा 'जनजाति' को परिभाषित करने के दौरान जनजातियों की कुछ विशेषताएं प्रकाश में आती हैं। भौगोलिक आधार पर जनजातीय समुदाय के लोगों के निवास स्थान समुद्र के तट, दुर्गम स्थान, टापू, सुदूर पठार तथा पहाड़ी क्षेत्र तथा जंगलों आदि में होते हैं। डॉ ए. आर.एन. श्रीवास्तव जी के कथनानुसार ''जनजातीय जनसंख्या की दृष्टि से अफ्रीका के बाद भारत का दूसरा स्थान है। भारत में निवास करने वाली कुल जनसंख्या का 8.08 प्रतिशत जनजातीय समुदाय के लोग रहते हैं। भारत देश में जनजातीय समूहों की कुल संख्या 427 है, किन्तु भारत सरकार के जनजातीय विभाग (1978) की मान्यता है कि देश में जनजातीय समुदाय की कुल संख्या 613 है।''

जनजातीय समुदाय के लोग अपने परम्परा के निर्वहन के लिए अत्यंत तत्पर रहते हैं। फलतः इनकी परम्पराएं आदिम समय की परम्पराओं से मिलती-जुलती हैं। अपनी परम्पराओं के निर्वहन में सजगता के बाद भी जनजातियों की कुछ परम्पराएं लुप्त होने की अवस्था में पहुँच रही हैं। जनजातियों की अपने परम्परा के निर्वहन के प्रति सजगता तथा जनजातियों की परम्पराओं का लोप होना परस्पर प्रतिरोधी वाक्य हैं किन्तु दोनों ही वाक्य सत्य हैं। जनजातीय समुदाय के लोग अपनी परम्पराओं के निर्वहन के लिए कटिबद्ध अवश्य होते हैं किन्तु समय-समय पर विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का प्रभाव पड़ने से जनजातीय परम्परा अपने मूल रूप से विलग हो गयी। विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के शंकरण से नयी परम्परा का जन्म हुआ तथा जनजातियाँ अपनी मूल परम्परा को धीरे-धीरे विस्मृत कर दीं।

ये परिवर्तन अत्यंत आंशिक हुए किन्तु इन परिवर्तनों ने जनजातीय परम्पराओं की मौलिकता का ह्रास कर दिया। वर्तमान समय में विभिन्न सरकारों तथा गैर सरकारी संगठनों के विकास तथा शिक्षा को जनजातियों तक पहुंचाने के प्रयास ने जनजातियों का परिचय आधुनिकता से कराया है। इस प्रभाव में आ कर जनजातीय समुदाय के लोग अपनी परम्पराओं को धीरे धीरे भूलने लगे हैं। सरकारों ने इस ओर भी प्रयास किया है कि जनजातीय परम्पराओं को संरक्षण प्रदान कर उनका अस्तित्व खत्म होने से बचाया जाए।

जनजातीय समुदाय के विभिन्न परम्पराओं के लुप्त होने के क्रम में जनजातीय लोक संगीत भी है। जनजातीय लोक संगीत की अनेक विधाएं हैं जिनमें से कुछ विधाओं का वर्तमान समय में अस्तित्व खतरे में है।

जनजातीय गीतों को अध्ययन के हेतु सात वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये सप्तवर्ग अधोलिखित हैं–

1. संस्कारों में गाये जाने वाले गीत
2. ऋतुओं से सम्बंधित गीत
3. उत्सव के गीत
4. धर्म और पूजा में गाये जाने वाले गीत
5. श्रम के गीत
6. मनोरंजन के गीत
7. अन्य गीत

इन गीतों में जनजातीय समाज के अंतर्मन के भावना की सहज प्रस्तुति होती है। ये जनजातीय गीत अनगढ़ तथा अशास्त्रीय तो होते हैं किन्तु इनके गर्भ में अमूल्य रत्न का भण्डार है। वर्तमान परिवेश में नयी पीढ़ी के आधुनिकता की ओर झुकाव से जनजातीय परम्पराओं के संरक्षण में शिथिलता दिख रही है। जनजातीय समुदाय के कुछ संगीत जो लुप्त होने की स्थिति में पहुँच गये हैं, का उल्लेख इस प्रकार है–

करमा नृत्य गीत

करमा गीत अनुष्ठानिक गीत है। करमा नृत्य में स्त्री तथा पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं। इस की प्रस्तुति के समय स्त्री तथा पुरुष एक पंक्ति में आगे

की ओर झुक कर करमा गीत के पंक्तियों को गाते हुए कुछ कदम आगे जाते हैं तथा गीत की दूसरी पंक्ति को गाते हुए सीधा होकर अपने पूर्व के स्थान पर लौट आते हैं। करमा गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

''चोला रोवत हे राम बिन देखे परान
दादर झांवर झांडी ढूँढो डोंगर बीच मंझाय।
सबै परेतन तोला ढूँढो कहाँ लूके हे जाय।।
चोला रोवत हे राम बिन देखे परान
माया ला तै कस के टोरे सुरता मोरे भुलाय।
मोर मड़इया सूनी करके कहाँ करे पहुनाई।।
चोला रोवत हे राम बिन देखे परान
इन नैना मा नींद नहीं आये हिरदा होइगे सूना।
डोंगरी उहरी तोला ढूँढो विपदा बढगे दूनो।।
चोला रोवत हे राम बिन देखे परान''

करमा नृत्य का विशेष प्रचार छत्तीसगढ़ के जनजातीय अंचल में रहा है। छत्तीसगढ़ के साथ ही उड़ीसा तथा बिहार के वन्य प्रदेश में रहने वाले जनजातीय समुदाय में भी करमा नृत्य गीत का प्रचार रहा है। करमा गीत के तीन भाग होते हैं . प्रथम–राग, द्वितीय– टेक, तृतीय– आड़। गीत के प्रारम्भिक भाग को राग शब्द से संबोधित किया जाता है। राग के द्वारा गायी जाने वाली धुन का नाचने वालों को ज्ञान होता है। राग के माध्यम से ही नृत्य की भूमिका बंधती है। राग के लिए सामान्यतः निम्न शब्दों का प्रयोग होता है–

1. अहो हे अहो हे हे
2. ओ हा हे हे हे
3. आ हो हो रे ही
4. ओ हो हो रे ही

करमा गीत में गायन शैली के विभेद के आधार पर पांच वर्ग झूमर, लंगड़ा, लहकी, ठाढ़ा और रागिनी, बनाये गये हैं। इन गीतों में मांदल मुख्य वाद्य का स्थान प्राप्त करता है।

बांस नृत्य

यह नृत्य थारु जनजाति में प्रचलित रहा है। तंत्र साधना तथा तांत्रिक प्रक्रिया का एक अंग है बांस नृत्य। बांस को जमीन में गाड़ कर इस नृत्य को किया जाता है। इस नृत्य में जिस गीत का गायन होता है उसे 'सुरखेल गीत' के नाम से जाना जाता है। नृत्य के समय जमीं में गड़ा हुआ बांस स्वतः धसता जाता है। डॉ आद्याप्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''बांस नृत्य की मुख्य विशेषता रहस्य कौतूहल, भय, रोमांच आदि हैं।'' परम्परिक बांस नृत्य का अस्तित्व अब लगभग समाप्त है।

लठिहवा नाच

यह नृत्य थारु जनजाति में प्रचलित रहा है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस नृत्य में लाठी का प्रयोग विशेष रूप से होता है। लाठियों को एक दूसरे से चटका कर (लड़ाकर) ताल दिया जाता है। इसी ताल पर नृत्य की प्रस्तुति होती है। इन प्रस्तुतियों में ध्यानाकर्षक तत्व पुरुषों का स्त्री वेष में नृत्य करना भी है। लाठियों से ताल देना तथा पुरुषों का स्त्री रूप में इस ताल पर नृत्य की प्रस्तुति अत्यंत मनोहर वातावरण सृजित करती है। वर्तमान समय में यह नृत्य भी लुप्त होने की स्थिति में है।

चंगेज नृत्य

चंगेज नृत्य का आयोजन पुत्र के जन्म के अवसर पर जनजातीय समुदाय में अत्यंत उल्लास के साथ किया जाता रहा है। पुत्र के जन्म के अवसर पर बुआ बांस से निर्मित चंगेज जो कि दौरिया के आकार की बनाई जाती है, अत्यंत आकर्षक रूप से सजा कर ले आती है। चंगेज में बुआ के द्वारा शिशु के लिए वस्त्र तथा आभूषण भी लाया जाता है। इन वस्त्र तथा आभूषण को शिशु को पहनाया जाता है। शिशु को चंगेज में रख कर बुआ इसे अपने सिर पर उठा लेती हैं तथा भाई के दरवाजे पर नृत्य करती है। यह पारंपरिक नृत्य अब प्रचलन से बाहर है।

सैला नृत्य गीत

सैला गौण जनजाति का नृत्य गीत है। गौण जनजाति विन्ध्य तथा सतपुडा के वन्य भाग में निवास करने वाली जनजाति है। चूँकि सैला नृत्य गीत का प्रचार जिस जनजाति में है उनका निवास स्थान शैल पर है। इस कारण इस नृत्य गीत को सैला अभिधान प्राप्त है। सैला नृत्य गौण जनजाति के पुरुषों द्वारा

किया जाने वाला वीर रस प्रधान नृत्य है। नृत्य के दौरान नर्तक अपने हाथ में लकड़ी से बने शस्त्र, तलवार, बन्दूक आदि ले कर नृत्य की विभिन्न भंगिमाओं को प्रस्तुत करते हैं। अस्त्र के साथ दूसरे हाथ में मयूर पंख धारण करते हैं जो की नृत्य में शोभायमान होता है। मांदल तथा टिमकी इस नृत्य के वाद्य हैं। सैला नृत्य का वर्तमान समय में अपेक्षाकृत प्रचार कम हो रहा है।

रीना नृत्य गीत

रीना नृत्य गीत महिलाओं का नृत्य गीत है। इन गीतों में वाद्यों का प्रयोग नहीं होता है। हाथ से ताली दे कर महिलाओं द्वारा इसे गाया जाता है। इन गीतों के गायन का समय शीत ऋतु है। इन गीतों का भी प्रचलन अपेक्षाकृत कम है।

गारी गीत

गारी गीत का प्रचलन जनजातियों के अलावा अन्य संस्कृतियों में भी देखने को मिलता है। गारी गीत को विवाह के बाद विदाई के समय दुल्हे को कलेवा कराते समय स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। गारी गीत की विषय-वस्तु हास-परिहास की होती है। इन गीतों का स्वरूप कालान्तर में बिगड़ गया। बिगड़े स्वरूप की स्वीकार्यता समाज में कम हुई। धीरे-धीरे इन गारी गीतों का प्रचलन अपेक्षाकृत कम हो गया। कोल जनजाति में स्त्रियों द्वारा गायी जाने वाली गारी गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

''छूछे कलेबना काहे खाय, मोरे दूलरु,
दूध दहिया लई लेते।
अपनी दीदी अहीर घर भेजा,
दूध.दहियां लई आवें।
अपनी फुफुइया कछिया घर भेजा,
लई आवे लेल्हरा का भाजी।''

उक्त पंक्तियाँ हास परिहास की हैं। वधु की सखियाँ भोजन करते हुए वर को संबोधित करते हुए कहती हैं। हे मेरे दुलारे दुल्हे राजा! रुखा-सूखा भोजन क्यों कर रहे हैं। अपने भोजन में दूध-दही को भी शामिल कीजिये तथा साग को भी शामिल कीजिये। दूध को लेने के लिए अपनी बहन को अहीर के घर भेजिए तथा साग लेने के लिए अपनी बुआ को काची के घर भेजिए वो लाल भाजी ले आएँगी।

बिरहा गीत

बिरहा गीत विवाह के अवसर पर आयोजित किया जाता है। बिरहा नृत्य गीत का प्रचलन मध्य प्रदेश की जनजातियों में प्रचलित रहा है। बिरहा नृत्य में वर तथा कन्या दोनों ही पक्ष सामूहिक रूप से भाग ले कर झूमते हैं। बिरहा नृत्य में प्रमुख वाद्य का स्थान नगाड़ा को प्राप्त है। इस नृत्य में गीत की एक पंक्ति को गाया जाता है फिर नगाड़े के साथ नृत्य आरम्भ होता है। बिरहा नृत्य में स्त्री तथा पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं। इस नृत्य में केवल स्त्री पुरुष ही नहीं अपितु बच्चे भी अत्यंत उल्लास पूर्वक सहभाग करते हैं।

इस प्रकार और भी अनेक जनजातीय शैलियाँ हैं जो या तो लुप्त होने की स्थिति में हैं या इस ओर तेजी से अग्रसर हैं। शासन तथा समाज की जिम्मेदारी है की हमारे जनजातीय बंधुओं की इस अत्यंत प्राचीन परम्पराओं को लुप्त होने से बचाया जाय। जनजातियों की परम्परा के लुप्त होने से बचाने का दायित्व हमारा ही है क्योंकि ये जनजातियाँ अत्यंत भोले स्वभाव की होती हैं। इन्हें अपने ह्रास का अनुमान नहीं होता है। इसलिए हम सब की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है।

निष्कर्ष

वर्तमान समय में अपनी लोक परम्पराओं को सहेजने की महती आवश्यकता है। नवीन पीढ़ी आधुनिकता के प्रवाह में अपनी पारम्परिक लोक विधाओं को भूलती जा रही है। सभ्य समाज ही नहीं जनजातीय समुदाय भी आधुनिकता की इस चमक से आकर्षित तथा आधुनिकता के तीव्र प्रवाह में प्रवाहित होने को आतुर अपनी नवीन पीढ़ी में जनजातीय समुदाय के लोग भी अपनी मूल परम्परा को पूरी तरह से सौपने में विफल हो रहे हैं। जबकि जनजातीय समुदाय को अपनी मूल परम्परा के निर्वहन में विशेष उत्साह के प्रदर्शन के लिए जाना जाता है।

विशाल जनजातीय जनसंख्या की धारिता वाला देश भारत आधुनिकता को अपने प्रत्येक नागरिक

तक पहुंचाने को कटिबद्ध है। इस सराहनीय प्रयास में सजगता की भी आवश्यकता है। कहीं ऐसा न हो कि आधुनिकता के ओर बढ़ने की गति को बढाने में हम अपनी मूल परम्पराओं को खो दें। किसी भी समुदाय की लोक की परम्पराएं उनकी जड़ की तरह होती हैं। जड़ से अलग हो कर किसी भी वृक्ष के दीर्घायु की संकल्पना नहीं की जा सकती है। अतः शाखाओं के अनन्त विस्तार के साथ अपने मूल से जुड़े रहना परम आवश्यक।

संदर्भ

श्रीवास्तव डॉ ए. आर. एन., जनजातीय भारत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 2007 पृष्ठ 1

श्रीवास्तव डॉ ए. आर. एन., जनजातीय भारत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 2007 पृष्ठ 3

केशरवानी प्रो. अश्विनी, अनुष्ठानिक नृत्य गीत करमा, चौमासा पत्रिका, अंक 69 फरवरी 2006, पृष्ठ 56

द्विवेदी डॉ आद्याप्रसाद, थारु जनजाति और उनकी संस्कृति, चौमासा पत्रिका अंक 103 मार्च.जून 2017, पृष्ठ 36

शांडिल्य डॉ महेश चन्द्र, कोल, मध्यप्रदेश लोक कला परिषद्, भोपाल, 1999

सदानी झूमर : एक विवेचनात्मक अध्ययन (हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के आधार पर)

डॉ. सुनील कुमार तिवारी, मोऊ सन्तारा

सारांश

प्राकृतिक संगीत ही लोक संगीत की परिभाषा है। भारत के विभिन्न क्षेत्र एवं प्रांतों में तरह-तरह के लोक संगीत सुनने को मिलते हैं। मेरा संबंध झारखण्ड राज्य से है जो कि मेरी मातृभूमि है। यह एक संस्कृति प्रधान नवोदित राज्य है। यहां का चलना ही नृत्य तथा बोलना ही संगीत है। इसे ''नागभूमि'' के नाम से भी जाना जाता है। इसी नागभूमि के नाग जाति के लोग नागपुरिया कहलाते हैं, जिन्हें ''सदान'' के नाम से भी संबोधित किया जाता है।

सदानों या नागपुरी समाज के ''झूमर'' लोकसंगीत के शास्त्रीय पक्ष पर मैं हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के आधार पर प्रकाश डालना चाहती हूं जिससे हम आगामी दिनों के लिए या अगली पीढ़ी के लिए नागपुरी लोकसंगीत के इस खास प्रकार को सटीक तरीके से गा एवं सहेज सकें। लोकसंगीत 'झूमर' झारखण्ड के सदानों का सर्वाधिक लोकप्रिय आकर्षक, उत्तेजक, सुंदर, मधुर एवं वीर रस से परिपूर्ण, ओजगुण से भरपूर लोकसंगीत है।

वर्षा काल में करमा तथा इंद्र के त्यौहार के समय से लेकर फगुआ या फाल्गुन मास के पूर्व तक झूमर संगीत गाया-बजाया एवं नृत्य किया जाता है। इसके पांच प्रकार माने गये हैं:-

1) जनी झूमर या अंगनइ
2) बंगला झूमर
3) गोलवारी झूमर
4) जशपुरिया झूमर
5) मरदानी झूमर

अखरा में झूमर नृत्य एवं गीत अकेले नहीं होता है। इसे जुड़कर कतार बनाकर हाथ से हाथ जोड़कर या कंधे या कमर या बांह पकड़ कर जुड़े हुए रुप में झूम-झूम कर नृत्य करते गाते हैं। इसलिए इसे झूमर कहते हैं। महिलाएं दायें से बायें वृत्ताकार घूमती हुई नृत्य करती है। नृत्य करने वाले पुरुष झूमराहा तथा महिलाएं झूमराहिन कहलाती हैं।

विशिष्ट शब्द

सदान, झूमर, करमा, इंद, गोलवारी, जनी, अखरा, मरदानी

भूमिका

झारखण्ड में सदान एवं आदिवासी (जनजाति) समुदाय की प्रधानता है। दोनों ही समुदाय के अंतर्गत नौ भाषाएं आती हैं जो निम्नलिखित हैं-

1) नागपुरी
2) पंचपरगनिया

शोध निदेशक - विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत विभाग, ति.मां.भा.वि.वि., भागलपुर बिहार
नेट, जेआरएफ उत्तीर्ण, शोधार्थी, ति.मां.भा.वि.वि., भागलपुर, बिहार, मो.नं.- 9113396371, 9534030563,
Email: santaramou@gmail.com

3) खोरठा
4) कुरमाली
5) मुण्डारी
6) संताल
7) हो
8) खड़िया
9) कुड़ुख

हम नागजाति या नागवंश के नागपुरी सदानों के लोकसंगीत 'झूमर' के विषय में चर्चा करेंगे।

नागपुरी लोकसंगीत झूमर कविता रुप में तो कई पुस्तकों में विद्यमान है परंतु किस प्रकार से इन कविताओं को गाया जाता है ये किसी पुस्तक में वर्णित नहीं है। कहावत है- झूमर वीर रस से परिपूर्ण गीत है तो इस गीत में कैसे-कैसे स्वरों का प्रयोग होता है, कौन से वाद्य यंत्र बजते हैं एवं क्या ताल बजते हैं एवं झूमर के स्वर एवं ताल तथा राग हमारे हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के किस स्वर, ताल एवं रागों से मिलती है इस विषय पर प्रकाश डालेंगे एवं विवेचना करेंगे।

झूमर 'अखरा' यानी बड़े से सजे हुए मैदान में गाये-बजायें तथा नाचे जाते हैं। झारखण्डी समाज में नृत्य को 'खेलना' कहा जाता है। 'अखरा खेलेक' अर्थात् अखरा में नाचना।

आदिवासियों में श्रम की थकान मिटाने के लिए नाचने, बजाने व गाने का आविष्कार हुआ। संगीत कुछ और नहीं इसी गायन, वादन और नृत्य की त्रिवेणी है। ये जीवन में ऊर्जा, शक्ति, बल भरती है और अक्षय आनंद का स्त्रोत भी है।

'सेन गे सुसुन, काजि गे दुरंग, दूरी गे दुमंग'। ये कहावत है सदान में अर्थात् यहां के लोगों का चलना ही नृत्य, बोलना ही संगीत है तथा वक्ष व नितम्ब ही मांदर है। नृत्य गीत का सबसे बड़ा सहयोगी है वाद्य उपकरण। मांदर झारखण्ड का सर्वाधिक लोकप्रिय मधुर वाद्य है।

सदानों के अखरा में 'धितांग धितांग तांग धितांग धूर' जैसे बोल दूर-दूर तक गूंजते रहते हैं जो लोगों को झूमने पर मजबूर कर देते हैं। इसलिए कहा जाता है

'मांदर किनलो दादा, जनी किनल नियर लागेला।
मांदर फूटलो दादा, जनी मोरल तरी लागेला।''

मांदर की तुलना आदिवासी ''पत्नी'' से करते हैं। जब मांदर खरीद कर लाया जाता है तो पत्नी या हमसफर मिल गया। इसी मांदर के फूटने से ऐसा प्रतीत होता है मानो पत्नी वियोग हो गया।

गाते-बजाते समय गायक वादक पारम्परिक वेश-भूषा पहनते हैं, पांवों में घुंघरु, घुटने तक श्वेत धोती, कुर्ता या गंजी, कमर में रंगीत गमछा बंधा हुआ, गले में फूलों की माला, कलगी लगी पगड़ी बिल्कुल श्रीकृष्ण जैसी प्रतीत होती है। महिलाएं लाल पाड़, पीले या सफेद रंग की साड़ियां पहनती हैं, साड़ी कुछ ऊंचा घुटने से नीचे पहनती हैं, पावों में घुंघरु या पायल, गले में माला, हाथों में रुमाल लतराते हुए नाचती हैं।

शोध प्रविधि

नागपुरी झूमर लोकसंगीत की चर्चा कुछ विद्वानों ने की है, किन्तु गहराई तक पहुंचने की किसी ने चेष्टा नहीं की। अधिकतर लोगों ने इसके साहित्यिक एवं शास्त्रीय पक्ष पर ही प्रकाश डाला है। इसके प्रायोगिक पक्ष अर्थात् गायकी जैसे स्वर, ताल, लय, राग पर न के बराबर कार्य हुए हैं।

सामग्री संकलन के लिए प्राथमिक तथ्य संग्रह पद्धति अपनायी-

1) निरीक्षण पद्धति
2) साक्षात्कार
3) प्रश्नावली
4) अनुसूची
5) पूर्ण साक्षात्कार
6) विषय वस्तु की जांच

इसके अलावा संदर्भ ग्रंथों का अध्ययन किया, शोध निदेशक तथा विषय के विशेषज्ञों से विचार-विमर्श तथा सदानी झूमर के अखरा में शामिल होकर प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया।

अध्ययन क्षेत्र

झारखण्ड में कुल नौ भाषाएं हैं जिनमें से नागपुरी भाषा एक है। नागपुरी भाषा पर आधारित अनेक लोकसंगीत प्रचलित हैं, जैसे- डमकच, ठढ़िया, झूमर, पइका, जदुरा, पावस, लुझरी इत्यादि।

इनमें से वीर रस से परिपूर्ण, ओज-गुण से

भरपूर लोकसंगीत झूमर को मैंने चुना, क्योंकि यह आदिवासियों एवं सदानों को अतिप्रिय है। नागपुरी एक सहज, सरल तथा मधुर भाषा है। इसे गीतों की रानी कहते हैं।

ऋतु मुख्यतः तीन है- जाड़ा, गर्मी तथा वर्षा। इसके बीच तीन उपऋतुएं भी आती हैं- वसंत, शिशिर तथा हेमंत। नागपुरी गीत इन्ही ऋतुओं के अनुसार अपने राग, लय तथा ताल प्रकृति के अनुकूल बदलते जाते हैं। ऋतु के अनुसार नहीं गाने-बजाने से चर्म रोग से पीड़ित होना पड़ता है ऐसा कहावत है।

तथ्य विवरण एवं परिणाम

लोकसंगीत गाने एवं सीखने की परम्परा वंशानुक्रम में चलती आ रही है। इसलिए इसमें काफी बदलाव या विकृति आती जा रही है जो अति स्वाभाविक है। इसलिए आवश्यक है शास्त्रीय संगीत की मदद से हम लोकसंगीत के स्वरों तथा तालों को समझ कर सीखें एवं गायें। स्वरों तथा तालों को समझकर गाने से गलती की गुंजाईश न के बराबर होगी। अब तो नागपुरी पारम्परिक गीतों का स्थान आधुनिक डिस्को, रैप, पॉप, जैस जैसे गीत लोकप्रिय हो रहे हैं। परम्परागत ठेठ गीतों को आज न सहेजा जाये तो हमेंशा के लिए विलुप्त हो जायेगा। नागपुरी झूमर के पांच प्रकार हैः

क) जनी झूमर - इसे जनानी झूमर या अंगनइ कहते हैं। जनानी या स्त्री या महिला अंगना का अर्थ भी महिला है। अंगनइ इसलिए भी कहते हैं क्योंकि यह अंगना या आंगन शब्द से बना है। इसमें महिलाएं एक-दूसरे के हाथों को पकड़कर सामने झुककर या कमर पकड़ कर नृत्य करती है तथा गाती है।

गाने तथा बजाने वाले मध्य में होते हैं तथा नाचने वाले दायें से बायें घूमती हैं। नाचने वाली महिलाओं में अगुवा या प्रथम महिला के हाथ में घुंघरु या खंजरी होता है। यही महिला संगीत का नेतृत्व भी करती है। ताल तथा राग बदलने पर इनके पैरों की चाल भी बदल जाती है। वादक हमेशा पुरुष वर्ग के ही होते हैं। मुख्य वाद्य यंत्रों में मांदर, ढोल, ढाक, बांसुरी इत्यादि है।

अंगनई के प्रहर के अनुसार तीन भेद है-

i) पहिल सांझा (रात्रि के प्रथम प्रहर में गाए-बजाए जाने वाले गीत) - यह धीमी फिर मध्य लय का संगीत होता है।
ii) अधरतिया (आधी या मध्य रात्रि के गीत या तीव्र गति का संगीत है)
iii) भिनसरिया (रात्रि के अंतिम प्रहर या भोर का संगीत)

यह रस से सराबोर कर देने वाला वादन का समापन होता है।

यह अंगनइ करमा तथा जितिया पर्व के समय के आनंद, उमंग तथा उत्साह का गीत है।

करमा त्यौहार के उपलक्ष्य पर गाए जाने वाले एक छोटे से अंगनइ झूमर का उदाहरण-

रिमिझिमी रिमिझिमी रिमिझिमी रिमिझिमी
ओ बुंदाह बरिसलय पानियां
बरिसलयरजा पानिया रिमिझिमी।
घर से बाहर भेली
खिड़की में ठाड़ भेली लागी गेलय
ओरे आंगना कांदो पानियां लागी गेलय।

करमा जो वर्षा ऋतु का त्यौहार है इसलिए इस पर्व पर गाए जाने वाले गीतों में भी इसका वर्णन मिलता है। ऊपर लिखित गीत के शब्द बिल्कुल स्पष्ट हैं, रिमझिम पानी की बूंदे बरस रही है आंगन रास्ते कीचड़ एवं कादो से मन भर गए है घर पे रहकर खिड़की से ही बाहर का नजारा देखना अब एकमात्र उपाय है।

इस गीत के स्वरों को यदि ध्यान दिया जाए तो इसके स्वर राग दुर्गा के समान है अर्थात् सा रे म प ध सा
सां ध प म रे सा

अधिकतर लोकगीत के धुन ''औडव'' जाति यानी पांच स्वरों वाली ही होती है।

इस गीत के साथ मांदर के थाप बजेंगे इस प्रकार -

1	2	3	4	5	6
इदा	थिदांग	इदा	थिदांग	इदा	थिदांग

यह ताल कुछ ''दादरा'' जैसा ही है।

2) बंगला झूमर - यह दो अर्थ में बंगला झूमर कहलाता है। यह झूमर बंगला राजा, जमींदार, महतो एवं धनी लोगों के (बंगला घर) के बड़े आंगन में

होता है, तथा दूसरा कारण है इस गीत के बोल या शब्द बंगला भाषा के होते हैं।

यह पुरुष प्रधान गीत है। इसमें महिलाएं सम्मिलित नहीं होती है। कलाकार आकर्षक पोशाक एवं आभूषण धारण करते हैं।

इसमें नगाड़े, ढांक, ढोल, शहनाई, मांदर आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है।

3) **गोलवारी झूमर-** इसके भी दो अर्थ है। पहला ''गोला'' प्रखण्ड का झूमर होने के कारण इसे गोलवारी झूमर कहते हैं तथा दूसरा कारण है इसे गोलाकार घूमते हुए गाते-नाचते हैं।

4) **जशपुरिया झूमर-** यह छत्तीसगढ़ के जशपुर इलाके का झूमर है। झूमर की सारी विशेषताएं है इसमें केवल जशपुर की एक खास छाप दिखती है।

5) **मरदानी झूमर -** यह वीरतापूर्वक पुरुषोचित संगीत है। वीर तथा श्रृंगार रस के गीत होते है। नर्तक एक साथ उछलते, लचकते, थिरकते, मटकते हैं।

कलाकारों की भाव-भंगिमा, मुस्कुराहट तथा मुद्राएं देखने लायक होती है। पांवों में धुंधरु, घुटने तक सफेद या पीली धोती, कुर्ता या गंजी, फूलों की माला, पंखों की कलगी लगी पगड़ी जैसे साक्षात् श्रीकृष्ण रास लीला करते हुए नजर आते हैं।

महिलाओं के लिए यह बिल्कुल वर्जित है क्योंकि यह कठिन, भारी और थका देने वाला संगीत है।

ऐसी मान्यता है कि इस खास प्रकार के झूमर का उद्‌भव शिकार विजय कर लौटने के प्रतीत संगीत के रुप में विकसित हुआ होगा, क्योंकि ये उच्च स्वर में गाते बजाते एवं तीव्र गति से उछलते, दौड़ते, घूमते हुए उत्तेजक संगीत करते हैं।

इसके भी कई उपभेद हैं-

1. ठड़िया 2 लुझरी 3 पहिल सांझ 4. अधरतिया 5. भिनसरिया 6. उदासी 7. पावस 8. डंइड़धरा

सदानी झूमर के साथ मुख्यतः चार प्रकार के वाद्य यंत्र बजते हैं-

तंत्री वाद्य -जिनमें तार या रेशम के डोर बंधे होते हैं। जैसे- एकतारा, कंदरा।

सुषिर वाद्य - जो हवा से या फूंक कर बजते हैं, जैसे- बांसुरी, भेइर, नरसिंघा।

अनवर्ध वाद्य - पीट कर या रगड़ कर बजने वाले जो चमड़े से मढ़े होते हैं। जैसे मांडर, नगाड़ा।

धन वाद्य - टकरा कर बजने वाले वाद्य जैसे- झांझ, ठचका, घंटी इत्यादि।

निष्कर्ष

नागपुरी जिस क्षेत्र में बोली जाती है वहां की भूमि रत्नगर्भा है। यह क्षेत्र झारखण्ड, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, छत्तीसगढ़ के कुछ भूभागों को मिलाकर बनता है।

यहां की प्रकृति एवं संस्कृति अनुपम है। नागपुरी मेरी मातृभाषा है। बचपन से ही इस भाषा के लोकसाहित्य एवं संगीत से मैं प्रभावित होती रही हूं, नागपुरी लोकसंगीत अत्यंत ही समृद्ध है।

शहरीकरण की प्रवृत्ति से आज नागपुरी लोकसंगीत एवं साहित्य को सबसे बड़ा खतरा पैदा हो गया है। इसलिए यह जरूरी है कि इसके संरक्षण के लिए ठोस कदम उठाए जाए। जिसका एकमात्र उपाय इसे लिखित रुप में सहेजना है। अवश्य ही न सिर्फ कविता रुप में बल्कि स्वरलिपि एवं तालिपि बद्ध कर इन्हें किताबी रुप देना चाहिए, एवं सरलता से इन्हें गाने-सीखने के लिए किताबों के साथ रिकॉर्ड किए हुए सभी गानों को जो किताब में लिखे हुए होंगे उन्हें सी0डी0 के रुप में भी उपलब्ध करवाना होगा, ताकि इच्छुक कलाकार एवं युवा वर्ग आसानी से एवं सटीक तरीके से इन गीतों को सीख सकें।

मेरे इस छोटे से लेख का एकमात्र उद्देश्य है लोगों को लोकसंगीत के इस खास प्रकार के विषय में ठोस एवं सटीक जानकारी देना तथा इस प्रकार के लोकगीतों के प्रति रुचि जागृत करना, ताकि झारखण्ड का लोकगीत न केवल यहां के आदिवासी तथा सदानों में ही बल्कि दूसरे समुदाय एवं राज्य ही नहीं पूरे देश-विदेश में जाने जाए, गाए-बजाए जाए।

लोकसंगीत के बारे में कहा जाता है कि यह कभी पुराना या बासी नहीं होता। ये तो सदाबहार होते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. अभिनव राग मंजरी भातखण्डे पं. विष्णु नारायण
2. झारखण्ड के लोकनृत्य गांझू डॉ. गिरिधारी राम
3. नागपुरी सदानी साहित्य नवरंगी पीटर शांति
4. संगीत मकरंद नारद।

उत्तर प्रदेश में भक्ति और लोक संस्कृति की संवाहक : कथक नृत्य शैली

डॉ. सुनीता द्विवेदी

सार-संक्षेप

भारत की शास्त्रीय नृत्य शैलियों में भरतनाट्यम्, कथकली, मोहिनी अटट्म्, कुचिपुड़ि, ओडिसी, मणिपुरी के साथ-साथ उत्तर प्रदेश की प्रसिद्ध नृत्य कला कथक का नाम भी आता है। कथक को छोड़कर सभी नृत्य शैलियों में मुद्राओं की प्रधानता होती है। जबकि कथक लोक से जुड़ी हुई, भाव-सम्प्रेषण की प्रबल क्षमता वाली नृत्य कला है। जैसा कि इसके नाम से भी स्पष्ट है। कथक का शाब्दिक अर्थ होता है- कथा कहने वाला। लोकोक्तियों, छन्द मुहावरों को लेकर भाव अभिनय के साथ कला को आगे बढ़ाने वाली नृत्य शैली को कालान्तर में कथक शब्द से कहा जाने लगा जिसमें मध्य युग, उत्तर मध्य युग के वैष्णव भक्तों का भक्ति के आनन्द में नृत्य करने और देखने की चाह ने भी कथक जैसी नृत्य शैली को आश्रय दिया, जिसमें धीरे-धीरे वह समय आया कि अयोध्या क्षेत्र को कथिकों का गढ़ कहा जाने लगा और अयोध्या के प्रसिद्ध नर्तक पं. रामदत्त जी को इस नृत्य शैली का नामकरण करने का भी श्रेय प्राप्त हुआ।

मुख्य शब्द- *संवाहक, संगीतानुरागी, तत्सुखसुखित्वम्, भाव-सम्प्रेषण, नैमित्तिक साधना, लोक-परम्परा।*

परिचयः- अयोध्या क्षेत्र में श्रावण मास के प्रवास के दौरान वहाँ आने वाले नर्तकों को देखा गया कि झूले पर बैठे हुये सिया-राम की छवि को देखते हुये कलाकार गाते हैं और अभिनय भी करते हैंः- ''लागी रही मोरी तुमसे नजरिया हो रामा।'' इस पंक्ति का भाव दिखलाने वाला नर्तक कलाकार मात्र ''लागी रही'' इस पद को कई-कई ढंग से काकु भेद द्वारा और मुद्राओं से भाव बताता है। साथ ही

''लागी लागी सब करैं लागी बुरी बलाय।
तबही लागी जानियों जब आप-आप हुई जाय।''

इस प्रकार के विविध दृष्टान्तों द्वारा उसका विस्तारण भी करता जाता है। इस दृश्य को बताने का उद्देश्य था कि किस प्रकार कथिक जाति के लोग नृत्य करते समय अपने क्षेत्र की लोक वेशभूषा, लोकभाषा, लोकोक्तियों और छन्द, मुहावरे आदि का प्रयोग करके वहाँ उपस्थित भक्तजनों को भी सहजता से आकृष्ट किये रहते हैं। उक्त घटना ने चिन्तनोपरान्त प्रस्तुत शोध पत्र लिखने की परिस्थितियाँ बना दी। अस्तु।

भारतवर्ष में उत्तर-प्रदेश एक ऐसा राज्य है जहाँ पूरब से पश्चिम तक कुछ-कुछ दूरी में बोली, भाषा, पहनावा, रीति-रिवाज, खान-पान सब कुछ बदल जाता है। यह पूरा राज्य सनातन धर्म के नाम पर विष्णु के दो अवतारों राम और कृष्ण को मानने वाला है। पूरब का क्षेत्र विशेषतया विष्णु के राम अवतार को मानने वाला है तो पश्चिम का क्षेत्र कृष्ण की लीलाओं में मुग्ध रहता है। कृष्ण भक्ति परम्परा में गीत-संगीत का प्रयोग नृत्य (रास-नृत्य) का होना बहुत ही खुले रूप में स्वीकार्य है। बल्कि

एसो. प्रोफेसर, जुहारी देवी गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, कानपुर, 205, नवशील अर्पाटमेंट चर्च रोड़, ग्वालटोली, कानपुर-208001 (उ.प्र.), मो.नं. 9452032805, Email: suneeta.dwivedi166@gmail.com

प्रभु कृष्ण को बंशीबजैया, मुरलीधर, नटवर, रास-रचैया जैसे नामों से सम्बोधित किया जाता है। दूसरी तरफ भगवान राम जो मर्यादा पुरूषोत्तम हैं जिनका चरित्र अनुकरणीय है। समाज की समस्त विधायक भावनाओं का उज्ज्वल प्रमाण हैं राम। परन्तु अयोध्या और उसके आस-पास क्षेत्र के अन्तर्गत भक्तों का एक वर्ग विशेष ऐसा भी है जो कि रसिक सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। रामभक्ति धारा में यह एक अन्तरंग साधना कहलाती है जिसमें सखी भाव से राम की उपासना की जाती है। अयोध्या में स्वयं जाकर किये गये सर्वेक्षण में यह पता चला था कि यह साधना 'तत्सुखसुखित्वम्' की भावना से की जाती रही है। अतः भगवान राम और भगवान कृष्ण जैसे दिव्य पात्रों की पौराणिक कहानी पर आधारित नृत्य और नाटक पारम्परिक सार को दर्शाते हैं। उत्तर प्रदेश के प्रमुख लोक नृत्यों में- रास लीला, रामलीला, खयाल, नौटंकी, नक़ल, स्वाँग, दादरा और चरकुला आदि शामिल हैं। इनमें 2 मुख्य लीलायें हैं। कृष्ण से जुड़े नाट्य रूपों को रामलीला में प्रस्तुत किया जाता था। तात्पर्य है कि उत्तर-प्रदेश में विशेषतया लोक-संस्कृति और भक्ति को लेकर विस्तार पाने वाली परम्परागत शास्त्रीय नृत्यों की श्रेणी में सबसे प्राचीन मानी जाने वाली कथक नृत्य शैली आती है। ताण्डव और लास्य के उपरान्त कुशीलव तथा चारण संज्ञा वाले नटों द्वारा स्वतन्त्र शैली के रूप में विकसित भारतीय नृत्य कला का यह प्रथम नृत्य है जिसने प्रत्येक युग की सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप रंगारंग स्वरूप धारण कर विकास प्राप्त किया है। यह नृत्य कला भारतीय इतिहास के समस्त उत्थान-पतन का प्रत्यक्षी है। इसलिये इसमें वैविध्य है, उन्मुक्तता है, साथ ही नित-नवता भी है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की इसमें असीम सम्भावनायें हैं।

भावुक भक्तों द्वारा सदा से ही रसवृद्धि के उत्तम साधन संगीत को अपनी साधना में प्रमुख सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। भाव अथवा रस-साधना का यह स्वभाव है कि रस प्रदायक प्रत्येक साधन स्वतः मिलकर इसके साथ चलने लगता है। भक्ति के साथ जुड़ने वाली रस प्रदायिनी कलाओं की गणना में प्रथम नाम संगीत का है। संगीत रत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने संगीत की परिभाषा निम्नवत् की है- ''गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते''(1)

इस त्रयी में नृत्य वह विधा है जो अपने साथ गीत और वाद्य को भी बड़े आकर्षक रूप में संयुक्त किये रहती है यानी नृत्य को भाव-पक्ष के लिये गीत और नृत्त पक्ष के लिये लय-ताल आधार स्तम्भ के रूप में सहयोग प्रदान करते है। यह बात ही भारतीय नृत्य को स्वतन्त्र रूप से विशेष बनाती है। उत्तर-भारत में विशेषकर उत्तर प्रदेश में प्रचलित नृत्य कथक है, जिसे भावाश्रित एवं लयाश्रित दोनों गुणों से सम्पन्न कहा जा सकता है। इस प्रकार भारतीय नृत्य कला का वास्तविक अर्थ हुआ- ''लयबद्ध अंगों के संचालन द्वारा भावों का प्रदर्शन करना।''(2) हमारी संस्कृति में नृत्य को धार्मिक एवं आध्यात्मिक महत्ता भी प्रदान की गयी है। भारत में उत्तर से दक्षिण तक के सभी नृत्य विशेष चाहे वो भरतनाट्यम् हो, मोहिनी अटट्म् हो, ओडिसी हो, कुचिपुड़ि हो या उत्तर का कथक नृत्य हो सभी को ईश्वर उपासना का साधन माना जाता था। प्रस्तुत लेख में यही विषय लिया गया है कि किस प्रकार उत्तर प्रदेश में भक्ति और संस्कृति की संवाहक बनी है ''कथक नृत्य कला।'' कृष्ण भक्ति की धारा में समस्त उत्तर-भारत में, विविध लीलाओं के मंचन में, स्वतंत्र नृत्य प्रस्तुतियों में राज्य विशेष की अपनी-अपनी परम्परागत नृत्य धाराओं, कृष्ण की लीला अभिनय का या उनके द्वारा किये नृत्यों का विशेषतया रास लीलाओं का भाँति-भाँति मंचन सुप्रसिद्धि है। पूरबी राज्यों में चाहे मणिपुरी नृत्य हो या ओडिसी हो और चाहे पश्चिमी ब्रज क्षेत्रों में ब्रज के रसिया जैसे नाट्यरूपों में ही क्यूँ ना हो सभी में ये साम्य (कृष्णभक्ति का) दिखाई देता है। इस क्षेत्र में कृष्ण से जुड़ी सभी कथाओं का पुनर्मन्चन नाट्य और नृत्य में संस्कृतियों और परम्पराओं को आगे बढ़ता हुआ, सुनाम पाता हुआ, अपना एक सम्मानित स्थान बनाया हुआ है। परन्तु जैसा कि पूर्व में चर्चा की जा जुकी है कि भगवान राम मर्यादा पुरूषोत्तम हैं वे बहुत ही धीर-गम्भीर अनुकरणीय चरित्र वाले हैं उनकी सभी कार्य विधियाँ जगत को एक अनुपम संदेश देती हैं। दया, प्रेम, करूणा, ममता, त्याग, सहनशीलता जैसी

विधायक भावनाओं का भण्डार हैं- प्रभु श्रीराम, परन्तु एक उल्लेखनीय विषय है कि अयोध्या क्षेत्र व आस-पास के पूरे मण्डल में राम के प्रति भक्ति-भाव के कुछ नवीन रूप देखने को मिलते हैं। श्रीराम से जुड़े सभी वर्ष भर के उत्सवों में गीत-संगीत की प्रस्तुतियाँ तो होती ही है किन्तु रामभक्ति की नैमित्तिक साधना झूला उत्सव पर प्रभु श्रीराम का माता सीता के साथ झूला झूलने वाली की गयी कल्पना को गीतों के साथ-साथ नृत्य द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है। अयोध्या, फैजाबाद, सुल्तानपुर, जौनपुर आदि क्षेत्रों में कथिक नाम से स्वयं को सम्बोधित करने वाली जाति विशेष है जो कई पीढ़ियों से अयोध्या में आकर नृत्य करने की अपनी पुरानी परम्परा को बखूबी बताते हैं।

नृत्य जो हर्ष व उल्लास के क्षण में स्वयं व्यक्त होता है। इस समय चित्त की दीप्तावस्था रहती है। अतः शरीर की स्थिति सम ना रहकर तीव्र स्पन्दनमय हो जाती है। दुःख या सामान्य अवस्था में नृत्य नहीं होता क्योंकि उस समय शरीर में स्फूर्ति ना रहकर शिथिलता रहती है। अतः नृत्य में मुख्य रूप से आनन्द के, सुख के क्षणों से सम्बन्धित किसी घटना के एक खण्ड का यानी पदार्थ का अभिनय किया जाता है। नृत्य अभिनय के द्वारा पदार्थ को व्यक्त करने का समर्थ माध्यम है। इसीलिए भारत की अन्य शास्त्रीय नृत्य शैलियों की तुलना करके यदि देखें तो कथक नृत्य में अंग विक्षेप की जगह भाव कुछ अधिक प्रधान रहता है। भक्ति में भी भाव का ही विशेष महत्त्व है। भक्ति सम्प्रदायों में होने वाले नृत्यों में देखा गया है कि अंग-संचालन की अपेक्षा भाव प्राधान्य रहता है। अयोध्या के मन्दिरों में होने वाला नृत्य भी पद-भाव प्रधान होता है। पदों में अभिनय की प्रधानता को लेकर यहाँ संगीतानुरागियों द्वारा बताया जाता है कि 50-60 के दशक में कथिक जाति के लोग कुछ प्रमुख अवसरों पर तत्सम्बन्धी पद गाते थे और साथ में बैठे-बैठे भाव मुद्रायें भी दिखाते थे।[3] नृत्य के लिये आने वाले कथिक अपने साथ अपनी संस्कृति भी लाते थे जैसे- बोली, भाषा, वेश-भूषा, परम्परायें, हाव-भाव, व्यवहार आदि।

अयोध्या क्षेत्र को कथिकों का गढ़ कहा जाता था। ऐसा परमादरणीय श्रद्धेय डॉ. प्रेमलता शर्मा जी (बहिन जी) द्वारा व्यक्तिगत चर्चा में बताया गया था। इस बात को प्रमाण रूप में लेखिका ने स्वयं झूला उत्सव पर अयोध्या जाकर देखा भी है। भगवान श्रीराम के जन्मोत्सव पर एवं झूला उत्सव पर अयोध्या में आने वाले कथिकों को एवं मन्दिर में उनके नृत्य करने के उत्साव को देखने के बाद यह बात शत्-प्रतिशत मान्य होती है कि कभी यह स्थान अवश्य कथिकों का गढ़ रहा होगा। अयोध्या में स्थायी रूप से रहने वाले कथिक जाति के लोग भी हैं जो धीरे-धीरे मात्र गाने तक सिमट कर रह गये। बाहर से आने वाले कथिक निश्चित रूप से नृत्य अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

अयोध्या में बताया गया था कि सुल्तानपुर के राघव पण्डित का पुरवा, कथकन का पुरवा, लम्भुआ आदि गाँव कथिक परिवारों से भरे पड़े हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख बहुत प्रासंगिक है कि पं. बिरजू महाराज के पिता गुरू अच्छन महाराज का ननिहाल लभ्भुआ था और उनके मामा पं. रामदत्त जी अयोध्या के पारम्परिक नर्तक थे। रामदत्त जी के पारिवारिक श्री बचई महाराज भी कथिक थे। इनके पुत्र पं. ओंकार जी अयोध्या के बहुत प्रसिद्ध कथिकों में से एक थे। पं. ओंकार कथिक गुरू बिरजू महाराज जी के मामा थे।[4] कुछ कथिकों से यह भी जानकारी मिली कि मानस का प्रवचन करते हुये, कभी-कभी थोड़ा सा भाव बताते हुये नृत्य कर लिया करते थे। ऐसे लोगों ने लगभग 1990 से स्वयं को रामायणी कहना शुरू कर दिया था। सम्भवतः इनकी दृष्टि में कथिक के स्थान पर रामायणी शब्द अधिक सम्मानसूचक प्रतीत हो रहा होगा।

उत्तर प्रदेश की इस नृत्य शैली जो आजकल भारत की शास्त्रीय नृत्य शैलियों में गिनी जाती है। जो लोक के विविध भावों को, भक्ति के विविध रंगों को अभिनय एवं लय-ताल के सुन्दर संयोजन से प्रस्तुत करते हैं उसे कथक या कत्थक कहा जाता है। अयोध्या में इस नृत्य शैली और नर्तक दोनों के लिये कथक अथवा कथिक शब्द प्रयुक्त होता है। साथ ही नाचने, गाने और बजाने वाली जाति विशेष को भी कथिक शब्द से कहा जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना चाहती हूँ कि संस्कृत के कथित शब्द में

कही हुई बात को दोहराने का भाव है और कथिकों का भी यही काम है कि कही हुई बात को बार-बार विविधता लाते हुये रस वर्धक बनाकर सामाजिक के लिये प्रस्तुत करे। वैसे शास्त्रकारों की दृष्टि में कथक का शाब्दिक अर्थ है कहने वाला। योग रूढ़ अर्थ है कथा से जीविका चलाने वाला नाट्याचार्य, यानी किसी भाषा का आश्रय लेकर अभिनय करने में कुशल व्यक्ति परम्परा के अनुसार कथक कहलाता है।[5] ऐसा लगता है कि लोक-कथानकों (जैसे- राजाओं के यश सम्बन्धी, भगवत लीलाओं के प्रसंग, प्रेम कथायें या और भी किन्ही प्रसंगों पर आधारित) को कहकर जीविका चलाने वालों को प्रारम्भ में कथाकार कहा गया होगा। समाज में होने वाले नित्य परिवर्तन में यह कथाकार शब्द धीरे-धीरे कथक में परिवर्तित हो गया। इनमें केवल कथा कहने के स्थान पर कथाओं के भावुक प्रसंगों को अभिनय आदि के द्वारा और अधिक संवेदनशील बनाने का, नई-नई विधियों (पद संचालन, हस्तविक्षेप) से लोगों को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया होगा। फलस्वरूप कथाकार द्वारा अपनायी गयी कथा कहने की यह विशेष शैली भी कथक नाम से जानी जाने लगी।

मध्यकाल में वैष्णव भक्ति में गृहीत नृत्य (जो कि प्रेम और भाव की अवस्था में स्वतः उत्पन्न होता है जिसमें लय-ताल आवश्यक होता है किन्तु सामान्य जन के लिये कोई आकर्षण नहीं होता) को अधिक रसमय व जन सामान्य के लिये रंजक बनाने हेतु लोकनृत्यों के अनुकरण पर कुछ परिवर्तन किये गये होंगे। डॉ. पुरू दधीचि ने कथक नृत्य के लिये एक सम्भावना इस प्रकार व्यक्त की है- ''वैष्णव धर्म के सानिध्य में विकसित हुआ नृत्य शुद्ध रूप में कथक था। कला का कथक रूप वैष्णव धर्म के प्रचार का माध्यम था।''[6] डॉ. भगवती प्रसाद सिंह जी ने तो यहाँ तक कहा है कि अयोध्या में सम्पन्न होने वाले माधुर्य उत्सवों की इतनी अधिक प्रसिद्धि में आस-पास के क्षेत्रों से आये कथिक नर्तकों की अभिनय पूर्ण गायिकी का भी विशेष योगदान रहा है।[7] कथक में कृष्ण लीला सम्बन्धी घटनाओं की अधिकता से इस बात की पुष्टि भी हो जाती है। यह कथक नृत्य जब दरबारों में पहुँच गया तो प्रश्न उठा कि इसमें वैविध्य कैसे दिखाया जाये? तब चैती, होरी, कजरी, झूला, ठुमरी, गज़ल, भक्ति पद, कवित्त, सवैये आदि सभी को समय-समय पर नृत्य का आधार बनाया जाने लगा। श्रोता और दर्शकों को भी रस विविधता प्राप्त होती रही। कथक नृत्य में अलग-अलग नायिकाओं की कल्पना एवं एतद्-सम्बन्धी अध्ययन भी सम्भवतः इन्ही राज दरबारों में किया जाने लगा। गीतों में अधिकतर लोकगीत थे और इन्हीं की विशेषताओं के साथ कुछ उन्हीं क्रियाओं के फेर बदल से यह चलता रहा परन्तु 20वीं शताब्दी में धीरे-धीरे नृत्य में शास्त्रीयता लाने के उद्देश्य से ऐसी क्रियाओं को हटाया जाने लगा जो पूरी तरह से अनौपचारिक होकर लोक का पुट देती थीं, और उनके स्थान पर शास्त्र वर्णित मुद्राओं को अपनाया गया। सम्भावना तो यह व्यक्त की जाती है कि इन नृत्य शैली को कथक नाम पं. रामदत्त जी द्वारा दिया गया था।[8] ये वही रामदत्त जी हैं जो बिरजू महाराज के पिता गुरू अच्छन महाराज के मामा थे। 19वीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय शास्त्रीय कहे जाने वाले नृत्यों को विशेष नाम नहीं दिया गया था। आज तक भी इनमें से कुछ को (मणिपुरी, ओडिसी) क्षेत्र विशेष के नाम से ही जाना है। आज कथक एक शास्त्रीय नृत्य शैली है परन्तु इसमें भाव-प्रदर्शन एकदम सहज और स्वाभाविक होता है, जिसमें प्रतीकात्मकता कम और मानव प्रकृति के निकट विकसित होने वाले लोक तत्वों का समावेश अधिक है।

निष्कर्षः

अयोध्या में आने वाले कथिक नर्तकों की यदि माने तो ''कथिक शब्द कथित से बना है- कथित् अर्थात् मथित्'' जो कलाकार बात मथकर प्रस्तुत करे, वह कथिक है। इस कल्पना की व्याख्या आगे इस प्रकार की जा सकती है कवि द्वारा कही गयी बात दही के समान है जिसे स्वर, लय, ताल एवं अभिनय रूपी मथानी से कलाकार मथता है और तत्जनित रस रूपी नेनू से दर्शकों के चित्त को स्निग्ध कर देता है। यद्यपि संस्कृत के कथ् धातु से बने कथक शब्द से ऐसा भाव सिद्ध नहीं होता है।

आज कथक, नृत्य शैली भारतीय शास्त्रीय नृत्य शैलियों में गणना में प्रथम स्थान पर स्थापित है।

आज भी यह भक्ति के भावों को, लोक के अनुभावों को अपने में पिरोये हुये समस्त उत्तर भारत में सर्व लोकप्रिय हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. शार्ङ्गदेव, संगीत रत्नाकर, अध्याय-1, श्लोक-21
2. दधीचि डॉ. पुरू- कथक नृत्य शिक्षा, भाग-1, पृ0 5
3. लाल जी भाई सत्सनेही जी से हुई वार्ता के अनुसार
4. पं. ओंकार जी के पुत्र छोटे लाल कथिक के साथ हुई चर्चा के आधार पर।
5. आचार्य बृहस्पति, संगीत चिन्तामणि, भाग-2, पृ. 54-55
6. दधीचि डॉ. पुरू- कथक नृत्य शिक्षा, भाग-2, पृ. 89
7. सिंह डॉ. भगवती प्रसाद, राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृ. 551
8. दधीचि डॉ. पुरू- कथक नृत्य शिक्षा, भाग-2, पृ. 85

डोमकच : बिहार का स्त्री प्रधान लोकनृत्य

खुशबू कुमारी, डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

डोमकच एक लोक नृत्य है जो बिहार, झारखण्ड, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में मुख्य रूप से प्रचलित है। परंतु इस लोक नृत्य का स्वरूप प्रत्येक राज्यों में अलग-अलग है। यहाँ बिहार के लोकनृत्य डोमकच का उल्लेख किया जा रहा है।

डोमकच लुप्त हो रही एक लोक परंपरा है। यह परंपरा बिहार के हर क्षेत्र में लड़के की शादी के समय स्त्रियों द्वारा निभाई जाती है। जब वर के घर के सभी पुरुष बारात के साथ चले जाते हैं, तो घर में सिर्फ स्त्रियाँ रह जाती हैं। उस रोज रात में वर के घर पास पड़ोस की स्त्रियाँ भी जुटती हैं और रात भर अभिनय के साथ गाना बजाना होता है, जिसे 'डोमकच' कहते हैं।[1]

गाँवों और कस्बों में प्रायः स्त्रियाँ बारात में नहीं जाती हैं। घर के सभी पुरुष जब कन्या पक्ष के यहाँ बारात लेकर चले जाते हैं, तब घर पर रह गयी स्त्रियों का राज होता है। वे सभी रात्री जागरण करती हैं और तरह-तरह के स्वांग करती हैं एवं विभिन्न वेश भूषा धारण कर एक दूसरे को छेड़ती हैं एवं लोकगीतों के माध्यम से अपनी अव्याख्यायित इच्छाओं को स्वर देती हैं। डोमकच के माध्यम से स्त्रियाँ अपने हृदय की वेदनाओं को भी व्यक्त करती हैं। डोमकच की रात, उन्हें पितृसत्ता द्वारा ओढ़ाये गये मर्यादा के सभी आवरणों से मुक्त करती है। आज की रात स्त्रियों की रात होती है, जिसमें स्त्रियाँ गीत, नृत्य एवं नाट्य तीनों की प्रस्तुति देती हैं।

''बर के अम्मा खड़ी बर के चाची खड़ी।
बर घुमियो ना ताके अपना अम्मा ओरी।''

एक तरफ जहाँ हँसी-खुशी दूल्हे का परिछन करके उसे आशीर्वाद देकर माँ, फुआ, चाची, गाँव की महिलाएँ एवं उपस्थित सभी महिलाएँ दूल्हे को कन्या व्याहन हेतु विदा करती हैं तो वही दूल्हा को जाते देख माँ की आँखे भर जाती है माँ उदास हो जाती है। कहीं-कहीं तो माताएँ इतनी भावुक हो जाती हैं कि आँखों से स्वतः अश्रुधारा बहने लगती है। पल भर के लिये माहौल शान्त सा हो जाता है। फिर इस उदासी को चीरते हुए झूमर का स्वर गूंजता है।

''मालिन संग छोड़ द ऽ हो मोरे राजा।
ना मैं गोरी ना मैं काली
सीसा लेके देख ल ऽ हो मोरे राजा''।।

इस तरह हँसी मजाक और गीतों को गाते हुए महिलाएँ घर आती है। घर पर भी हँसी ठिठोली और मजाक भरे शब्दों से लबालब गीतों का स्वर गूंजता रहता है। नाऊनी सभी महिलाओं का पाँव धोती है। उन्हें तेल और सिन्दूर लगाकर मीठा खिलाया जाता है। यहाँ से आरम्भ होता है डोमकच का पहला चरण-

दोई :-

भारत एक कृषि प्रधान देश है। इसलिए किसी भी शुभ कार्य में कृषि से संबंधित उपकरणों की भी पूजा अर्चना की जाती है। विवाहोपरांत लड़का लड़की

*शोध छात्र, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। इसलिए जीविकोपार्जन हेतु कृषि उपकरणों को भगवान के रूप में पूजते हैं। यही कारण है कि विवाह संस्कार का आरम्भ हल्दी और मटकोर से होता है।

हल्दी मटकोर में कुदाल, हरिश, पालो इत्यादि कृषि उपकरणों की पूजा होती है मटकोर के दिन ही आंगन में हरिश गड़ाया जाता है। हरिश, हल का ऊपर वाला भाग होता है जब दूल्हा ब्याह रचाने चला जाता है तब घर की महिलाएँ इस हरिश को भँवर लगाते हुए गीत गाती है। इस गीत को दोईया कहा जाता है। दोई इस प्रकार गाया जाता है।

दोईया बरहम बाबा के
दोईया बिसुन बाबा के
जोड़े भईले गगरी जूलूम भईले गगरी
आवे देहु कवनी दूल्हा के
ए खोली दिहें टाकवा बेसाही दिहें
गगरी माई टके-टके
जिमिदार मांगे गगरी
माई टके-टके गगरी।

अर्थात् वे वर और बारात की कुशलता के लिए अपने इष्ट देवी देवताओं से प्रार्थना करती हैं कि हे माँ भगवती, हे! ब्रह्म बाबा, हे विष्णु भगवान आप लोग वर और बारात की रक्षा करिये। सब कुछ कुशल मंगल करिये। अब शुरू होता है डोमकच का दूसरा चरण :-

जब दूल्हा बारात लेकर कन्या के घर जाता है तब दूल्हा के साथ बारात में गाँव, टोले, मुहल्ले के सभी पुरुष जाते हैं और धर में सिर्फ महिलाएँ रह जाती हैं। जिस घर से बारात जाती है उसके घर पे सारी महिलाएँ इकठ्ठा होती हैं चूँकि गाँव के समस्त पुरुष बारात में गए रहते हैं इसलिए औरतें रात्री जागरण करके अपने घर की रक्षा करती हैं साथ ही जो लोक लज्जा का आवरण धारण करके अपने मनोभावों को दबाकर जीवन जीती आ रही है उससे आज ये पूर्णतः मुक्त होती हैं। डोमकच की रात इनको पूरी आजादी होती है अपने मन की भावनाओं को व्यक्त करने की। आज की रात सिर्फ महिलाओं की रात होती है। इसमें किसी पुरुष का प्रवेश वर्जित होता है। यदि कोई पुरुष गलती से आ भी जाए ता उनका तरह तरह की गालियों भरें गीतों से स्वागत किया जाता है।

डोमकच में सिर्फ मनोरंजन ही नहीं होता है बल्कि इसमें स्त्रियों की दबी इच्छाओं को व्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए कोई महिला पुरुष का वेश धारण करती है तो कोई सिपाही बन जाती है, कोई महिला डॉक्टर का वेश तो कोई वैद्य बनकर तरह-तरह के स्वांग करती है। बाकी वहाँ बैठी वृद्ध महिलाएँ ऐसे-ऐसे शब्दों का प्रयोग कर गीतों को गाती हैं कि सुनने वाला शर्म से लाल हो जाए। साथ में बैठे बच्चे भी इस प्रकार के गीत, नृत्य एवं नाट्य का आनंद ले रहे होते हैं।

एक लड़की लड़का बनकर आंगन में उपस्थित होती है तो दूसरी लड़की गाना शुरू करती है :-

''कोई आया है बाग में मेरे सनम।
मेरे सनम जी को खाने को चाहिये
पूरी जलेबी हलवा गरम।''

बाकी वहाँ उपस्थित सभी महिलाएँ इस गीत को दोहराती हैं। इस प्रकार प्रेम-संबंधित गीतों के साथ कम उम्र की महिलाओं का नृत्य एवं साथ ही उनसे वृद्ध महिलाओं का मजाक जारी रहता है।

इस दृश्य के माध्यम से वे अपनी दबी हुई इच्छाओं को प्रकट करती हैं जो लोक लज्जा के डर से दबा हुआ था। डोमकच के माध्यम से ही अपने अतीत प्रेम को आज महिला साथी के साथ प्रकट करती है। उसे ही अपना प्रेमी मानकर अपना प्रेम व्यक्त कर रही है। साथ ही पहले हमारा समाज इतना उन्नति नहीं किया था कि सबके घरों में टी. बी., साउन्ड सिस्टम या इन्टरनेट इत्यादि हो। अतः लड़कियों को शादी के बाद कैसे ससुराल में रहना है, कैसे उनको अपने पति एवं घर परिवार के साथ व्यवहार करना है, ये सारी बातें डोमकच के द्वारा लड़कियों को समझाने का कार्य, बड़ी एवं वृद्ध महिलाएँ इस प्रकार के गीतों एवं नृत्यों द्वारा करती थी।

कम उम्र की महिलाओं का स्वांग समाप्त होता है अब बारी आती है उन महिलाओं की जो ब्याह के बाद कभी भी अपना दुःख, दर्द और खुशी किसी से बाँट नहीं पाई हैं। अपनी कोई भी ईच्छाओं को

पुरुषों के वर्चस्व के कारण पूर्ण नहीं कर पायी हैं। ससुराल में कितना दुःख सहती हैं पर कभी मायके में व्यक्त नहीं कर पायी हैं। किसी महिला का पति जीविकोपार्जन हेतु परदेश गया है और महिला पर ससुराल में नाना प्रकार से अत्याचार हो रहा है। डोमकच में ये सारा दुःख, दर्द, खुशी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करने का अवसर होता है ताकि हृदय की वेदनाओं को कुछ कम किया जा सके। हँसी-खुशी संबंधित गीत गूँजता है :-

''साईकिल के टूटेला चयनवा
गीरेला सजनवा ए सखी।
ससुरा में रहती त ऽ
झारी के उठईती
नईहरे में लागेला सरमवा

गीरेला सजनवा
ए सखी।''

इस प्रकार के गीतों के साथ नृत्य का सिलसिला जारी रहता है। किसी महिला का पति परदेश गया है और ससुराल में उसको सास, ननद, जेठानी एवं देवरानी इत्यादि से कैसी कैसी यातनाएँ मिल रही है। इस गीत के माध्यम से दिखाई देता है :-

''सासू मारे तनवा, ननदिया देवे उलहनवा।
से नाहीं अईले ना, परदेसी मोरो सजनवा
से नाहीं अईले ना''

अभी भी स्त्री की हृदय पीड़ा कहाँ कम है। कितनी लाचार है स्त्री जो अपने दुःखों को मायके में भी नहीं बाँट सकती है। भय है इस समाज की कि कहीं हँसी का पात्र न बन जाये तभी तो आज अपने मन में दबी वो हर बातें इस डोमकच के माध्यम से ही अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त कर रही है।

''नूनू काकावा हो नूनू काकावा।
तीन दिन से चलेला भुजा फाँकावा
हो नूनू काकावा''

अर्थात् हे! छोटे चाचा तुम कहा थे? इतनी दूर बिटिया को क्यूं व्याहे? तुम तो बोले थे कि बेटी तुम्हारा ससुराल बहुत अमीर है। परंतु आप जिस घर में व्याहे हैं मुझें उस घर में तो कुछ भी नहीं है। घर में खाने का एक दाना भी नहीं है। तीन दिन से भुजा खाकर जीवन को बिता रही हूँ। इस प्रकार के अनेकों प्रश्न होते हैं स्त्री के मन में परंतु लोक लज्जा के भय से इन सभी प्रश्नों को मन में ही दबा दी होती है।

इस अश्रुपूरित दृश्य का समापन फिर से खुशी भरे दृश्य में प्रवेश कर किया जाता है। रातभर इस प्रकार गीति नाट्य चलता रहता है। ढ़ोलक की थाप और मंजीरे की गूंज से पूरा गांव, टोला-मोहल्ला गुंजायमान रहता है। डोमकच और जलुआ के विषय में संजीव अपने उपन्यास सूत्रधार में लिखते हैं कि-मर्द की आँख से मेहरारू को देखा तो क्या देखा! वे ऐसे विरले क्षण हैं जहाँ मेहरारू की नजर से मेहरारू को देखा गया है। मेहरारू का मन! कितनी-कितनी परतें होती हैं उनमें खुद से खुद को छुपाते चलती हैं। डोमकच अकेला प्रसंग है, जहाँ कोई मर्द नहीं होता। वे मर्दों की पूरी नकल उतारकर रख देती है।[2]

डोमकच का आखिरी चरण जलुआ है। जलुआ डोमकच का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। वंश वृद्धि के प्रयोजन से इस रीति को निभाया जाता है।

जलुआ का निर्माण :- स्त्रियाँ खटिया के पाए में एक लकड़ी डालकर स्ट्रैचर (खाका) तैयार करती हैं। आटा या बेसन को कड़ा सानकर उसपर मोटा लेप चढ़ाती हैं तथा बच्चे की शक्ल में प्रस्तुत करती हैं। उसके बाद अंटी (गोली) से आँख तथा गेहूँ या जौ से दाँत बनाती हैं फिर उसके होंठ को काजल या लाल रंग से रंगती हैं। कहीं-कहीं कपड़े से भी इसका निर्माण होता है। अगर हम कलात्मक दृष्टिकोण से इसका अवलोकन करें तो लोक-कला का यह उत्कृष्ट नमूना हो सकता है जिसमें उन औरतों की कल्पना व मेहनत जुड़ी होती है।[3]

जलुआ की प्रस्तुति के समय आंगन से बच्चे एवं किशोरियों को हटा दिया जाता है। यहाँ सिर्फ विवाहित स्त्रियों का प्रवेश होता है एवं अविवाहित लड़कियों का प्रवेश निषेध रहता है।

यज्ञमाता अर्थात् जिस लड़के की शादी हो रही है उसकी माँ, दादी अथवा घर की बड़ी महिला चावल, दाल, साड़ी-कपड़े, रूपया, गहना इत्यादि लेकर आती हैं और नाऊनी को बच्चा जन्म के

स्वांग रचाने हेतु नेग देती हैं। अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार नेग दिया जाता है।

नाउनी गर्भवती होने का नाटक करती है। इर्द-गिर्द बैठी महिलाएँ गीत गाती हैं-

''सासू के बोलिया कठोर दईया मर गई मर गई''
सासू कहे बहुआ मुन्ना दे दो मुन्नी दे दो।
राजा कहे मोरी रामकली पे आफत आ गई''

इधर नाटक रूप में नाउनी दर्द वेदना से व्याकुल रहती है। कुछ देर बितने के बाद नाऊनी अपने गोद में रखे जलुआ को सबके सामने रखती है। इस प्रकार जलुआ का जन्म होता है। नाना प्रकार का सोहर गीत गाया जाता है। जलुआ को नया कपड़ा पहनाया जाता है। जलुआ को सब के पास घुमाया जाता है जिस महिला के पास जलुआ जाता है वो महिला बड़े ही प्यार से जलुआ को गोद में लेती है और कुछ रूपईया जलुआ को भेंट देती है।

इस प्रकार बच्चे को खिलाते हुए गीत-संगीत का कार्यक्रम चलता रहता है। धीरे-धीरे बच्चा कल्पित रूप में बड़ा होता है। उसकी माँ उसकी शादी-ब्याह की तैयारी करती है।4

इस प्रसंग में उपस्थित महिलाएँ एक दूसरे का नाम लेकर गीतों के माध्यम से आपस में मजाक करती हैं। तथा गाती हैं-

सबकर जलुआ इआहल-बिअहल
मोर जलुआ बाड़े कुंवार
जलुआ मोर बाड़े कुंवार
तनियक हँस के बोल ए फुआ
(फुआ का जो नाम हो वह नाम लेकर)
जलुआ मोर होंइहें निहाल
जलुआ मोर होंइहें निहाल।

इसी बीच एक औरत बारात से लौटकर आने का स्वांग करती है। इस औरत का नाम अर्जुनवा होता है। अर्जुनवा बनी औरत से वहाँ उपस्थित महिलाएँ पूछती हैं कि तुम कहाँ गए थे? तो अर्जुनवा जिस गाँव में बारात गया है उस गाँव का नाम बताता है। जैसे में जनकपुर गया था। फिर महिलाएँ बोलती हैं कि किसके घर? तो अर्जुनवा बोलता है कि जनक जी के घर इस प्रकार हँसी मजाक का माहौल बना रहता है। जिस गाँव बारात गया होता है उस गाँव की महिलाओं का नाम लेकर गाली गया जाता है। उपस्थित महिलाओं और अरजुनवा संवाद इस प्रकार होता है-

उपस्थित महिलाएँ-

ए अर्जुनवा काहां गईल रहले? (ए अर्जुनवा तू कहाँ गया था)

अरजुनवा बनी दूसरी महिला बोलती है :- जनकपुर

उपस्थित महिलाएँ :- केकरा घरे? (किसके घर)

अरजुनवा :- जनक जी के इहां (जनक जी यहाँ)

उपस्थित महिलाएँ - खायेके मिलल? (खाने को मिला)

अरजुनवा :- हाँ मिलल (हाँ मिला)

महिलाएँ :- का मिलल? (क्या मिला)

अरजुनवा :- अंकुरी, चिउड़ा

उपस्थित महिलाएँ :- खईले? (खाया)

अरजुनवा :- क्या खाया ठीक नहीं था फेंक के आ गया।

अब सभी महिलाएं एक साथ गाती हैं।

''तू त ऽ मारल ऽ जईबे रे अरजुनवा''

अरजुनवा बोलता हैः-

''हम गंगा नहाइब हर बिसुना
हम बालू फाकब हर बिसुना''।

इस प्रकार जलुआ रिति रिवाज व हँसी-ठिठोली गीतों के साथ डोमकच का समापन किया जाता है।

उपस्थित सभी लोग जलपान ग्रहण करते हैं और गाँव एवं टोले-मोहल्ले की महिलाएं अपने-अपने घर प्रस्थान करती हैं।

डोमकच स्त्री-मानस की रचनात्मक विस्फोट है। स्त्रियाँ इस प्रदर्शन में पुरुषों द्वारा निर्धारित अपनी जिन्दगी को विश्लेषित करती हैं। वे ऐसी स्थितियों पर आलोचनात्मक दृष्टि के साथ टिप्पणी करती हैं, जो उनके जीवन को दुःख ही दुःख देती हैं। वर्जनाओं की धज्जियाँ उड़ाती हुई स्त्रियाँ इस प्रदर्शन के दौरान अपनी सत्ता कायम करती हैं तथा

जीवन और जगत के प्रति अपनी धारणाओं, कल्पनाओं, अनुभवों और अपने स्वप्नों की प्रस्तुति करती हैं। खेती-गृहस्थी, घर-बार और रोजी-रोटी से लेकर अपनी देह के सुखों, यौन शुचिता की चाबुक की मार, गर्भ और प्रसव की पीड़ा तथा सन्तानोत्पत्ति का आतंक जैसी अनेक छवियों को उकेरती स्त्रियों की यह सामुदायिक सक्रियता विवाह जैसे उत्सव की उपज है, जो आज भी हमारे गाँव में जीवित है।[5]

यद्यपि डोमकच का स्वरूप वर्तमान में थोड़ा बदल गया है क्योंकि मनोरंजन के अनेक साधन अब उपलब्ध हो गए है। पहले स्त्रियों द्वारा गीत गाए जाते थे और उन्हीं गीतों पर नृत्य होता था परंतु अब साउन्ड सिस्टम उन गीतों का स्थान ले लिया है। जलुआ लोकाचार भी प्रायः विलुप्ति के कगार पर है। अतः समय रहते हम सबको सजग होना पड़ेगा तभी हम इस लोक परंपरा को संजोकर रख पायेंगे क्योंकि यह परंपराएँ हमें लोकाचार, आपसी एकता, भाषा ज्ञान इत्यादि से अवगत कराती हैं।

संदर्भ सूची

1. सारंग (आल इंडिया रेडियो का पाक्षिक पत्र) वर्ष-27, अंक-5 आकाशवाणी का रेडियो सप्ताह पृ. 1
2. संजीव, सूत्रधार (उपन्यास) पृ. 147
3. भास्कर भुनेश्वर, भोजपुरी लोक संस्कृति और परंपराएं, पृ. 18-19
4. वही, पृ.
5. सुलभ हृषीकेश, रंगमंच का जनतन्त्र, पृ. 23

लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत में अन्तर्सम्बन्ध

ज्योति कुमारी* एवं डॉ0 अंजू कुमारी**

शोध-सार

शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं। संगीत के इन दोनों प्रकारों की विकसित दिशाएँ स्वतंत्र हैं तथा दोनों ही प्रौढ़ संगीत-शैलियों के दो विकसित, स्वरूप हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रेरणा-स्रोत व्यक्ति एवं शास्त्र हैं और शास्त्र के नियमों में बँधा हुआ शास्त्रीय संगीत स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं है। लोकसंगीत का प्रेरणा-स्रोत जन-मानस है, जिसका विकास और संरचरण क्षेत्र अधिक विस्तृत है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिए शास्त्र ज्ञान की आवश्यकता है तथा विशिष्ट अभ्यास क्रम से गुजरने की जरूरत है, परन्तु लोकसंगीत के प्रयोग के लिए किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता कम है।

शब्द कुंजी : *ढोलक, परवावज, झाल, डमरू, शंख नगाड़ा, करताल आदि*

लोकसंगीत दो शब्दों के योग से बना है। 'लोक' तथा 'संगीत' जिसका सटीक अर्थ है लोक के संगीत। लोक शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के शब्द 'Folk' से हुई है जिसका हिन्दी रूपान्तरण है, ऐसा संगीत जो नगर और गाँव की सभी जनता आसानी से गा सके। संगीत शब्द का अर्थ है, वह पद जो गाने योग्य हो। संगीत और लय ही लोकगीत अर्थात् 'लोकसंगीत' का प्राण है। यही कारण है कि लोकसंगीत को 'स्वतः स्फूर्त संगीत' कहा गया है।

''लोक संगीत'' वह संगीत है, जिसे पेशेवर लोगों द्वारा नहीं, बल्कि आम लोगों द्वारा गाया जाता है। यह पारंपरिक संगीत है, जिसे लोग दूसरे लोगों को इसे बजाते हुए सुनकर सीखते हैं और फिर उनकी नकल करते हैं। यह एक ऐसी परंपरा है, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को 'सौंपी जाती है' यह सैकड़ों साल पुराना है और शैली में समकालीन होने के लिए जाना जाता है। लोक संगीत का आनंद लिया गया और समाज के जमीनी स्तर पर काम करने वाले 'किसानों' का संगीत माना गया। यह सांप्रदायिक मनोरंजन का एक हिस्सा है। लोग एक साथ संगीत बजाते और गाते हुए आराम करते। वे अक्सर एक नया गीत या संगीत का नया टुकड़ा बनाते हैं या संगीत में बदलाव करते हैं, जो वे पहले से ही जानते थे, इस तरह संगीत हमेशा विकसित हो रहा था। कोई भी लोक गीत लोक संगीत का हिस्सा है। गाथागीत लोकप्रिय थे, क्योंकि वे संगीत के रूप में एक कथा थी। इसने लोककथाओं की कहानियों को बताया। लोक संगीत का उपयोग नृत्य के लिए भी किया जाता था। लोग दो भागों में बंटे होते थे और दानों एक दूसरे से सवाल-जवाब होता था, जो काफी रोमांचक दृश्य होता था।

लोकसंगीत के अंग

लोकसंगीत में भी स्वर एवं लय विशेष पर ठहराव, ठहराव का उचित समय, न्यास, स्वर संगति आदि समाहित होते हैं। आरोह-अवरोह का उपयुक्त सामंजस्य होता है, जो दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराता है। आकर्षण, सम्मोहन, विविधता, सौंदर्य, रोचकता एवं रंजकता आदि गुण संगीत के प्राथमिक तत्व हैं, जो दोनों प्रकार के संगीत में

* शोधार्थी, स्नातकोत्तर संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

** विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, एम.ए.एम. कॉलेज, नवगछिया, भागलपुर, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

विद्यमान होते हैं, इस दृष्टि से भी दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध हैं।

लोकसंगीत का वातावरण उत्साह, उमंग और तन्मयता से सराबोर पाया जाता है। कीर्तनियों के समान, लोकसंगीत लोगों को झंकृत करता है। अनेक गीतों के परीक्षण से उन्हें स्वाभाविक स्वर रचनाओं के ऐसे अनेक सार्थक चयनों का पता लगा, जो विशिष्ट भावात्मक स्थितियों में मनुष्य की विशिष्ट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के आधार पर जुड़ते मिलते हैं। उन्हें विशिष्ट रागों की संज्ञा दी गयी और यह निश्चित किया गया कि अमुक-अमुक स्वरों के चयन से एक विशेष प्रकार की धुन का जन्म होता है। इन्हीं धुनों का नामकरण किया गया और उनका एक विशिष्ट शास्त्र धीरे-धीरे विकसित हुआ। उन धुनों का विश्लेषण पंडितों ने अपने अपने ढंग से किया। कई निष्कर्ष निकले, कुछ निश्चित परिणामों पर पहुंचे तथा राग-रागिनियों का नामकरण हुआ। उसके बाद अनेक विद्वानों ने स्वतंत्र परीक्षण व प्रयोग भी किए तथा नवीन राग-रागिनियों की सृष्टि भी हुई।

लोकसंगीत का प्रभाव मानव जीवन पर सहज रूप से पड़ता है। लोकसंगीत ग्रामीणों का गीत है। इन गीतों में सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे रीति-रिवाजों की झांकी मिलती है। बिहार के लोकसंगीत के अन्तर्गत शादी-विवाह गीत, ऋतु गीत, आल्हा गीत, बिरहा गीत, लोरी गीत आदि आते हैं। इसका स्वरूप सरल एवं माधुर्य से पूर्ण होता है। इन गीतों को सुनते ही साधारण व्यक्ति भी खुशी से झूम उठते हैं एवं ताली देने लगते हैं। लोकगीतों के साथ ढोलक, झाल, करताल, डमरू, नगाड़ा, शंख, करताल आदि अनेक वाद्य यंत्र बजाए जाते हैं। लोकसंगीत में हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक भावनाएँ छिपी रहती है। लोकसंगीत के गायन के अंतर्गत लोकवाद्यों की अपनी परंपरा रही है, जो आज तक अक्षुण्ण है। प्रत्येक राज्य में लोकवाद्यों का विविध स्वरूप आज भी प्रचलित है और बिहार के लोकसंगीत में इन लोक-वाद्यों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एक विस्तृत है।

लोकसंगीत ऐसी गायन विधा है जिससे लोगों का मनोरंजन होता रहता है। इसे स्त्री-पुरूष समान रूप से गाते हैं। इस संगीत में कुछ ऐसे गीत भी उपलब्ध होते हैं जो केवल महिलाएँ ही गाती हैं। जैसे-संस्कार विषयक गीत। इसके ठीक विपरीत कुछ ऐसे भी गीत है जो ज्यादातर पुरूषों की ही संपत्ति है। जैसे-होली इत्यादि।

लोकसंगीत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-एकल गान तथा सामूहिक गान। एकल गान का तात्पर्य है जिसे एक ही कलाकार गाता है। जैसे-बिरहा और सामूहिक गान का मतलब है जिसमें अनेक कलाकार समूह में गाते हैं। लोकसंगीत गाने के लिए अनेक स्त्रियाँ गोलाकार रूप में एकत्रित होकर बड़े प्रेम से गाती हैं तथा इनके साथ ढोलक, परवाबज, झाल, डमरू, शंख नगाड़ा, करताल जैसे लोकवाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तथा लोकसंगीत सामुदायिक साधना का। संगीत रचनाएँ जब प्रौढ़ता को प्राप्त होती हैं, तभी उन पर शास्त्र बनते हैं। पहले रचनाएँ होती हैं, उनमें अनेक वाद-विवाद, प्रकार, उपप्रकार, क्रिया-प्रक्रियाएँ चलती हैं, तब शास्त्रों का आधार लिया जाता है। अनिबद्ध रचनाओं को निबद्ध करने के लिए शास्त्र दिशा निर्देश करता है। प्रारंभ में शास्त्र सरल, सुगम तथा संक्षिप्त होता है, बाद में रचना क्रम के विस्तार के साथ वह भी पेचीदा होने लगता है।

शास्त्रीय संगीत यदि स्वर प्रधान होता है तो लोकसंगीत शब्द प्रधान होता है। लोकसंगीत का स्वरूप सहज, स्वच्छन्द एवं लयगर्भित होता है, शास्त्रीय संगीत जटिल एवं शास्त्रोक्त होता है, किन्तु सांगीतिक तत्वों के आधार पर दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध की अनुभूति मौजूद है। लोक और शास्त्रीय संगीत का अंतर उनकी उत्पत्ति में निहित है। शास्त्रीय संगीत को 'कला रूप' माना जाता है, जबकि लोक संगीत को कला का एक और पारंपरिक रूप माना जाता है।

शास्त्रीय संगीत को 'कला संगीत' कहा जाता है। पारंपरिक पश्चिमी संगीत में इसकी जड़ें हैं। इस परंपरा के केंद्रीय मानदंड लगभग 11वीं सदी में विकसित हुए, लेकिन 1550 और 1900 के बीच की अवधि में जटिलता और विकास की अपनी ऊँचाइयों तक पहुँच गए। हेडन, मोजार्ट और बीथोवेन जैसे

संगीत रचनाकारों ने समय के साथ लोकप्रियता हासिल करने का अपना तरीका तैयार किया।

लोकगीतों के स्वर चयन में शास्त्रोक्त राग निर्धारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास मात्र रहता है। उसी आभास के आधार पर शास्त्रीय संगीत का विस्तार पक्ष सक्रिय होता है। मूल स्वर चयन को स्वर विस्तार के समय वादी, संवादी, विवादी, आरोही, अवरोही आदि के कड़े नियमों में बाँधकर शास्त्रकारों ने उन्हें विशिष्ट दशा दी तथा उन्हें रागों के घेरे में बाँध दिया। इस तरह अनेक लोकगीतों के परीक्षण से यह भली-भाँति ज्ञात होता है कि उनकी स्वर रचनाओं में स्वर चयन किसी रागात्मक तथा भावात्मक वृत्ति के आधार पर ही होता है तथा उनका बीजरूप निश्चय ही शास्त्रीय रागों में निहित है।

शास्त्रीय पद्धति से गाए जाने वाले अनेक गीतों में लोक बोली के शब्द होते हैं, ऐसे ही शब्द लोकगीतों के आधार स्तम्भ होते हैं। लोकसंगीत में स्वर व ताल रचना का सीधा महत्व नहीं होता है, किन्तु रचनाकार शास्त्रीय संगीत की दृष्टि से रचना की युक्ति का निर्माण कर लेता है, जिससे दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध उजागर होता है।

संदर्भ-सूची :

1. गर्ग, लक्ष्मी नारायण, निबन्ध संगीत, संगीत कार्यालय, हाथरस (उत्तर प्रदेश), 204101, 1987
2. शर्मा, डॉ. स्वतंत्र, भारतीय संगीत का ऐतिहासिक विश्लेषण, टी.एन. भार्गव एंड सन्स, 1131, कटरा (इलाहाबाद), 1984
3. गर्ग, डॉ. मुकेश, भारतीय वाद्य अंक, संगीत कार्यालय, हाथरस (उत्तर प्रदेश), जनवरी, 2004.
4. 'वसंत' प्रभूलाल गर्ग, संगीत विशारद संगीत कार्यालय, हाथरस (उत्तर प्रदेश), 204101, अप्रैल, 1998.
5. बोराण, रमेश, राजस्थान के लोकवाद्य, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर, 2004
6. शर्मा, डॉ. नीरा, भारतीय लोकनृत्यों में हरियाणा और राजस्थान, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005.
7. कुमार, पुणेन्द्र, बिहार विस्तृत अध्ययन, अरिहन्त पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2009.
8. चौबे, डॉ. सुशील कुमार, हमारा आधुनिक संगीत, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, राजर्षि पुरूषोत्तम दास टंडन, हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

आचार्य रजनीश के विचारों में लोक-कला और संगीत का महत्त्व

राजीव कुमार रंजन'

सफल मानव जीवन को सफल एवं सुन्दर बनाने में कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन उर्जा का महासागर है। जब अंतश्चेतना जागृत होती है तो ऊर्जा जीवन को कला के रूप में उभारती है। कला जीवन को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से समन्वित करती है। कला मानव मन में संवेदनाएं उभारता है, उसकी अभिरुचि को सकारात्मक दिशा देता है। कला चाहे किसी भी रूप में हो उसमें मानवीयता को सम्मोहित करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। जब यह कला संगीत के रूप में उभरती है तो कलाकार गायन और वादन से स्वयं को ही नहीं श्रोताओं को भी अभिभूत कर देता है। शास्त्रीय और लोकनृत्य के रसास्वादन से मनुष्य झूम उठते है। भारतीय लोक कलाओं ने हमारी संस्कृति के अनेक सकारात्मक पक्षों का चित्रण किया है। इनके माध्यम से ही हमारा लोकजीवन लोकमानस तथा जीवन का आंतरिक और आध्यात्मिक पक्ष अभिव्यक्त होता रहा है।[1]

भारतीय समाज में कला और संगीत के महत्व पर भर्तृहरि का यह श्लोक प्रकाश डालता है-

''साहित्यसंगीतकलाविहीनः,
साक्षात् पशु पुच्छ विषाणहीनः।।''

अर्थात ''साहित्य संगीत और कला से अनभिज्ञ व्यक्ति पूँछ और सींग से रहित पशु है।'' अतः व्यक्ति के हृदय में चाहे किसी भी रूप में हो कला का संचार होना आवश्यक है और यह कला ऐसी हो जो मनुष्य के सुन्दर मानवता, उदारता, दयालुता, सहिष्णुता, परोपारिता, एकता तथा राष्ट्रीयता की सबलधार का पूण्य प्रभाव कर सके। इस सन्दर्भ में पं. गया प्रसाद शुक्ल ''सनेही'' की निम्न पंक्ति उल्लेखनीय है।

जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं हैं, पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारत के प्रायः सभी शिक्षाविदों और दार्शनिकों ने साहित्य संगीत और कला को महत्व देते हुए उन्हें पाठ्क्रम में भी महत्वपूर्ण स्थान देने की अनुशंसा की। इन्हीं दार्शनिकों और शिक्षाविदों में एक नाम आचार्य रजनीश (ओशो) का भी है जिन्होंने अपने क्रांतिकारी विचारों से समाज को एक नई दिशा दी तथा जीवन में साहित्य, संगीत कला तथा अन्य आनन्द की रसानुभूति करते हुए मोक्ष प्राप्त करने की बात कही।

वर्तमान में शिक्षा का एक ही मतलब है ज्ञान का नयी पीढी को हस्तान्तरण।[2] सारी शिक्षा महत्वकांक्षा के केन्द्र पर घूमती है। शिक्षा का केन्द्र प्रेम होना चाहिए।[3] आचार्य रजनीश कहते हैं कि शिक्षा का एक ही अर्थ है कि हम जीवन की वीणा को कैसे बजाना सीख लें। वे कहते हैं ''मेरा संदेश है आनन्द, मेरा संदेश है उत्सव इसलिए उनके अनुसार शिक्षा की गुणवत्ता का मूल्यांकन इस बात से होगा कि उसे प्राप्त करके व्यक्ति कितना आनंदित होता है।''[4] वर्तमान शिक्षा के संदर्भ में वे कहते हैं शिक्षा एक व्यक्ति के भीतर जलती हुई प्यास के अतिरिक्त और कुछ भी पैदा नहीं कर पाती है। हमारी पूरी शिक्षा महत्त्वकांक्षा, तुलना और दूसरे से

* वरिष्ठ शोध अध्येता (एस. आर. एफ.), शिक्षाशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय (केन्द्रीय विश्वविद्यालय) नई दिल्ली-110061

प्रतिस्पर्धा पर खरी है। इसका ही यह परिणाम है कि जगत में इतना युद्ध है, इतना वैमनस्य है, इतनी शत्रुता है। हमारा स्कूल स्मृति की परीक्षा में कुछ भी जाँच नहीं पाता है। स्मृति अतीत से सम्बन्धित है और बुद्धि भविष्य से। स्मृति उससे सम्बन्धित है जो ज्ञात है और बुद्धि उससे सम्बन्धित है जो अज्ञात है। स्मृति सिर्फ पण्डित बना सकती है ज्ञानी नहीं। सम्यक शिक्षा के संदर्भ में आचार्य ने तीन बातें कही हैं जिन्हें शिक्षा सम्बन्धि विचारों का सैद्धान्तिक पक्ष कह सकते हैं। एक तो है गैर महत्वकांक्षी चित्त पैदा करना, दूसरा एक ऐसा चित्त जो तुलना न करता हो ओर तीसरा एक ऐसा व्यक्ति जो अपने को स्वीकार करता है, वह जैसा है।

आचार्य रजनीश के विचारो में जीवन सबसे अधिक सीखने योग्य संगीत का बोध और संगीत का भाव हैं। जीवन का अंतिम रहस्य स्वरों की भीड़-भाड़, अराजकता या आवश्कता नहीं हैं। वरन सभी स्वर मिलकर एक ही तंरग, एक ही लय उत्पन करते हैं। जीवन के पहले केन्द्र पर सभी संयुक्त हैं, उष्मवाधित हैं। जो स्वरों का उपद्रव और अभाव दिखाई पड़ता है वह हमारी श्रवणहीनता के कारण है। क्योंकि हम सम्यकतया नहीं पाते इसलिए हम स्वरों के बीच की समस्वरता का अनुभव नहीं कर पाते। हमें स्वर तो सुनाई पड़ जाते है, लेकिन एक स्वर को दूसरे स्वर से जोड़ने वाला जो बीच का सेतु है-संगीत, वह हमें सुनाई नहीं पड़ता। श्रवण सामर्थय में वृद्धि होते ही स्वरों में अभाव और उपद्रव में न्यूनता आने लगती हैं और संगीत उभरने लगता है तथा एक ऐसा क्षण भी आता है। जब स्वर शून्य हो जाता है, लहरे रूक जाती हैं और केवल संगीत का जगह रह जाता है, केवल संगीत की प्रतीति रह जाती है।

आचार्य के विचारों में संगीत का अर्थ है स्वरों के बीच का प्रेम संबंध जिसके कारण एक स्वर दूसरे स्वर से जुड़े होते है। जिसके कारण एक स्वर दूसरे स्वर में खो जाते है, विलीन हो जाते है। वो और स्पष्ट है कि दो स्वरों के बीच में जो अंतर है, वह भी रिक्त नहीं है। इस अंतराल को अनुभव करना ही जीवन संगीत को अनुभव करना है। समाज के संदर्भ में भी आचार्य दृष्टांत देते है कि समाज में भी मनुष्य परस्पर एक दूसरे छोर पर स्थित होता है और उनके जीवन रूपी तंरग है, छोड़ जो दृश्य है। ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं अपितु बीच की तंरग जो अदृश्य हैं। वही वास्तविक अस्तित्व हैं। उस हाल को अनुभव करना ही जीवन के संगीत का अनुभव है। संगीत ध्यान का सुगमतम् उपाय है। जो संगीत में डूब सकते है उन्हें डूबने के लिए और दूसरी चीज को खोजने की आवश्यकता नहीं है। संगीत अदभुत मादकता है, संगीत परम सुरा है। आचार्य कहते है, ऐसा मनुष्य खोजना कठिन है जिसके भीतर कहीं न कहीं संगीत के प्रति रस विद्यमान हो। क्योंकि संगीत का रस अनिवार्य है। वे कहते है प्रत्येक व्यक्ति ध्वनि से निर्मित है। व्यक्ति के प्राणो में ध्वनि गूंज रही है, अनाहत नाद गूंज रहा है, ओंऽम का नाद हो रहा है। संगीत व्यक्ति के लिए ध्यान बन रहा है, समाधि बन सकती है।

लोक-कला तथा संगीत में सौन्दर्य-

पाश्चात्य देशों मे जो सौन्दर्य विषय से सन्दर्भित मत प्रस्तुत किए गए हैं उनमें सौन्दर्य उत्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति का वर्णन हुआ है, उसी प्रकार भारतीय मनीषियों ने रस का विवेचन करके उससे प्रसूत आनन्दानुभूति का वर्णन किया है। क्रोंचे के अनुसार सौन्दर्य जनित आनन्द दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम शुद्ध आनन्द द्वितीय मिश्रित आनन्द। संगीत, काव्य, चित्र, मूर्ति से शुद्ध आनन्द की प्राप्ति होती है और नाट्य कला में मिश्रित आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार सौन्दर्यजन्य आनन्द और रसजन्य आनन्द में समता दिखाई देती है। सौन्दर्य और रस की प्रकृति में अन्तर यह है कि रस अपने विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, आदि की प्रकिया पर आधारित है। नवरसों में प्रमुख श्रृंगार रस में माधुर्य की प्रधानता होती है। माधुर्य गुण हृदय को द्रविभूत कर आह्लाद की अनुभूति कराता है। श्रृंगार का स्थायी भाव रति है जो हृदय को द्रविभूत करता है। इस प्रकार सौन्दर्य का सम्बन्ध श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव से है। सौन्दर्य संगीत कला का वाह्य कलेवर है और रस उसकी आत्मा है। रस का सम्बन्ध हृदय से है। सौन्दर्यानुभूति रजोगुण प्रधान है जबकि रसानुभूति सतोगुण प्रधान है। डा॰ हरद्वारी

लाल शर्मा का मत है कि सुन्दर वस्तु का गुण सौन्दर्य है, सुन्दर वस्तु सन्निकर्ष से रस की अनुभूति होती है। सुन्दर वस्तु और रसिक की आत्मा दोनों में ही रसानुभूति का उदय होता है। रस आत्मा की सरलतम और स्वकीय अनुभूति है और सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य से उदित होती है।

लोक-कला तथा संगीत का शैक्षिक महत्त्व-

छात्र कल का नहीं आज का नागरिक है। अतः आज के नागरिक के रूप में उसके जीवन का निर्माण करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। विद्यालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिसमें विद्यार्थी एक आदर्श नागरिक के रूप में वर्तमान जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त कर सके। इस दृष्टि से पाठ्येत्तर क्रियाओं विभिन्न कलाओं तथा संगीत के द्वारा छात्रों के अन्दर उत्तर दायित्व की भावना, कर्तव्य निष्ठा, प्रेम, सहयोग आदि सामाजिक गुणों का विकास किया जाना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने इस सम्बन्ध में कहा है कि :- ''स्वच्छ आनन्दप्रद तथा सुव्यवस्थित स्कूल भवन मिल जाने के पश्चात् हम चाहेगें कि स्कूल में विविध प्रकार की संबद्ध क्रियाओं का आयोजन हो जो विद्यार्थियों के विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सके। उसमें मनोरंजक कार्यों क्रियाओं तथा योजनाओं की व्यवस्था करनी होगी जो बच्चों को प्रभावित करे और उनकी विभिन्न रूचियों को विकसित करे।''

शिक्षा के माध्यम से समाज में चेतना जागृत हो यह उसका प्रमुख उद्देश्य है। अतः हमारी शिक्षा संस्थाओं की गतिविधियाँ सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करने वाली एवं उसे सही दिशा देने वाली होनी चाहिए। भूखमरी, कुशिक्षा, बेरोजगारी, दहेज, स्वार्थ, और घृणा जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने में सक्षम पीढ़ी जब शिक्षा संस्थाओं से निकलेगी तभी शिक्षा संस्थाएं अपने उद्देश्य में सफल मानी जाएगी।5 कला और संगीत का सहारा लेके ये शिक्षा संस्थाए इन भावी पीढ़ियों को भावनात्मक रूप से तैयार कर अपने उद्देश्य में सफल हो सकती हैं। प्रमुख शिक्षाशास्त्री श्री लज्जाराम तीमर का कहना है कि-

''विद्यालय आरम्भ होने से पूर्व, प्रातः एवं संध्या आकाश काल में मधुर संगीत के स्वरों से वातावरण में पवित्रता एवं दिव्यता घुल जाती है।''

शिक्षा के लिए मन की एकाग्रता परमावश्यक है। एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी ज्ञान प्राप्ति भी उतनी अधिक होगी। मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जिस विषय को हम बालक को सिखाना चाहते हैं उसमें उसकी रूचि उत्पन्न कर दें। सीखने का अनुराग तथा उन्नति करने की इच्छा जगा दे तो विषय पर उसका मन एकाग्र हो जाता है। मन को एकाग्र करने में कला और संगीत का प्रमुख स्थान है। बच्चों को कला और संगीत की शिक्षा देकर उनके संवेगो को ऊँचा उठाया जा सकता है, सन्तुलित किया जा सकता है तथा गहराई प्रदान की जा सकती है।[6]

आज तक धर्म के नाम पर उदासी और एक बोझिल गम्भीरता सिखाई गई है। धार्मिक होने में और उदास होने में कोई गलत गहरा संबंध पिछले पाँच हजार वर्षो में स्थापित हो गया। इस गलत सम्बन्ध ने परमात्मा का एक द्वार बन्द ही कर दिया। जिस द्वार को पार किए बिना कोई प्रभु तक पहुंच ही नहीं सकता। आदमी को छोड़कर इस जगत में कुछ भी उदास नहीं है। आदमी को छोड़कर जगत में कुछ और बोझिल नहीं है सारा जीवन गीत गाता जीवन है। सारा जीवन रंगों में, ध्वनियों में, नृत्यों में प्रकट होता है, केवल आदमी बोझिल और उदास है। धर्मो ने तथा कथित संतो और अंधे महात्माओं ने क्यों ये उदासी की इतनी बातें प्रचलित की। सुख के प्रति, आनन्द और संगीत के प्रति, साहित्य के प्रति इतना विरोध क्यों है। जिनका चित्त दुखी है, परेशान है, संताप से घिरा है वे ही अपने दुःख संताप से छुटकारा पाने के लिए धर्म की यात्रा करते है। सम्भवतः धर्म के जगत की हवा वैसी ही हो गयी है जैसी अस्पतालों की होती है और वे लोग जो उदासी, अशान्ति से बचने के लिए धर्म की तरफ गए थे वे उदासी से बच गए ऐसा भी नहीं। उन्होंने धर्म को भी अशान्त और उदास कर दिया। स्वस्थ चित्त व्यक्ति, आनन्दित व्यक्ति, गीत गाते लोग, नृत्य करते लोग धर्म की तरफ नहीं गए। जब तक वे लोग धर्म की तरफ नहीं जाएँगे तब तक यह पृथ्वी धार्मिक नहीं हो सकती। जिस दिन हंसते हुए

लोग धर्म के मार्ग पर बढ़ेगें उस दिन वह मार्ग फूलों से भर जाएगा।

आचार्य रजनीश कहते हैं ''आनन्द को खोजो अशान्ति से बचने की फिक्र छोड़ो। अशान्ति से मुक्त होने का भाव छोड़ो, शान्ति को बढ़ाओ और जगाओ, नकार और विरोध की तरफ ध्यान ही मत दो, विधेय को जगाओ और उसे पुकारो उसको चुनौती दो।''[7] हंसते हुए संत पैदा ही नहीं हुए, प्रफुल्लित लोग पैदा ही नहीं हुए, जितना रोता हुआ आदमी हो उतना ही बड़ा संत माना जाएगा, जितना ही उसके जीवन का सारा रस सूख गया हो उतना ही महान मालूम होता है। कैसा है मनुष्य और कैसा है यह पागलपन की हंसते हुए लोग पागल मालूम होते है। और उदास लोग महान और संत समझे जाते है। जिस दिन हम हंसते हुए लोगों को भी महानता की दिशा में अभिमुख करेगें, जिस दिन हम हंसने के आनन्द को ईश्वर का विरोधी मानने की मूढता छोड़ देगें उस दिन असली धार्मिकता का द्वार खुलेगा। ओशो कहते है मैं ऐसा मंदिर चाहता हूँ जो नृत्य के और हंसने के मंदिर हो। मैं ऐसा धर्म चाहता हूँ जो प्रफुल्लता से प्रमुदित होने का धर्म हो। एक बार हम हंसती हुई मनुष्यता को पैदा करें तो दुनिया के नब्बे प्रतिशत पाप अपने आप दूर हो जाएंगे। जिन लोगों ने पृथ्वी को उदास किया है उन लोगो ने पृथ्वी को पापों से भर दिया।

आचार्य कहते हैं ''प्रेम हमारे हाथ की बात नहीं है वह बहुत गहरा गणित है और बुनियादि सत्यों में से एक है। अगर मै आपकी आँखो में प्रेम से झाकूं तो यह असंभव है कि प्रेम के अतिरिक्त और कुछ लौट आए अगर कुछ और लौटना हो उसका मतलब है कि प्रेम पूर्ण होने में कुछ भी नहीं खर्च करना पड़ता और मिल कितना जाता है।''[8] लेकिन लोग इतने कंजूस हो गये हैं कि मुस्काराते भी नहीं इतनी कृपणता है कि जिसे देने में कुछ भी नहीं खर्च करना पड़ता उसे भी बहुत सोच समझ कर विचार करके मुस्कराते है। अजनबी को देखकर सख्त हो जाते है। हम अत्यन्त कृपण हैं हमने उदास होने की कसम ली है हम आनन्दित नही हो सकते जिद्द बांध ली है कि हम उदास ही रहंगे। और फिर इन उदास हाथों को लेकर जायेगे प्रभु के पास इन उदास हाँथों में खिलते हुए फूल भी हम अगर ले जायेंगे। तो वे भी कुम्हला जायेंगे और उदास हो जायेंगे वे गीत भी उदास हो जायेंगे क्योंकि गीत वही होता है जो गाने वाला होता है।

संगीत केवल मनोरंजन लिए नहीं है। यह तो आत्मिक आनन्द कि अनुभूति देने वाला है। मनोरंजन तो इसका अतिरिक्त लाभ है। जहाँ जो सुन्दर है वह संगीत में शामिल होना चाहिए। संगीत इसी तरह समृद्ध होता है। कला, संगीत और साहित्य अकसर आनन्द में होते हैं। आनन्द हमे अन्तर से साक्षात्कार कराता है। आनन्द के लिए धन की नहीं मन की आवश्यकता है। आनन्द अकल्पनीय है, आनन्द अनायास है, आनन्द अयाचित है, आनन्द अनन्त है।

वे ही आनन्द को प्राप्त कर सकते है जिन्हे चित्त की शांति प्राप्त हो चुकी है। ध्यान और चित्त की शान्ति के लिए आचार्य संगीत सिखने की बात भी करते है। वे कहते है संगीत का केवल मन से ही सम्बन्ध नहीं, संगीत मन और ध्यान के बीच है। क्योंकि यह मन के पार है लेकिन यह अभी ध्यान भी नहीं है। संगीत मन से बहुत आगे जा सकता है तब यह मौन के बहुत करीब आ जाता है। कोई व्यक्ति तभी संगीतकार है जब वह मौन की ध्वनि को समझता है और जो भी मौन की ध्वनि को समझता है वह ऐसी ध्वनि पैदा करने में समर्थ हो जाता है जो मौन के जैसे ही है। यह सबसे बड़ा चमत्कार है। जब वह संगीतकार अपने चरम पर आ जाता है ऐसी संगीत के आगे ध्यान का जगत शुरू होता है।[11]

आचार्य रजनीश के विचारों में भी लोककलाएँ और संगीत मानव की सहज, सौन्दर्यपूर्ण सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। आदि काल से मानव अपनी बातों को रंगो, रेखाओं, मुद्राओं और सुर-ताल से अभिव्यक्त करता आ रहा है। ताड़-पत्र, छाल, कपड़े, कागज आदि जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हुआ उसी को सृजन का माध्यम बना लिया और नए-नए सृजन किये। इसी सृजन का परिणाम है कि आज भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग लोककलाएँ, लोकनृत्य, और लोकसंगीत प्रचलित हैं। आचार्य रजनीश ने शिक्षा के क्षेत्र में भी लोककलाएँ को पाठ्यक्रम में

स्थान देने की अनुशंसा की हैं। इनके अनुसार विद्यार्थी का सृजनात्मक के सब क्षेत्र से अवगत कराना चाहिए। विद्यार्थी के पास कोई भी एक सृजनात्मक कला अनिवार्य रूप से होनी चाहिए, क्योंकि जब तक मनुष्य सृजन की कला नहीं जानता तब तक वह अस्तित्व का अंश नहीं बनता। सृजनात्मक होने से व्यक्ति दिव्यता को उपलब्ध हो जाता है और शिक्षा के परम लक्ष्य आनन्द को प्राप्त करता है।

आचार्य रजनीश ने भी ''आनन्ददायी शिक्षा'' की प्राप्ति हेतु शिक्षा के क्षेत्र में लोककलाओ और संगीत को पाठ्यक्रम में स्थान देने की अनुशंसा की है जो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था हेतु अत्यंत प्रासंगिक है।

संदर्भ सूचीः-

1. रंजन, राजीव कुमार, आचार्य रजनीश की 'आनन्ददायी शिक्षा' में संगीत की प्रासंगिकता (शोध आलेख), भैरवी, संगीत शोध पत्रिका, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यलय, दरभंगा। पृ॰सं॰-58
2. सत्यार्थी, स्वामी आन्नद, शिक्षा में क्रांति, पृ॰सं॰-135
3. अमित, स्वामी योग, शिक्षा और विद्रोह, पृ॰सं॰-10
4. सिंह, गिरीशचन्द्र (2009) आचार्य रजनीश एवं बर्टेन रसेल के शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पी. एच.डी. शोधप्रबन्ध शिक्षा संकाय वीर बहादुर सिंह जोनपुर उत्तर प्रदेश, पृ॰सं॰-106
5. रामयश, रजनीश का अधुनातम शिक्षा दर्शन, 2002 पी॰एचडी॰ शोध प्रबन्ध शिक्षाशास्त्र विभाग, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी। पृ॰सं॰-124
6. रामयश, रजनीश का अधुनातम शिक्षा दर्शन, 2002 पी॰एचडी॰ शोध प्रबन्ध शिक्षाशास्त्रा विभाग, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी। पृ॰सं॰-125
7. आचार्य रजनीश, तथैव पृ॰सं॰-116
8. आचार्य रजनीश साधनापथ, पृ॰सं॰-7
9. कौर नरेन्द्र, संगीत के मूल तत्व भाग-1, प्रथम संस्करण 2012। पृ॰सं॰-1 कनीशक पब्लिशरस, डिसिट्रीबीयूटर्स
10. भैरवी (संगीत शोध पत्रिका) अंक-18 वर्ष-2020, मिथिलांचल संगीत परिषद, पृ॰सं॰-89
11. स्वामी, आनन्द वैराग्य, शिक्षा ओशो की दृष्टि में, इशिता क्रिएशन्स, वाराणसी, पृ॰सं॰-195

बिहार की लोक-संगीत परंपरा में प्रयुक्त अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग

प्रो. पुष्पम नारायण*, संजीत कुमार**

संगीत एक अद्‌भुत कला है, कला का उद्‌गम सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा से है। संगीत में गायक या वादक किस राग व किस ताल को प्रस्तुत कर रहा है, पर अधिक ध्यान न देकर उसे किस प्रकार प्रस्तुत कर रहा है उस पर ध्यान दिया जाता है। संगीत कला और सौन्दर्य का घनिष्ट सम्बन्ध है जिसमें कलाजन्य आनन्द, कलात्मक प्रतिभा, संगीत कला की विशेषता, संगीत के रूप में सौन्दर्य उत्पन्न करते के सिद्धान्त आदि का एक बहुत बड़ा शास्त्र है। जर्मन दार्शनिक हीगेल के अनुसार ''शब्द'' हमारी आत्मा के सबसे अधिक निकट है इसलिए शब्दों के माध्यम से हम आध्यात्मिक जगत की अनुभूतियों को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। ध्वनि में जो रूप होता है उसमें संगीत का जन्म होता है, गति में जो रूप होता है उससे नृत्य की अनुभूति होती है। एक गायक व वादक की आत्मा ही स्वरों का रूप धारण करके कल्पना और वेदना से प्रेरित होकर भाँति भाँति से जो स्वरयोजना करने लगती है वही संगीत है। संगीत से आनन्द प्राप्ति का भी एक विशेष कारण है कि सर्वप्रथम ध्यान रखा जाये कि सुन्दरता एंव रूचि के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं या कार्यों में संगीत का आनन्द लेने के लिये अपने मन को ऐसा बनाना पड़ेगा कि वह संगीत का आनन्द ले सके, फिर विभिन्न मनोस्थितियों में एक ही मनुष्य को एक ही वस्तु सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत हो सकती है। इस प्रकार सुन्दरता मन स्थिति पर निर्भर करती है। अतः संगीत का आनन्द लेने के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हमें अपनी जड़ तथा स्थिर प्रवृतियों, इच्छाओं तथा द्वन्द्वों का त्याग करके सहृदयता के साथ स्वयं को संगीत के स्वर तथा लय प्रवाह में पूर्ण रूप से प्रवाहित होना पड़ेगा तभी संगीत अपनी स्वर लहरी से हृदय को एक विशेष गति प्रदान करके स्वतः जीवनमय अवस्था और मादकता प्रदान करेगा तब हमें ऐसा प्रतीत होगा कि देह का बन्धन छूट गया रस की महोदधि उमड़ पड़ा और अपने में आनन्द छा गया।

किसी भी देश या भू-खण्ड पर रहने वाले मानव जाति द्वारा प्रयोग में लाई गई दर्शन, धर्म, संस्कार, सभ्यता, कला, भाषा वस्त्र एवं जीवन दर्शन ही उसकी संस्कृति कहलाती है। भारतीय संस्कृति में लोकगीत, लोकगाथा, वीरगाथा, ईश्वर की स्तुति एवं दंतकथाएँ इसी संस्कृति की धरोहर का प्रतिबिम्ब है। लोकगीतों को आशु रचना कहा जा सकता है। मुख से जब कोई स्वर-लहरी पड़ी तो वह गीत बन जाती है। लोक गीतों में हृदय-पक्ष प्रधान होता है और यह शास्त्र के बन्धन से बिल्कुल स्वतंत्र होती है। लोक संगीत किसी भी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। साहित्य समाज का दर्पण है। लोकसंगीत, लोकरंजन एवं जनसाधारण के अतिरिक्त भावनाओं का प्रतीक है। प्राकृतिक एवं स्वाभिक रूप से स्वयं प्रकट होती है। लोकसंगीत के लिए शास्त्र का कोई स्थान नहीं होता। यह लोगों के बीच से स्वाभाविक रूप से निकलने वाला संगीत है। इसमें स्वररचना, रागविशेष, गमक, खटका, मुर्की आदि का बन्धन नहीं होता है। समस्त विश्व के लोकसंगीत की भाषाएँ भिन्न होती है परंतु भाव आवश्यक रूप से एक ही होता है। लोक का विकसित अर्थ है पूरा विश्व, लोकसाहित्य में लोकगीतों का प्रमुखस्थान है।

* अध्यक्ष, वि. वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि.,दरभंगा

** शोध-छात्र, संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

जन-जीवन में इनका व्यापक प्रचार है। किसी भी देश का जनसमुदाय भावसम्प्रेषण के लिए पहले संकेत उसके बाद भाषा के माध्यम है जो अभिव्यक्ति को बड़ी मधुरता से प्रकट करता है। लोकसंगीत किसी भी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। लोकसंगीत का जन्म व्यक्ति के नैतिक मूल्यों, सामाजिक-उत्सव, त्यौहार, रीति-रिवाजो एवं सामाजिक कार्यों द्वारा हुआ है। यह मानव मन की अनुभूतियों का सरल निर्दोष, उन्मुक्त स्वछंद और सहज अभिव्यक्ति है। यह प्रायः जनसामान्य में प्रचलित संगीत है जो परंपरागत रूप से चलता आ रहा है। लोक-संगीत ऐसा गीत प्रकार है जो व्यक्ति, उच्च, नीच, जाति धर्म इन सब से ऊपर उठ कर लोक मानस से तादात्म्य स्थापित करता है और ऐसी रचना करता है की समस्त लोक का व्यक्तित्व उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगते है। अंग्रेजी के फोक शब्द को हिंदी में लोक, राष्ट्र, जाति सर्वधारण या वर्ग विशेष कहते है। फोक के लिए हिंदी में जन या ग्राम शब्द भी प्रयोग किये जाते है। फोक शब्द के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी का यह कहना है की लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और ग्रामों में फैले समस्त जनता है जिसका व्यवहारिक ज्ञान का आधार पुस्तक और पोथियाँ नहीं है। लोक शब्द अति प्राचीन शब्द है इस शब्द का अर्थ व्यापक है। सृष्टि में सूर्यलोक, चंद्रलोक, भूलोक, पाताललोक इत्यादि अनेक लोक है। लोक साहित्य जहाँ जनता के द्वारा रचित साहित्य है वहाँ जन साहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है। लोकगीत हृदयगत मनोभावों की वाणी है, इसके साथ-साथ जन सामान्य की चेतना और अनुभूति पर आधारित है जिनमें बुद्धि के बजाय परम्परा का प्राधान्य होता है। इस लिए लोकसंगीत में कला पक्ष का वह स्वरूप नहीं मिलता जो कलात्मक साहित्य में देखने को मिलता है।

भारतीय वाद्यों का वर्गीकरण :-

अनाहत और आहत-नाद के ये दो भेद हैं। आहत नाद जिसको हम सुन सकते हैं, व्यवहार में ला सकते हैं, अपने पाँच ध्वनि-रूपों में जिन्हें संगीतात्मक ध्वनियाँ कहते हैं, प्रस्फुटित होता है-

ये संगीतात्मक ध्वनियाँ नखज, वायुज, चर्मज, लोहज तथा शरीरज होती हैं। वीणा आदि वाद्य नखज है, वंशी आदि वाद्य वायुज है, मृदंग आदि वाद्य चर्मज हैं, ताल मंजीरा आदि लोहज हैं तथा कण्ठ ध्वनि शरीरज हैं। इन पाँच प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करनेवाले वाधों को पंचमहावाद्यानि कहा जाता है। इनमें से एक ईश्वर द्वारा निर्मित है, जो नैसर्गिक है तथा अन्य चार प्रकार के वाद्य मानव-विनिर्मित हैं। कुछ अन्य ग्रंथकारों द्वारा ये ध्वनियाँ चार अथवा तीन भी कही गयी हैं किन्तु कोहल के मतानुसार ये पाँच ही हैं। महर्षि भरत और दत्तिल ने इनकी संख्या चार मानी हैं जो तत् अवनद्ध घन एवं सुषिर हैं। प्राचीन युग में विकसित वाद्यों के प्रकारों को देखते हुए महर्षि भरत का वर्गीकरण सर्वथा उचित तथा पर्याप्त प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है :

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्।।1।।
-भ॰ना॰ 28।।

इन चारों प्रकार के वाद्यों के लक्षण को स्पष्ट करते हुए, उन्होनें कहा है :-

ततं तन्त्रीकृतं ज्ञेयमवनद्धं तु पौष्करम्।
धनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरो वरां उच्यते।।2।।
-भ॰ना॰28/2

इस प्रकार तत, अवनद्ध, धन एवं सुषिर क्रमशः तन्त्री वाद्य, पुष्कर वाद्य, ताल वाद्य तथा वंशी वाद्य है। महर्षि भरत के उक्त वचनों से यह भी संकेत मिलता है कि उस समय समस्त वाद्यों को आतोद्य भी कहते थे महर्षि वाल्मीकि तथा महाकवि कालिदास ने बहु-वाद्य-सूचक के रूप में तूर्य शब्द का भी प्रयोग किया है। महाभारत में भी अनेक वाद्यों के साथ बजने के सन्दर्भ में तूर्य का उल्लेख हुआ है। पाली साहित्य में 'तुरिया' शब्द वृन्दवादन (Orchestera) का द्योतक माना गया है। विमानवत्यु में तुरिय पंचांगिाक के अन्तर्गत पाँच प्रकार के वाद्यों का उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें आतत, वितत, आतत-तित, धन तथा सुषिर कहा गया हैं। भरत काल से वर्तमान तक संगीत वाद्यों को चार विभागों में वर्गीकृत किया जाता है-

(1) तत् (तंतुवाद्य) (2) आनद्ध या अवनद्ध (चर्म वाद्य) (3) घन वाद्य (4) सुषिर वाद्य।

1. तत् वाद्य-

प्राचीन काल में तत् वाद्यों का उल्लेख वेद पुराणादि ग्रंथ से वर्तमान काल तक के ग्रंथों में मिलता है। जो वाद्य तार लगे होते हैं तथा उनमें टंकार या रगड़ देकर उनका वादन होता उन्हें तत् वाद्य कहते है। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रचलित कुछ तत् वाद्यों के नाम इस प्रकार हैं -

वीणा, विचित्रवीणा, सारंगी, स्वरमंडल, वायलिन, सितार, दिलरूवा, सरोद, गिटार आदि।

2. अबनद्ध वाद्य -

चर्माच्छादित वाद्यों को अवनद्ध वाद्य कहते हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल वाद्यों तक इनका उल्लेख लयधारणा एवं तालधारणा के लिये हुआ हैं। प्राचीन काल में वर्तमान काल तक उपलब्ध कुछ अवनद्ध वाक्यों के नाम इस प्रकार हैं-

दुंदुभी, पुष्झार, मृदंग, मुरज, मर्दल, पटह, आवज, हुडुवा, करटा, कुडुवा, खंजरी, चंग झाल्लरी, ढक्का, डमरू, डफ, ढोलक, पखावज, दर्दर, पणव, तबला आदि।

वादन-क्रिया की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों को निम्नलिखित पाँच उपवर्गों में विभक्त किया जाता जा सकता है :

1. दोनों हाथों के पंजों से अथवा उँगलियों से बजायें जानेवाले वाद्य। इस वर्ग में पखावज, मृदंगम्(कर्नाटक), तबला, ढोलक, खोल, नाल, मादल आदि वाद्य आते है। इस वर्ग के वाद्य अपनी क्लिष्ट तथा विविधतापूर्ण वादन सामग्री के कारण भारत में सवश्रेष्ठ समझे जाते रहे हैं। इस वर्ग में यद्यपि सभी वाद्य अपनी-अपनी विशेषता रखते है। किन्तु पखावज, तबला, तथा ढोलक का विशेष स्थान है।
2. एक हाथ की उँगलियों से बजनेवाले वाद्य। इस वर्ग में हुडुक, खजरी, दायरा आदि आते है।
3. शंकु से बजाये जानेवाले वाद्य। इस वर्ग में नागड़ा, धौसा, दमामा, ढाक आदि आते है।
4. एक ओर हाथ से तथा एक ओर डण्डी से बजाये जानेवाले वाद्य। इस वर्ग में बड़ा ढोल, पटह, आदि आते है।
5. घुण्डी की चोट से बजनेवाले वाद्य। इस वर्ग में डमरू, ढक्का आदि आते हैं।

3. घनवाद्य-

भारतीय संगीत में तालवाद्यों के रूप में घन वाद्यों का ही प्राचीन काल में उपयोग होता था। ताल वाद्यों का नाम ''तालवाद्य'' ही था। घनवाद्य प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के धातु निर्मित वाद्यों को कहते हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रचलित कुछ घन वाद्यों के नाम-घर्घर, मंजीरा, शुद्रघंटा, कल्पतरू, चिमटा, कम्रा, ताल, कास्यताल, घंटा, जयघंटा, घुंघरू आदि।

4. सुषिर वाद्य-

फूक या हवा के द्वारा घर्षण से ध्वनि उत्पन्न कराकर बजाये जाने वाले वाद्य सुषिर वाद्य कहतें हैं। प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के ग्रंथो में ऐसे वाद्यों का उल्लेख हैं। प्राचीन काल से वर्तमान तक उपलब्ध कुछ वाद्यों के नाम इस प्रकार हैं- वेणु, वंशी, मुरली, बांसुरी, तूणव, अलगोजा, शंख, सींग, तुतारी, तुरहि, शहनाई, सुनई, पुंगी, नागस्वस्म् आदि।

बिहार के प्रमुख अवनद्य वाद्य एवं उनका प्रयोग-

तबला- फारसो के तब्ल शब्द से वर्तमान काल में तबले का जन्म हुआ। गायन, नृत्य, सितार, सरोद, बाँसुरी और शहनाई इत्यादि सभी वाद्यों के साथ ताल का समय नापने के लिए यह वाद्य बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। इसके दो खंड हैं। पहले को दायाँ और दूसरे को बायाँ कहते हैं।

ढ़ोलक- लोकसंगीत के वाद्यों में 'ढोलक' अत्यंत लोकप्रिय वाद्य है। ढोल और ढोलक के बीच में आधार मूलक अंतर होता है। ढोल का आकार अर्द्धगालाकार होता है, किन्तु ढोलक का आकार लंबा व बेलनाकार होता है। इसका खोल सागवान, आम, नीम, शीशम, कटहल आदि की लकड़ी से बनाया जाता है। खोल की लंबाई औसतन डेढ़ फुट की होती है। दोनों ओर के खुले मुखों का व्यास लगभग छः इंच से दस इंच तक का होता है। मुख का व्यास उसके बनावट पर

निर्भर करता है। खोल को कठरा भी कहा जाता है। इसका मध्य भाग उभरा हुआ होता है जबकि दोनों तरफ के खुले मुख मध्य भाग की अपेक्षा संकरे होते हैं। इसके दाहिने भाग को सम तथा बांये भाग को गद कहा जाता है। सम वाले भाग का मुख गद की अपेक्षा कुछ छोटा होता है।

ढोलकीः- ढोलकी का आकार छोटा सुराही जैसा होता है, जिसके पेंदी के तरफ से चर्म मढ़ा रहता है। मिथिला के पमरिया इसे भी बड़ी कुशलता से बजाते है। बच्चे के जन्मोत्सव के अवसर पर पारंपरिक धाराओं को अपनाए पमरिया जाति के लोग ढोलकी बजाकर सोहर, खेलौना, पमारा आदि गीत गाते हैं। मिथिला क्षेत्र में एक प्रचलित वाग्धरा है कि जिसका तोंद (पेट) बढ़ा रहता है, उसे इस वाद्य का उपमा देते हुए 'ढोलकी सन पेट; कहा जाता है।

भीतर से खोखले इस कठरा के छोटे वाले मुख (सम) पर पतले चमड़े की पूड़ी और बड़े वाले मुख (गद) पर अपेक्षाकृत मोटे चमड़े की पूड़ी डालकर उसे सूत की डोर से गजरों में डालते हुए गोलाई के चारों ओर बांधा जाता है। डोरी डालते समय उसमें पीतल या लोहे के छल्लें (कड़ियां) पिरों दी जाती है, ताकि उनके माध्यम से डोरी में तनाव दिया जा सके। ढोलक को उतारने व चढ़ाने तथा स्वर में मिलाने की प्रक्रिया इन कड़ियों की सहायता से की जाती है। मढ़ते समय इसके गद वाले भाग की पूड़ी के भीतरी सतह पर, चार-पांच इंच के वृत्तनुमा, राल से बने विशेष पदार्थ का लेप चिपकाया जाता है, इसे मसाला या स्याही कहते हैं। गद की आवाज में गंभीरता एवं गूंज, इसी मसाले के कारण होता है।

ढोलक को गरदन में लटकाकर अथवा बाएं पैर से दबाकर बजाया जाता है। इसके वादक को 'ढोलकिया' कहा जाता है। आकार-प्रकार एवं वादन के दृष्टिकोण से मिथिला में ढोलक का कई प्रकार देखने को मिलता है। भजन-कीर्तन में बजनेवाला ढोलक दो हाथ लम्बा होता है, इसे 'कीर्तनियां ढोलक' कहते हैं। मुसलमान पीर-फकीर का ढोलक मध्यम आकार का, लगभग डेढ़ हाथ का होता है। इसे 'फकीराना ढोलक' कहा जात है। इसके गद पर लकड़ी का प्रयोग तजिया के अखाड़ाबाजी, दाहा के जुलूस, झरनी नाच आदि में होता है। अवसर विशेष पर इसे फकीरगण वादक बजाकर 'हस-हसैल' गायक गायन व नृत्य भी करते हैं। पेशेवर नट जाति जो ढोलक बजाता है उसे 'नटबा ढोलक' कहा जाता है। यह ज्यादा से ज्यादा एक हाथ लम्बा होता है।

शास्त्रीय संगीत व राग-रागिनियों के निर्धारित ठेके, ताल, बंदिशें, लय, मात्राएं, तोड़े मुरके आदि जो तबले, मृदंग आदि वाद्यों से बजाये जाते हैं, ये सब वादक की कुशलता से, ढोलक से भी बजाये जा सकते है।

मृदंगः- मृदंग ढोलक के आकार का काष्ठ (लकड़ी) से निर्मित वाद्य है। इसे मुरज भी कहा जाता है। इसके वादक 'मृदंगिया' कहलाते हैं। मिथिला में कत्थ नाच, कीर्तनियां, विदापत और चौपहरा नाच में मृदंग बजाने की परंपरा रही है।

मानारिः- मानारि मृदंग से मिलता-जुलता वाद्य है। इसे बजाने वाले को 'मनरिया' कहा जाता है। मिथिला में कला, विषहरि, काली, सलहेस आदि लोक देवी-देवताओं के भओं के अवसर पर इसका वादन किया जाता है। इसके बोल व धुन पर भगत व घोड़ा नृत्य करते हैं। मानारि में घुघरू भी बंधा रहता है, जो इसके साथ ही छुम-छुम की ध्वनि के साथ रंजकता उत्पन्न करता है।

मादलः- मादल, मृदंग जाति का ही एक वाद्य है। मिथिला में निवास करने वाले धांगड़, सौतार आदि जनजाति में इस वाद्य का काफी प्रचलन रहा है। इस वाद्य का उल्लेख मिथिला के महाकवि विद्यापति ने अपने पद में भी किया है। उद्धृत पद है-

'डिमडिम डम्फ डिमिक डिम मादल।
रूनझुन मंजीर बोल।।'

नगाड़ा -नगाड़ा वाद्य धातु व मिट्टी से बना कड़ाहीनुमा दो बड़े पात्रों से बनाया जाता है। जिसका एक भाग दूसरे भाग की अपेक्षा छोटा होता है। दोनों पात्रों के मुख पर भैंस का मोटा चमड़ा मढ़ दिया जाता है। चमड़े की पुड़ियों को चमड़े की बद्धी से खींचकर चारों ओर से बांध दिया जाता है।

वैसे तो यह युग्म वाद्य है, इसे लकड़ी के दो डंडों से आधारित कर बजाया जाता है। इसकी आवाज भारी व बुलन्द होती है, जो दूर-दूर तक सुनाई देता है। प्राचीन काल में यह वाद्य 'राजशाही' व गौरव का प्रतीक माना जाता था। मिथिला में

नगाड़े का प्रयोग छकरबाजी, मनचुन्ही तथा चौकीतोड़ नाच अथवा नौटंकी में संगत वाद्य के रूप में किया जाता है। नगाड़ा से धड़ाम-धड़ाम का स्वर निःसृत होता है। बड़ा नगाड़ा नीचे स्वर में तथा छोटा नगाड़ा बहुत ऊँचे स्वर में मिलाया जाता है। इसके स्वर की ऊंचाई के लिए प्रायः इसे आग में सेंकते हैं। नीचा स्वर करने के लिए बड़े नगाड़े की सतह में बने छेद से पानी डाला जाता है। बुकनेन के सूचना के अनुसार पूर्व में मुसलमान फकीर का एक जाति नगाड़ा बजाकर भीख मांगता था जिसे 'नगारची' कहा जाता था।

डफिलाः- चार अंगुली चौड़ा बड़े थाली के आकर का लकड़ी के घेरा जैसा वाद्य होता है। इस घेरा का एक तरफ चर्म से मढ़ा रहता है। लकड़ी के घेरा के बीच-बीच में पांच-छः जोड़ी धातु का झांझ लगा रहता है। लकड़ी के घेरा के बीच-बीच में पांच गाथा के गायन की परिपाटी रही है।

मिथिला में डफिला वादन के संग नृत्य करने की एक विशेष शैली को डफिला नाच कहा जाता है। डफिला के चाम पर हाथ का थाप और झांझ के ध्वनि मिश्रण से खूब तीव्र स्वर निकलता है। डफिला को चंगा भी कहा जाता है, इसका उल्लेख वर्ण-रत्नाकर में हुआ है। इस वाद्य का स्वर तीक्ष्ण होने के कारण अस्त-व्यस्त मनःस्थिति को 'मिथिलो चंग उड़िआयब' कहा जाता है।

करचक्रः- चक्रवाद्य अथवा करचक्र का उल्लेख संगीतसार में प्राप्त होता है जो निम्नलिखित हैः ''दस अंगुल मोटा, चार अंगुल लम्बा एक गोल चक्रकार आकार, जिसका बीच आरपार से पोला होता है।एक अंगुल का दल रहेगा।उसके एक मुख्य को चमड़े से मढ़ा जाता है। बजाते समय चमड़े को पानी से भिगोकर बायें हाथ से उसका किनारा दबाकर दाहिने हाथ से बजाया जाता है। इसमें 'डवक' यह पाठाक्षर होता है।''

'संगीतसार' में इसके सम्बन्ध में लिखा है कि इसको लोक में 'दायरा' या 'खंजरी' कहते है।

खंजरीः- डफ, दायरा तथा करचक्र के आधार का, किन्तु नाप में उससे छोटा अवनद्ध वाद्य खंजरी कहलाता है। खंजरी में तीन या चार जोड़ी छोटी झाँझे उसके लकड़ी के घेरे को काटकर लगाती जाती है। ये झाँझे खंजरी बजाते समय स्वयं हिलती रहती हैं तथा खंजरी के आवाज के साथ मिलकर इनकी बड़ी सुन्दर प्रस्तुति होती है। इसका घेरा लकड़ी का बनाया जाता है जिसमें एक ओर पतली खाल मढ़ी रहती है। यह खाल इतनी खिंची रहती है इसको बजाये समय इसे ढ़ीला करने के लिए गीलें कपड़े से पोंछते रहते है। इसमें कहरवा, दायरा के बोल बड़े अच्छे ढ़ंग से बजते हैं। दाहिने हाथ से ढोलक के सामान बोल निकलते हैं। बायें हाथ से उसे पकड़ते हैं। पकड़े रहते भी मध्यमा तथा अनामिका उँगली की पोरों से उसके किनारे के खाल को कभी-कभी दबाते जाते है जिससे उसके ध्वनि में गुमक उत्पन्न होती है। इस सामान्य खंजरी से आकार में कुछ बड़ी खंजरी भी होते है। इसका घेरा पीतल के चादर का बनाया जाता है। झाँझे इससे भी लगी रहती है। इस प्रकार के खंजरी का नृत्य के साथ ही विशेष प्रयोग होता है।

दक्षिण भारत में अहोबल के बताये हुए चक्रवाद्य के समान एक वाद्य गंजीरा के नाम से आज भी प्रयुक्त होता है। उत्तर भारत में खंजरी, चंग आदि का प्रयोग भजनों, खयालों (विशेष प्रकार के शायरी युक्त गीत) तथा लोकगीत के साथ प्रयुक्त होता है।

डमरूः- डमरू लगभग दो मुट्ठी लम्बा तथा बीच में एकदम पतला होता है। इसके मुख का व्यास लगभग एक मुद्धी होता है, जो पतले चमड़ा से ढका रहता है। ये चमड़े के दोनो ओर से एक पतली रस्सी से कसे रहते है। इस रस्सी के माध्य में,जहाँ वाद्य पतला होता है, रस्सी के ऊपर एक कड़े के सामान रस्सी कसी रहती है और उसके दोनों छोर लटकते रहते है। इन्हीं दोनों सिरो पर एक-एक घुण्डी बनी रहती है। इसे सीधे हाथ सक मध्य स्थान पर पकड़कर हाथ धुमाया जाता है जिससे घुण्डियाँ मुखों पर प्रहार कर शब्द उत्पन्न करत है।

वर्तमान समय में जोगी लोग डमरू के दोनो ओर की घुण्डियों को बायें हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से बेंत के एक टेढ़े टुकड़े से बजाते हैं। वर्तमान शिव-मन्दिरों में इस सामान्य आकार से लगभग तिगुना अथवा चौगुना बड़ा डमरू होता है जो आरती के समय दोनो हाथो से मध्य स्थान पर पकड़कर बजाया जाता है। इस बड़े आकार के डमरू का रूप प्रायः वर्तमान हुडुक जैसा ही होता है किन्तु वादन-भेद के कारण इसे डमरू ही कहा जाता है। दक्षिण भारत

में बड़े डमरू को हुरूक्का कहते है। उत्तर भारत में डमरू का विशेष प्रयोग बन्दर, भालू आदि के नाच दिखाने के लिए भी किया जाता है।

डम्फाः- यह वाद्य डफिला या चंग से मिलते-जुलते आकृति का पर उससे बड़ा होता है। इसका घेरा लकड़ी या लोहे के परत से बनाया जाता है। घेरे का व्यास करीब तीन फुट या इससे अधिक होता है। चक्रकार घेरे का एक मुख बकरे की खाल से मढ़ दिया जाता है। ऐसे वाद्य को 'डम्फा' कहा जाता है।

मिथिला में मुख्यतः होली के अवसर पर इसे बजाकर फाग गाने की परंपरा आज भी विद्यमान है। अन्य अवसरों पर भी इसका वादन किया जाता है। होली के दिनों में लोग इस वाद्य का वादन करते हुए रात-रात भर नाचते गाते रहते हैं। इस वसंत वाद्य का उल्लेख कवि कोकिल विद्यापति के वसंत राग विषय के पद में हुआ है-

'डिम डिम डम्फ डिमिक डिम मादल'

बुकनेन के अनुसार मुसलमान फकीर का एक जाति 'डम्फा' बजाकर भीख मांगता था, जिसे 'डम्फावाला' कहते थे।

भारतीय संगीत का आधार लोक संगीत है। भारतीय शास्त्रीय संगीत हमारे लोकसंगीत का ही परिष्कृत स्वरूप है। भारत के कई क्षेत्रों में लोक संगीत का एक बहुत बड़ा कोश है। सामान्यतः एक मान्यता है की जिस देश की लोक संस्कृति उन्नत होती है; निश्चित रूप से उस देश का इतिहास गौरवपूर्ण होता है। हमारी लोक संस्कृति और इसमें भी लोक संगीत का तो कहना ही क्या, यह विभिन्न सुंदर और सुगंधित पुष्पों के पुष्पगुच्छ की तरह है। कुछ दुरी तय करें तो इसका अलग स्वाद पाएंगे।एक छोटी सी भी यात्रा करने पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो लोग कहते हैं कि पानी बदल गया है उसी प्रकार बोली और बोली ही नहीं अपितु बोली के बोलने का ढ़ंग भी बदल जाता है। इसी तरह हमारा लोक संगीत भी है प्रत्येक कुछ दूरी के बाद एक नया स्वाद, किन्तु ढ़ंग बदलने से इसकी मधुरता में कोई अंतर नहीं आता है।

तबला-मृदंग जैसे ताल वाद्य के समान अन्य अवनद्य वाद्यो की ध्वनि में भी आनन्द प्रदान करते की क्षमता होती है। तालवाद्यों से उत्पन्न चमत्कारिक, ध्वन्यात्मक, लयप्रद, आनंदानुभूति की विलक्षणता, किसी वादन या गायन के साथ संगति के रूप में किये जाने वाले वादन के क्षमता में होती है। इसी विलक्षणता के कारण तालवाद्यों के बिना लोकसंगीत का गायन-वादन अधूरा रहता है। लोक संगीत समाज की एक सहज अभिव्यक्ति और आवश्यकता है। हमारे भारत देश में विभिन्न प्रांतो की अपनी लोक-भाषा है और हर भाषा अपने आप में बहुत ही लोकप्रिय और पारंपरिक है, जिस पर आधारित कई पारंपरिक लोकगीत गाये जाते है। इन पारंपरिक गीतों के कई प्रकार होते है। जैसे की ऋतु-गीत, संस्कार-गीत, पर्व-गीत, विवाह-गीत, चैती, कजरी, होरी आदि। बिहार में गाये जाने वाले इन सभी प्रकार के लोक संगीतों के सौन्दर्य उत्कर्ष में अवनद्य-वाद्य अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।

संदर्भ ग्रंथ :-

(1) मिश्र, पंडित छोटेलाल, ताल-प्रबन्ध, पृष्ठ संख्या-11

(2) कुमार, डॉ॰ अजय, पखावज की उत्पति विकास वादन शैली, पृष्ठ संख्या-9

(3) सिंह, डॉ॰चित्रलेखा कला शिक्षा

(4) मिश्र, डॉ॰ लालमणि भारतीय संगीत वाद्य पृष्ठ संख्या-48,143,157

(5) सिंह, डॉ॰ तेज नेट संगीत, टाक पृष्ठ संख्या-10

(6) सिंह, डॉ॰ गजेन्द्र नारायण बिहार की संगीत परम्परा पृष्ठ संख्या-30-48

(7) कुमार संजीत, बिहार के संगीत परंपरा में प्रयुक्त अवनद्य-वाद्य तथा सौन्दर्य उत्कर्ष में उसकी भुमिका (प्रकाशित शोध आलेख), भैरवी, संगीत शोध पत्रिका, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा, अंक-18, वर्ष-2021, पृ. सं.-63

(8) भैरवी, संगीत शोध पत्रिका, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा, अंक-18, वर्ष-2021, पृ.सं.-104

(9) त्रिपाठी पंडित रामनरेश, कविता कौमुदी, भाग-5, पृ. सं.-2

(10) रंजन, राजीव कुमार, आचार्य रजनीश की 'आनन्दायी शिक्षा' में संगीत की प्रासंगिकता (शोध आलेख), भैरवी, संगीत शोध पत्रिका, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा। पृ॰सं॰-58

सांगीतिक रचनाएँ

प्रोफ़ेसर ओजेश प्रताप सिंह

किसी भी कलाकार का हृदय संवेदनशील तथा प्रवृत्ति सृजनशील होती है। उसकी कल्पना, सृजनशीलता, कला-कौशल अथवा उसके कलात्मक चिंतन का परिचय उसके कला प्रदर्शन से अथवा उसकी रचना के माध्यम से प्राप्त होता है। यह तो सर्वविदित ही है कि कलाकार की रचना उसकी कला-सिद्धि तथा कल्पनाशक्ति का प्रतिबिम्ब होती है। हिन्दुस्तानी संगीत की यदि बात करें तो इसके अन्तर्गत कालान्तर में विभिन्न विधाओं का उद्‌भव एवं विकास, अनेकानेक राग स्वरूपों की रचना और उनमें विभिन्न विधाओं में असंख्य रचनाओं की निर्मिति विद्वान संगीतज्ञों तथा मनीषियों के कलात्मक चिंतन एवं सृजनात्मक कल्पनाशीलता का ही परिणाम है। सदियों से गुरू-शिष्य परंपरा में अनवरत चलती आ रही इस संगीत-धारा में अनेक महान संगीतज्ञों ने नये रागों व रचनाओं के रूप में विशिष्ट योगदान दिया है। विभिन्न रागों में अपने विशिष्ट दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति वह अपनी सांगीतिक रचनाओं अथवा 'बंदिशों' के माध्यम से करते आये हैं। किसी भी राग की प्रामाणिक व्याख्या कर सकने की क्षमता अर्जित करने के लिये उस राग की विभिन्न रचनाओं को सीखकर अध्ययन करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। इससे एक ओर जहाँ रागों के समुचित विश्लेषण की समझ विकसित होती है, वहीं दूसरी ओर, उनमें अपनी नवीन कल्पनाभिव्यक्ति भी परिपक्व होती है। इसी संदर्भ में, गुरू - कृपा से प्राप्त ज्ञान के आधार पर कुछ स्वरचित रचनाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं -

Key words: *सांगीतिक रचना, स्वरार्थ प्रबन्ध, राग श्री, राग शुद्धसारंग, राग भीमपलासी*

स्वरार्थ प्रबन्ध - तीनताल (मध्यलय)

स्थाई : रग रग में राम समा रे
साधु संग का मधु पी रे।
अंतरा : मानो पाप नसैं सगरे
सुन सुरग मग साधन, पार परे।।

स्थाई

ग
रे ग
र ग

ग ग		सा	म
रे ग म रे	- म - सा	म - - -	रे - , सा नि़
र ग में रा	ऽ म ऽ स	मा ऽ ऽ ऽ	रे ऽ , सु न
0	3	×	2

		म	ग ग
सा - ध़ सा	- ग ग -	म ध प -	रे - रे ग
सा ऽ धु सं	ऽ ग का ऽ	म धु पी ऽ	रे ऽ , र ग
0	3	×	2

अंतरा

म			
म - नि -	प - प नि	सं - सं गं	रें - , सं नि
मा ऽ नो ऽ	पा ऽ प न	सैं ऽ स ग	रे ऽ , सु न
0	3	×	2

	रें नि	नि प	ग ग
सां रें गं मं	गं सां - ध	नि प - रे	प रे , रे ग
सु र ग म	ग सा - ध	न पा - र	प रे , र ग
0	3	×	2

(यह प्राचीन 'स्वरार्थ प्रबन्ध' का ही एक आधुनिक उदाहरण है जिसमें स्वराक्षरों से ही पदरचना होती है)
रग-रग में = नस-नस में, सुरग मग साधन = स्वर्ग के मार्ग का साधन, पार परे =. मोक्ष प्राप्त करे

संगीत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

राग भीमपलासी - तीनताल (मध्यलय)

स्थाई : करो ना मोसों रार कन्हाई
निलज तुम करो न यूँ मोसे ढिठाई।

अंतरा : बार बार समझावत हारी
देखत हैं सब सखियाँ सारी
ठिठोरी करत न भावत ये लरकाई।।

स्थाई

नि सां
प मग म प नि
क रोऽ ना मो सों
3

	प	म	सा
प सांनि सां नि	ध पम नि प	ग रे सा, रे	नि सा ग म
रा ऽऽ ऽ ऽ	र ऽऽ ऽ क	न्हा ऽ ई , नि	ल ज तु म
×	2	0	3
सां सां	सां नि	प नि	
प नि सां गं	रें सां नि सां	नि ध प , प	
क रो ना यूँ	मो ऽ सों ढि	ठा ऽ ई , क	
×	2	0	

अंतरा

			म - म म
			बा ऽ र बा
			3
म			
- प ग म	प - नि नि	सां - सां -	नि नि सां मं
ऽ र स म	झा ऽ व त	हा ऽ री ऽ	दे ऽ ख त
×	2	0	3
सं सां सां सां	नि प सां		
गं - रें सां	नि नि सां नि	ध - प निप	मग म प नि
हैं ऽ स ब	स खि याँ ऽ	सा ऽ री ठि	ठो री क र
×	2	0	3
सां सां सां सां	प प नि सां		
प नि सां नि	रें नि सां नि	ध - पम,	प मग मप नि
त न भा व	त ये ल र	का ऽ ईऽ ,	क रोऽ ना मो सों
×	2	0	73

राग श्री - एकताल (द्रुत लय)

स्थाई : आवो आवो तुम प्रीतम प्यारे।

अंतरा : तुम बिन मोहे कल न परत
तरसत जिया, धरत न धीर।।

स्थाई

			सारे मंप	धप मंप	निसां सां
			आऽ ऽऽ	वोऽ आऽ	ऽऽ वो
			0	3	4
नि			प		
रें -	- सां	- -	रें नि	ध प	- पमं
तु ऽ	ऽ म	ऽ ऽ	प्री ऽ	ऽ त	ऽ मऽ
×	0	2	0	3	4
ध॒ मं	ग रेग	रे सा			
प्या ऽ	ऽ ऽऽ	ऽ रे			
×	0	2			

अंतरा

सां			प		
नि निरें	नि ध	प प	रे म	प नि	सां सां
तु मऽ	बि न	मो हे	क ल	ना प	र त
×	0	2	0	3	4
रें रेंगं	रें सां	नि निरें	नि ध	प प	मप निसां
त रऽ	स त	जि याऽ	ध र	त न	धीऽ ऽऽ
×	0	2	0	3	4
रेंनि निध	पमं गरे	रेग रेसा	सारे मंप	धप मंप	निसां सां
ऽऽ ऽऽ	ऽऽ ऽऽ	ऽऽ रऽ	आऽ ऽऽ	वोऽ आऽ	ऽऽ वो
×	0	2	0	3	4

राग शुद्धसारंग - एकताल (द्रुत लय)

स्थाई : अब मोरी बात सुनो
कब आवोगे श्याम धाम ।

अंतरा : अँखियाँ राह तकत तुमरी
दरसन को नित प्यासी
बेगि आवो श्याम धाम ।।

स्थाई

										रे									
										म	रे			सारे	सा				
										अ	ब			मोऽ	री				
										3				4					
			नि़							म									
नि़	-	ध़	सा	नि़	रे	सा	-	रे	म	पनि	सारें	पनि	सां	सां	सां	सां	सां	सां	रें
बा	ऽ	ऽ	त	ऽ	सु	नो	ऽ	क	ब	आऽ	ऽऽ	राऽ	ऽ	ह	त	क	त	तु	म
ग		0		2		0		3		4		0		2		0		3	
सां	नि	निध	प	म	प	रे	म	रे,	सा	सा़रे	सा							म	
वो	ऽ	गेऽ	श्या	ऽ	म	धा	ऽ	म	मो	ऽऽ	री	रें	रें	सां	-	नि	ध	नि	-ध
×		0		2		0		3		4		स	न	को	ऽ	नि	त	प्या	ऽऽ
												×		0		2		0	
																			म
												म	पनि	सां	निध	प	म॑	प	रे
												गि	आऽ	ऽ	वोऽ	श्या	ऽ	म	धा
												×		0		2		0	

अंतरा

																		म	
																		रे	म॑ प
																		अँ	खि यौं
																		4	
																			म म
सां	-	रें	रेंमं																
री	ऽ	द	रऽ																
0		4																	
प	प	रे	-																
सी	ऽ	बे	ऽ																
3		4																	
म	रे,	सारे	सा																
ऽ	म,	मोऽ	री																
3		4																	

त्रिपुष्कर से तबला

डॉ. शोभित कुमार नाहर, प्रेम प्रकाश प्रजापति

संगीत मनुष्य के हृदयगत भावों को व्यक्त करने का एक माध्यम है जिसकी अनुभूति गायन, वादन एवं नृत्य के द्वारा होता है और इन तीनों के मिश्रण या सम्मिलित रूप को ही संगीत कहते हैं। संगीत ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ कला के रूप में जाना जाता है। इसलिए कहा गया है कि-

साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।

अर्थात जो मनुष्य साहित्य एवं संगीत को नहीं जानता वह बिना सिंग, पूँछ के पशु के समान है।

संगीत का मूल आधार स्वर एवं लय है। स्वर का प्रयोग रागों में एवं लय का प्रयोग तालों में किया जाता है तथा दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए लय को मापने के लिए ताल की उत्पत्ति हुई। संगीत का अस्तित्व लय एवं ताल पर ही टिका होता है क्योंकि संगीत की समस्त क्रियाएं ताल पर ही निर्भर हैं।

मनुष्य की सृजनात्मक क्रियाशीलता के कारण अनेक प्रकार के ताल वाद्यों का विकास हुआ तथा प्राचीन काल से वर्तमान काल तक जिन ताल वाद्यों का प्रयोग होता चला आ रहा है वे निम्न प्रकार से हैं—भूमिदुंदुभी, पुष्कर, मृदंग, मर्दल, पणव, दर्दुर, पटह, आवज, मुरज, हुडुक्का, खंजरी, चंग, झल्लरी, नगाड़ा, ढोल, डमरू, डफ, नक्कारा, दुक्कड़, पखावज, ढोलक, खोल, नाल, तबला आदि।

उत्तर भारतीय संगीत में अवनद्ध वाद्यों में सर्वाधिक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण स्थान वर्तमान में तबले को ही प्राप्त है। लेकिन आधुनिक काल के इस लोकप्रिय वाद्य तबला की उत्पत्ति और विकास के विषय में अब भी निर्विवाद रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं हो पाया है।

प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध न होने के कारण इस विषय में विभिन्न विद्वानों के विचारों में परस्पर विरोधाभास है।

तबले की उत्पत्ति तथा विकास के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिपूर्ण धारणाएं प्रचलित हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन ग्रन्थों मे 'तबला' शब्द का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। यहाँ तक कि उत्तर मध्यकालीन ग्रन्थ 'संगीत परिजात' में भी तबले का कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है।

आधुनिक काल में सर्वाधिक लोकप्रिय अवनद्ध वाद्य तबला के इतिहास के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक जानकारी नहीं प्राप्त होने के कारण किंवदन्तियों के आधार पर अमीर खुसरो को ही तबले का जन्मदाता मान लिया गया, किन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया गया।

तबला वाद्य की उत्पत्ति किस शताब्दी में तथा कब हुआ? इस वाद्य का आकार किस वाद्य के आधार पर हुआ तथा इसके जन्मदाता कौन हैं?

अगर अलाउद्दीन खिलजी (1290-1320) के समकालीन अमीर खुसरो ही तबला के जन्मदाता (अविष्कारक) हैं तो प्रश्न यह उठता है कि (1700-1725) अठारहवीं शताब्दी में सिद्धार खाँ द्वारा 500 वर्ष बाद यह प्रचार में क्यों आया तथा इतने दिनों तक इस वाद्य की क्या स्थिति रही? इस वाद्य में कौन सी ऐसी विशेषता है जिसके कारण

* शोध निर्देशक : असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत सितार विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोध छात्र, वाद्य विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वर्तमान में भारतीय संगीत में प्रयुक्त होने वाले ताल वाद्यों में इसका स्थान शीर्ष पर है। इस पर हम क्रमशः विचार करेंगे तथा तबला शब्द की व्युत्पति तबले के उद्‌गम्‌, विकास एवं स्वरूप के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के विचारों एवं मतों का अवलोकन करेंगे।

भगवत शरण शर्मा की पुस्तक 'ताल प्रकाश' की प्रस्तावना में बनारस घराने के सुप्रसिद्ध तबला वादक पं. किशन महाराज जी लिखते हैं कि ''कितने ही लेखकों का मत है कि खब्बे हुसैन ढोलकिया जब सुप्रसिद्ध मृदंग वादक श्री कुदउ सिंह जी (कुदौ सिंह) से बजाने में पराजित हुए तो कुदौ सिंह जी ने तलवार से उसकी उंगलियाँ काट ली। इस पर खब्बे हुसैन ने दाहिने को बाएं हाथ से तथा बाएं की कटी हुई उगंलियों वाले दाहिने हाथ से अभ्यास करके बोलों में काफी मुलायमियत (मिठास) पैदा की, जिसे सुनकर कुदौ सिंह बहुत प्रसन्न हुए। तदुपरान्त खब्बे हुसैन ने ही मृदंग को काटकर खड़ा रख दिया और उसका वादन किया 'तब भी बोला' इसलिए उसका नाम तबला रखा।''[1] इस तरह पखावज दो भागों में बंटकर भी नए वाद्य के रूप में बोला। अतएव 'तब भी बोला' शब्दों का अपभ्रंश होकर तबला शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।

किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि तबला वादन की प्रक्रिया के विकास में पखावज वादकों का विशेष योगदान होने पर भी पखावज को दो भागों में बांट देने से तबला वाद्योत्पति और तब बोला से 'तबला' शब्द की व्युत्पत्ति का विचार तर्कसंगत व वैज्ञानिक प्रतीत नही होता है। क्योंकि बनावट की दृष्टि से अगर पखावज को दो भागों में काटकर जब उसके प्रत्येक भाग को खड़ा किया गया होगा तो उसके नीचे का पृथ्वी पर टिका हुआ हिस्सा खुला रहा होगा, जैसे की विदेशी अवनद्ध वाद्य कांगो-वांगो में होता है। जबकि तबला में ऐसा नहीं होता है, इसके दोनों भागों में नीचे के पेंदे पूर्णतया बंद रहते हैं। साथ ही मध्य युग के किसी सांगीतिक ग्रंथ में तबला वाद्य के पूर्वरूप 'तबोला या तब्बोला' नामक किसी अवनद्ध वाद्य का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

इस संदर्भ में पं. विजय शंकर मिश्र का विचार इस प्रकार है—''एक बहुत बड़ा वर्ग यह मानता है कि पखावज को बीच से काटकर सूफी कवि हजरत अमीर खुसरो ने तबले का आविष्कार किया। यह बात अपने आप में बेतुकी है। किसी साज को काटकर किसी साज का आविष्कार हो यह अच्छी सोच नहीं है। किसी साज की प्रेरणा लेकर किसी साज का आविष्कार हो यह तो माना जा सकता है। अगर पखावज को काटकर तबला बना होता तो उसके नीचे का हिस्सा खुला हुआ होता जैसे कांगो-बांगो में होता है। लेकिन तबले में ऐसा नहीं है।''[2]

कुछ विद्वानों के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के दरबारी कवि अमीर खुसरो (सन् 1275 से सन् 1325) ने तबले का आविष्कार किया। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मुस्लिम शासन काल में अलग-अलग समय में दिल्ली में खुसरो नाम के कई व्यक्ति हुए।

इस संदर्भ में पं. विजयशंकर मिश्र कहते हैं कि ''तबले के आविष्कार के विषय में एक हजरत अमीर खुसरो और उ. सिद्धार खाँ दोनों नाम एक साथ मिलते हैं। इस देश में अमीर खुसरो कई हुए। एक अमीर खुसरो अठारहवीं शताब्दी में हुए, उनका नाम था खुसरो खाँ, कुछ लोग उनको अमीर खुसरो खाँ भी कहते हैं। वो पंजाब की ढाढ़ी जाति के कलाकार थे। दिल्ली में मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार में वो थे। उनके पीछे की ओर जब हम देखते हैं तो पता चलता है कि पंजाब के पखावजी उ. रहमान खाँ के वो पुत्र और शिष्य थे। अमीर खुसरो खाँ की ये परम्परा मिलती है जो तबले से जुड़ती है।

हजरत अमीर खुसरो तेरहवीं शताब्दी के नहीं बल्कि अमीर खुसरो खाँ जो अठारहवीं शताब्दी के थे। अमीर खुसरो खाँ मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार में आये। उन्होंने पखावज को आधार लेकर तबले को आगे बढ़ाया। इतना सब करने के बाद फिर वो परम्परा एकदम से गायब हो जाती है और आगे जो नाम आता है वह उ. सिद्वार खाँ (सुधार खाँ) जिनसे दिल्ली घराना शुरू हुआ। सुधार खाँ के पिता कौन थे, उनके गुरु कौन थे, उनकी परम्परा कहाँ से आई इसके बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

मैंने दिल्ली घराने से भी इस पर बात की लेकिन उनके पास भी इस बात का जवाब नहीं है कि सुधार खाँ किनके पुत्र थे तथा वो किससे सिखे

थे। तो सुधार खाँ के पीछे की परम्परा नहीं मिलती है और अमीर खुसरो खाँ जिन्होंने इतना बड़ा काम किया उनके आगे की परम्परा नहीं मिलती है। उन्होंने जिसको सिखाया उनके कोई बेटे हुए होंगे, उनके कोई शिष्य हुए होंगे। इसके विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है। इसके पीछे क्या कारण है।

मेरी जो सोच है वो यह है कि खुसरों खाँ के इस योगदान को देखते हुए उन्हें ही सुधार खाँ की उपाधि दी गई और वस्तुतः ये दोनों दो व्यक्ति नहीं बल्कि एक ही व्यक्ति हैं। हमारे संगीत का इतिहास इसका बहुत बड़ा गवाह है कि हमारे अनेक महान कलाकार अपने वास्तविक नाम से नहीं बल्कि अपने उपाधि सूचक नामों से जाने गये।''3

इस संदर्भ में पं. नयन घोष कहते हैं कि ''तबला अगर अमीर खुसरो ने बनाया तो वो तेरहवीं सदी में थे। तो क्यों सत्रहवीं सदी तक उसका कहीं किसी हिस्टोरिकल रिकार्ड में कहीं भी मेन्सन नहीं है।''[4]

कुछ विद्वान तबले का जन्म भरत कालीन त्रिपुष्कर में वर्णित उर्ध्वक एवं आलिंग्य से मानते हैं। जिनके तीन अंग बतलाये गये हैं। आंकिक, उर्ध्वक तथा आलिंग्य। आठवीं एवं नवीं सदी के बाद त्रिपुष्कर के स्वरूप में बदलाव हुआ और त्रिपुष्कर का केवल आंकिक भाग रह गया जो पखावज या मृदंग के रूप में प्रचलित हुआ तथा उर्ध्वक एवं अलिंग्य भाग को हटा दिया गया। जिसका प्रयोग कालान्तर में ख्याल एवं ठुमरी गायकी के साथ एक स्वतन्त्र ताल वाद्य के रूप में कुछ परिवर्तन के साथ तबला के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस संदर्भ में पं. विजयशंकर मिश्र जी कहते हैं कि ''तबला वाद्य जैसा हमारे यहाँ एक बहुत ही पुराना वाद्य रहा है जिसका नाम पुष्कर था और वो तीन भागों में रहता था इसलिए उसे त्रिपुष्कर कहते थे। एक पखावज की तरह था जिसे गोद में लेकर बजाते थे। उसे आंकिक कहते थे तथा जो तबले के समान था उसे उर्ध्वक और आलिंग्य कहते थे जो सव्यक् (दायाँ) और वामक (बायाँ) नाम से भी जाने जाते थे। नवीं शताब्दी तक ये तीनों वाद्य एक साथ बजते रहे हैं। शारंगदेव ने भी इसका वर्णन किया है। चूंकि यह वाद्य मिट्टी के बने हाते थे जिसे कहीं लेके आने-जाने में असुविधा होती थी। इसलिए इन वाद्यों की लोकप्रियता तेरहवीं शताब्दी से कम होने लगी तथा ये दो भागों में बंट गये। आंकिक, जिसे गोद में लेकर बजाते थे वो उर्ध्वक से अलग हो गया।''[5]

इस संदर्भ में पं. नयन घोष जी कहते हैं कि ''बहुत तबला वादक ये कहते हैं कि उस्ताद सिद्धार खाँ या सुधार खाँ साहब से तबला शुरू हुआ लेकिन ऐसी बात नहीं है। मेरे पिता जी भी ये कहते थे कि सिद्धार खाँ साहब सबसे पहला नाम हमको रिकॉर्ड (हिस्ट्री) में मिल रहा है। इसका मतलब ये नहीं है कि तबला उन्होंने बनाया। तबले का सम्बन्ध बहुत प्राचीन त्रिपुष्कर से है।''[6]

इस संदर्भ में प्रो. मुकुन्द भाले जी का कथन इस प्रकार है-''अवनद्ध वाद्यों की बात करें तो प्राचीन काल के उर्ध्वक और आलिंग्य में ही आज के तबला वाद्य का मूल हम देख सकते हैं और त्रिपुष्कर के आंकिक हिस्से से आज के पखावज तथा मृदंगम की कल्पना हम कर सकते हैं।

दो हजार वर्षों में इन वाद्यों के आकार-प्रकार में, बनावट में, बनावट के उपयोग में लायी जाने वाली सामग्री में अनेकानेक परिवर्तन हुए जिनका मूल कारण वाद्य की नादात्मकता की खोज और वाद्य को सर्वाधिक उपयोगी बनाने की बात कह सकते हैं।

तबले की बात करें तो मध्यकाल एक लम्बे समय तक लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद से तबला सदृश्य वाद्य का जिक्र इतिहास में उस तरह से नहीं मिलता है। जिसका कारण ये हो सकता है कि तत्कालीन शास्त्रीय संगीत में इस वाद्य की उपयोगिता नहीं मानी गई होगी तथा आंकिक वाद्य की ही उपयोगिता चलती रही। लेकिन ये तय है कि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में इस वाद्य को फिर से शास्त्रीय संगीत की मुख्य धारा में लाया गया और उसका कारण उसकी उपयोगिता को ही मानेंगे हम।''[7]

तबला के जन्म एवं विकास के संदर्भ में डॉ. अबान ई. मिस्त्री कहती हैं- ''कुछ विद्वान भरत कालीन उर्ध्वक और आलिंग्य को तबले का पूर्व रूप

मानते हैं। महर्षि भरत ने नाट्यशास्त्र में तीन मुख वाले वाद्य त्रिपुष्कर का वर्णन किया है। उसमे आंकिक, उर्ध्वक तथा आलिंग्य ये उसके तीन रूप होते थे। आंकिक को अंक (गोद) में रखकर बजाया जाता था। कुछ सदियों के बाद आंकिक रूप ही रह गया। उर्ध्वक तथा आलिंग्य वहां से हट गये। वही आंकिक रूप ही मृदंग के नाम से पहले तथा बाद में पखावज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज का जो मृदंग है वो भरत कालीन आंकिक का रूप है।

पन्द्रहवीं सदी के बाद जब ख्याल गायकी और सुकुमार गायकियां संगीत में प्रसिद्ध होने लगीं तब उनकी संगति के लिए उर्ध्वक और आलिंग्य एक स्वतन्त्र ताल वाद्य के रूप में सामने आये और कुछ परिवर्तन के साथ तबला जोड़ी के रूप में प्रसिद्ध हुए, ऐसा बहुत सारे विद्वान मानते हैं।

फारसी भाषा में सभी अवनद्ध वाद्यों को तब्ल कहा जाता है। अतः उर्ध्वक और आलिंग्य की वह जोड़ी तब्ल कहलायी। जो तत्पश्चात तबला के नाम से प्रसिद्ध हुई। ठाकुर जयदेव सिंह तबले को लोक वाद्य का रूप मानते हैं तथा उसको तब्ल का अपभ्रंश बताते हैं।

भारत में मुसलमानों का आगमन आठवीं सदी से हुआ है किन्तु उनके आगमन से सदियों पहले तबला भारत में लोक वाद्यों के रूप में था। ईसा पूर्व दूसरी सदी से सोलहवीं सदी तक अनेक गुफाओं, मन्दिरों तथा शिल्प चित्रों में विभिन्न ताल वाद्य बजाती हुई अनेक मूर्तियां हमें मिलती हैं जो आधुनिक तबला बायां से बहुत मिलता जुलता स्वरूप है।

इसलिए मुसलमानों के आगमन के साथ तबला भारत आया, ये बात ठीक नहीं लगती है। ये शिल्प मूर्ति कलाएं, तबले के पूर्व रूप का स्पष्ट एवं प्रमाणिक आंकन करते हैं।

वैसे भी शिल्पाकृति के आधार पर तबले की उत्पति को प्रमाणित करने का प्रयास मेरे मतानुसार सबसे तर्क संगत है क्योंकि कलाकार अपने युग का प्रतिनिधि होता है। प्राचीन काल में सामाजिक अवसरों पर तबला जैसे वाद्य बजते रहे होंगे तभी तो उनका चित्रण शिल्पकारों, मूर्तिकारों तथा चित्रकारों ने किया है। यद्यपि आज का तबला जोड़ी का आकार-प्रकार एवं वादन शैलियां सदियों से निरन्तर चिन्तन एवं परिवर्तन का प्रतिफल है। तथापि ये शिल्प, मूर्तियां, मंदिर तथा गुफाऐं हमारे तबला वाद्य की प्राचीनता एवं भारतीयता के प्रमाण हैं।''[8]

इस संदर्भ में प्रो. गौरांग भावसार का मानना है कि ''स्वाति मुनि के द्वारा निर्मित त्रिपुष्कर वाद्य के उर्ध्वक व आलिंग्य से ही आज का तबला वाद्य बना है और उसके जनक स्वाति मुनि हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान में भी हमारी प्राचीन परम्परा कायम है तथा हमें संगीत की कई परम्परा उसी से प्राप्त हुई हैं।''[9]

तबला आविष्कार सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि अल्लाउद्दीन खिलजी कालीन दरबारी कवि हजरत अमीर खुसरो इस वाद्य के आविष्कारक नहीं हैं।

वस्तुतः अवनद्ध वाद्यों के इस विकास क्रम को देखने से यह ज्ञात होता है कि समय-समय पर संगीत में होने वाले परिवर्तनों के प्रभाव के कारण अलग-अलग समय पर अलग-अलग अवनद्ध वाद्यों के प्रचलन तथा लोकप्रियता में भी परिवर्तन होता रहा है। जिसके परिणामस्वरूप त्रिपुष्कर वाद्य जिसके अस्तित्व का प्रमाण दो हजार वर्ष पूर्व नाट्यशास्त्र में भी मिलता है जो कि प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी तक विशिष्ट अवनद्ध वाद्य के रूप में प्रचलित रहा। वह तेरहवीं शताब्दी के बाद दो भागों में विभक्त होकर उर्ध्वक और आलिंग्य एक वाद्य के रूप में तथा आंकिक दूसरे वाद्य का स्वरूप ले लिया। जो उस समय के प्रचलित और प्रतिष्ठित ध्रुवपद संगीत के साथ जुड़कर मृदंग अथवा पखावज के नाम से प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय हुआ तथा उर्ध्वक और आलिंग्य लोक संगीत के वाद्य के रूप में ही सीमित होकर रह गया।

तबले के आकार-प्रकार एवं विकासक्रम को दृष्टिगत रखते हुए यह विचार पूर्णतः तर्कसम्मत लगता है कि वर्तमान तबला प्राचीन वाद्य त्रिपुष्कर के उर्ध्वक एवं आलिंग्य भाग का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप है जो दो हजार वर्ष पूर्व भी त्रिपुष्कर वाद्य के रूप में विद्यमान था। जो किन्हीं कारणों से मध्यकालीन उत्तर भारतीय संगीत से दूर हो गया तथा अठारहवीं शताब्दी में ख्याल गायन शैली व सितार वाद्य के लोकप्रिय होने के पश्चात् मोहम्मद

शाह रंगीले के शासनकाल में उ. सदारंग के भाई व शिष्य तथा उ. रहमत खाँ पखावजी के पुत्र अमीर खुसरो खाँ ने इसे परिष्कृत कर पुनः शास्त्रीय संगीत की मुख्य धारा में सम्मिलित किया।

तत्पश्चात् खुसरो खाँ के ही समकालीन पखावज वादक उ. सिद्धार खाँ ढाढ़ी (सुधार खाँ) ने तबला वाद्य अपनाया और युग की बदलती हुई रुचि का गहराई से अध्ययन करके उन दिनों के अभिजात संगीत में प्रवेश कर चुके एक प्राचीन ताल वाद्य के स्वरूप एवं वादन शैली में परिवर्तन किया तथा अनेकों शिष्य तैयार कर उत्तर भारतीय संगीत में तबला वाद्य को प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार अठारहवीं सदी में उत्तर भारतीय संगीत के क्षितिज पर तबले का प्रवेश हुआ तथा अपनी विशिष्ट वादन शैली, कोमल, सुमधुर ध्वनि एवं कलात्मक गुण से परिपूर्ण होने के कारण आधुनिक समय में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचलित, प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय है।

वर्तमान में तबला वाद्य इतना विकसित एवं लोकप्रिय हो गया है कि इसमें स्वतन्त्र वादन से लेकर संगीत की समस्त विधाओं तथा स्वर वाद्यों एवं नृत्य के साथ संगति के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। आज के युग का यह सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रतिष्ठित ताल वाद्य है जिसकी संगति शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय नृत्य, लोक नृत्य, सुगम संगीत, भजन, ग़ज़ल, फिल्मी संगीत, लोक संगीत इत्यादि के साथ की जाती है।

संदर्भ सूची

1. शर्मा ताल प्रकाश, भगवत शरण, पृ. 4
2. मिश्र व्याख्यान, पं. विजयशंकर, मंगल ध्वनि फाउंडेशन फेसबुक लाइव, 1 मई, 2020
3. मिश्र व्याख्यान, पं. विजय शंकर, मंगल ध्वनि फाउंडेशन फेसबुक लाइव, 1 मई, 2020
4. घोष पं. नयन, यूट्यूब से प्राप्त
5. मिश्र पं. विजय शंकर, यूट्यूब से प्राप्त
6. घोष पं. नयन, यूट्यूब से प्राप्त
7. भाले प्रो. मुकुन्द, यूट्यूब से प्राप्त
8. मिस्त्री डॉ. अबान ई., 1998 में NCPA सेमिनार, यूट्यूब से प्राप्त
9. भावसार प्रो. गौरांग, सेमिनार से प्राप्त

अवनद्य वाद्य में तबले का स्थान एवं महत्व

डॉ. निधि श्रीवास्तव

सारांश

भारतीय संगीत के अवनद्य वाद्यों में इस वाद्य का महत्वपूर्ण स्थान है। पदम विभूषण पंडित किशन महाराज ने सन् 2002 में अपने अभिनदंन ग्रंथ में भारतीय संगीत में तबले का महत्व बताते हुये लिखा है ''जिस प्रकार दाल में नमक न हो, हलुआ में चीनी न हो, भांग में नशा न हो, स्त्री या पुरूष के अंग पर वस्त्र न हो, संसार में सिर्फ शक्ति हो ब्रह्म न हो तो वह अपूर्ण रहता है, ठीक उसी प्रकार तबले के बिना भारतीय संगीत अपूर्ण एवं सूना-सूना हो जाता है।'' ऊर्ध्वक व आलिंग्यक से विकसित ऊर्ध्वमुखी जोड़ी अवनद्य वाद्य का प्रमुख वाद्य तबला भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक अभिन्न अंग बन चुका है। तब्ल, तबल, तबला शब्द वस्तुतः अरब, फारस व तुर्की इत्यादि मुस्लिम देशों में ऊर्ध्वमुखी अवनद्य वाद्यों के लिये प्रयोग किया जाता है।

अतः इन्ही विचारों के साथ ऐतिहासिक शोध प्रविधि को अपनाते हुए इस शोध विषय का पल्लवन हुआ है। जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन मुख्य शोध प्रपत्र के माध्यम से प्रस्तुत किया जा रहा है।

Key words :- *अवनद्य वाद्य, भारतीय संगीत, तबला, वादन, वादक, कलाकार, शास्त्रीय संगीत।*

आज के समय के भारतीय अवनद्य वाद्यों में तबले का विशिष्ट स्थान है। तबला वादन स्वतंत्र (Sole) एवं संगत (Accmpnimemt) दोनों ही रूपों में समान रूप से प्रभावशील होता है। संगीत के सभी पक्षों गायन-वादन-नृत्य मे ं आज तबला वादन अनिवार्य हो गया है। दक्षिण भारत में भी अब तबला का उपयोग होने लगा है। तबला वादक ही एक मात्र ऐसा ताल वादक है जो कि संगीत की तीनों विधाओं के कलाकारों के साथ प्रतिबिम्ब के समान जुड़ा रहता है। बिना तबला वादन के संगीत में कभी पूर्णता नही आ सकती है। संगीत के रसास्वादन हेतु तबला की गरिमामयी उपस्थिति अनिवार्य होती है।

तबले की इतनी अधिक ख्याति के कारणों पर यदि हम विचार करें तो हम अनुभव करते है कि इस करिश्माई वाद्य तबला में निहित उसके अपने गुणों के कारण ही आज तबले को इतनी ख्याति प्राप्त हो रही है।

तबले का स्वरूप

तबला वाद्य दो भागों में होता है- तबला (दायां) तथा डिग्गा (बायां)। दाहिना भाग शीशम, सागौन, कटहल की लकड़ी का बना होता है तथा बायां (डिग्गा) मिट्टी, लोहा, पीतल, एल्युमिनियम अथवा तांबा धातु का बना होता है। दाहिने तबले का व्यास आठ, नौ या दस अंगुल तक होता है जबकि बायें (डिग्ग) का व्यास दस, ग्यारह या बारह अंगुल होता है। दोनों भागों पर बकरे की खाल मढ़ी जाती है। इसके गजरों में तांत या चमड़े की बद्धी कसी रहती है। खींचने या कसने के लिये ऊंट के चमड़े की बद्धी या सूत की डोरी लगी रहती है। दोनों ही पल्लियों पर रार की मजबूत स्याही लगी होती है।

दाहिने तबले में गिट्टक लगाये जाते हैं जिनकी संख्या आठ होती है। गिट्टक की सहायता से तबला उतारने-चढ़ा ने, स्वर में मिलाने में मदद मिलती है।

अतिथि प्रवक्ता, संगीत विभाग, तबला, सी.एम.पी. डिग्री कॉलेज, प्रयागराज, मोबाइल नं.- 7905726099

तबले पर मुख्यतः दस वर्ण या बोल बजते हैं- धा, धी, ता, ती, न, क, तू, तिट, कत, दींग। इन बोलों की सहायता से ही अन्य बोलों की रचना कर ली जाती है। कहा भी गया है

धा, धी, ता, ती, न, क, तू, तिट, कत, दींग विचार।
तबला के दस बोल ये, इनको लहे सुधार।।

तबले के बोल बन्द एवं मधुर तथा कर्ण प्रिय होते हैं। तबले को सोलो वादन तथा संगत दोनों में ही समान ख्याति प्राप्त है।

तबले के प्रमुख गुण :- भारतीय अवनद्य वाद्य तबला आज सर्व सुलभ वाद्य है। तबले की आवाज में वह जादू है जिससे व्यक्ति प्रभावित हुये बिना नही रह सकता है। दाहिने तबले का स्वर इच्छित स्वर से मिलाये जा सकने के कारण इसका सर्वाधिक उपयोग होता है। वर्तमान में तबला ही एक मात्र ऐसा अवनद्य वाद्य है जो गायक की मात्रा, लय, ताल को नियंत्रित रखता है। तबले पर एकल (सोलो) वादन एवं संगत समान रूप से संभव है। तबला शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ लोकगीत, सुगम संगीत में भी प्रयुक्त होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि वर्तमान समय में संगीत (गायन-वादन-नृत्य) और तबला एक सिक्के के दो पहलूओं के समान है।

तबला शास्त्रीय संगीत के साथ-साथ लोकगीत, सुगम संगीत में भी प्रयुक्त होता है। तबला, सीखना, सिखाना आज के युग में आसानी से सुलभ हो जाता है। तबला के बोल मीठे होने के कारण जन सामान्य इसे जल्दी ही अपना लेता है। तबला ख्याल गायकी के अतिरिक्त ध्रुपद, धमार, टप्पा, ठुमरी आदि सभी गायकियों के साथ आज बजाया जा रहा है। तबले पर बंद एवं खुले दोनों ही प्रकार बोल असानी से निकल आते हैं अतः इसका वादन सरल है। तबला वादक को थोडे समय के अभ्यास से अधिक ख्याति मिल जाती है। यही कारण है कि तबले को विद्यार्थी से लेकर बड़े कलाकार तक सभी समान रूप से बजाना पसंद करते हैं।

गहन अध्ययन के पश्चात मुझे इसकी उत्पत्ति के संबंध में जो मत प्राप्त हुये हैं, वो इस प्रकार हैं-

* तबले की उत्पत्ति के संबंध में कुछ संगीतज्ञों का मत है कि - ''पखावज को दो भागों में बांटकर भी नये वाद्य के रूप में बोला की परिणति है तबला।'' ''तब भी बोला'' शब्दों का अप भ्रंश होकर तब (भी) + बोला = तब बोला = तब्बोला = तबोला = तबला शब्द की व्युत्पत्ति हुयी।
* स्व. प्रो. लाल जी श्रीवास्तव जी सहित अनेकों विद्वानों का यह मत रहा है कि इसकी उत्पत्ति की परिकल्पना पुष्कर वाद्यों पर आधारित है परन्तु इसका निर्माण एवं विकास कुछ शताब्दियों पूर्व ही हुआ है।

निष्कर्ष :-

तबले का आविष्कार कभी भी हुआ हो किन्तु यह सत्य है कि आज का भारतीय तबला प्राचीनकाल पुष्कर वाद्यों का प्रतिरूप है एवं अठारहवीं शताब्दी से यह विकसित होकर जन उपयोगी सिद्ध हुआ। यह भी सत्य है कि वर्तमान तबला जोड़ी का रूप, आकार, सज्जा सदियों के निरन्तर परिवर्तनों का परिणाम है।

सन्दर्भ ग्रंथो की सूची

भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन सेन डॉ. अरूण कुमार
भारतीय संगीत-वैज्ञानिक विश्लषेण शर्मा डॉ. श्रीमती स्वतंत्र
भारतीय संगीत का इतिहास वीर श्री राम अवतार
भारतीय संगीत का इतिहास शर्मा श्री भगवत शरण
भारतीय संगीत का इतिहास जोशी श्री उमेश
तालकोष श्रीवास्तव श्री गिरीशचन्द्र
ताल वाद्य शास्त्र मराठे डॉ. भाल चन्द्र राव

पं. रामाश्रय झां जी की रचनाओं का सौन्दर्यपरक विश्लेषण

डॉ. श्वेता केशरी

सारांश

प्रस्तुत प्रपत्र पं. रामाश्रय झां जी की रचनाओं के सौन्दर्यपरक विश्लेषण पर केन्द्रित है। आधुनिक समय के महान रचनाकारों में एक पं. रामाश्रय झां जी की रचना जो कि रामरंग उपनाम से रचित है। आज संगीत जगत का शायद ही ऐसा कोई विद्यार्थी या साधक होगा जो कि पं. जी की रचनाओं से अनभिज्ञ हो। अर्थात् आधुनिक युग के रचनाकार पं. रामाश्रय झां जी का नाम उन वाग्गेयकारों में आता है जिनकी रचनाएं संगीत के एक नव साधक से लेकर संगीत में अपना विशेष स्थान बना चुके संगीत के महान कलाकारों द्वारा गायी जाती है या गाई जाती रहीं है। अतः प्रस्तुत प्रपत्र के माध्यम से उन्हीं सौन्दर्य तत्व को रखने का प्रयास किया जा रहा है जो कि इस स्तर की लोकप्रियता का कारण रही है।

***शब्द कुंजी** : 1. रचना अथवा बन्दिश, 2. पं. रामाश्रय झां जी, 3. रामरंग, 4. पद अथवा साहित्य*

आधुनिक युग के महान वाग्गेयकार परम आदरणीय पं. रामाश्रय झां जी का नाम सदैव संगीत जगत में अपने कृतित्व के लिए जाना जायेगा। आज संगीत जगत में शायद ही ऐसा कोई संगीत साधक या विद्यार्थी होगा जिसने कि पं. रामाश्रय झा जी द्वारा रचित रामरंग उपनाम से रचना अथवा बन्दिश को न सीखा हो या न गाया हो। शास्त्रीय एवं उप शास्त्रीय संगीत की लगभग सभी शैलियों जैसे - ख्याल, ध्रुपद, धमार, ठुमरी, चतुरंग, त्रिवट, रागमालादि में आपने रचना की है। आपकी पुस्तक अभिनव गीतांजली से सभी संगीत रसिक भलीभांति परिचित हैं, इस पुस्तक के पांच भाग हैं जिसमें प्रचलित से लेकर अप्रचलित रागों तथा लोकप्रिय से लेकर विविध शैलियों में बन्दिशें प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त राग शास्त्र (भाग एक व दो) तथा मल्हार दर्शन, इन दोनों पुस्तकों (लेखिका-डॉ. गीता बनर्जी) में पं. रामाश्रय झा जी की रचनाओं का संकलन किया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रीय व उप शास्त्रीय संगीत की बन्दिशों का अथाह संकलन इन पुस्तकों के माध्यम से हमारे समक्ष उपलब्ध है।

इस विषय पर प्रस्तुत प्रपत्र लिखने के पीछे सबसे बड़ा कारण यह भी रहा कि अपितु संगीत जगत में अनेकों महान वाग्गेयकार हुए हैं या रहे हैं, जिन्होंने अनेक ही उत्कृष्ट रचनाएं की है किन्तु आधुनिक रचनाकार पं. रामाश्रय झां जी का नाम उन वाग्गेयकारों में आता है जिनकी रचनाएं संगीत के एक नव साधक से लेकर संगीत में अपना विशेष स्थान बना चुके संगीत के महान कलाकारों द्वारा गायी जाती है या गाई जाती रहीं है। पं. रामाश्रय झा जी जो कि एक महान वाग्गेयकार है आपने ऐसी रचनाएं की है, जो कि साहित्य व स्वर की दृष्टि से अत्यन्त ही उच्चकोटि की है। आपने हिन्दी भाषा की अनेक लोक प्रचलित बोलियों के साथ संस्कृत भाषा में भी उच्च कोटि के साहित्य वाली रचना की है। किन्तु एक जो परिपाटी सी बन गयी है जिसके अन्तर्गत यदि प्रचलन में देखें तो आज ख्याल में

प्रवक्ता, संगीत गायन विभाग, किशोरी रमण महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा, दूरभाष नं. - 8853754911
ई. मेल - shwetakeshri.music08@gmail.com

जितनी भी रचनाएं विभिन्न वाग्गेयकारों व रचनाकारों द्वारा रचित है उनमें से वही बन्दिशें अधिक गायी जा रही है जो लघु स्वरूप वाली है अर्थात् दो पंक्ति की स्थायी व अन्तरा वाली, जिसमें कि दीर्घ अक्षरों की बहुलता हो जैसे - आकार, ईकार, ऊकार इत्यादि ताकि बोल आलाप, बोल बनाव या बोल तान करते समय कोई कठिनाई न हो। अर्थात् जिनकी वर्ण योजना व शब्दों का चयन रचना विस्तार की दृष्टि से उपयुक्त हो। इस दृष्टि से पं. रामाश्रय झां जी कृत रचनाओं का अध्ययन करते हुए रचनाओं के सौन्दर्य तत्व पर ध्यान आकर्षित करने का प्रयास इस प्रपत्र में किया गया है।

पं. रामाश्रय झा जी की रचनाएं जैसा कि मैनें उपर भी इसकी चर्चा की है संगीत के सभी वर्ग व स्तर के विद्यार्थियों व साधकों द्वारा गाई जाती हुई सुनी जा सकती है। इस लोकप्रियता के पीछे एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि एक संगीत साधक या विद्यार्थी के समक्ष चाहे ताल या पद भाव की बात की जाये या बन्दिश की बनावट की बात की जायें सभी दृष्टि से अनेक विकल्प होते है, जिसमें एक प्रारम्भिक विद्यार्थी को सिखाने या सीखने की बन्दिश मिलेगी तो साथ ही साथ स्वर व ताल दृष्टि से किल्ष्टि रचनाएं भी प्राप्त होंगी। एक साधक के समक्ष एक ही राग में भिन्न ताल तथा एक ही ताल में भिन्न-भिन्न मात्राओं से उठने वाली बन्दिशों का संकलन देखने को मिलता है। उदाहरण स्वरूप यहां एक राग मियां मल्हार में अलग-अलग सौन्दर्याभाव के दर्शन से युक्त अलग-अलग मात्राओं से उठने वाली बन्दिशें दी जा रही है। राग मियां मल्हार में ही उद्वहरण देने के पीछे यह प्रयास है कि जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है मल्हार अर्थात् वर्षा ऋतु से सम्बन्धित किन्तु उस वर्षा ऋतु में भी वाग्गेयकार अपनी कल्पना को किन किन रूपों में इन रचनाओं के माध्यम से साकार रूप दे सकता है, इसी पर प्रकाश डालने हेतु इस राग को उदाहरण स्वरूप लिया गया है। वैसे तो मल्हार का सम्बन्ध वर्षा ऋतु से होता है किन्तु उस वर्षा ऋतु में भी अलग-अलग मनोभाव को दर्शानें वाले कुशल वाग्गेयकार पं. रामरंग जी जैसे ही हो सकते है। एक ओर जहां वर्षा ऋतु को एक विरहनि की नज़र से दिखाते हुए वियोग श्रृंगार को दिखाने का प्रयास किया गया है तो वहीं दूसरी रचना में उसी मल्हार राग में इसके विपरीत ही मल्हार के समय होने वाले प्राकृतिक परिवेश का सुन्दर चित्रण देखने को मिलता है।

उदाहरण स्वरूप

स्थाई - तू क्यों मान करे रे बदरा,
मो बिरहिन नैन के आगे।
अन्तरा - तू बरसे रूत पावस आये,
रामरंग मेरो नैन दिन रैन झरे।।1

राग मियां मल्हार की इस रचना में बहुत ही सुन्दर रूप में नायिका के विरह का वर्णन करते हुए उसके नैनों की उपमा सावन से की गई है जिसमें कि नायिका कहती है कि तू क्यों मान करती है बदरा तू तो केवल तब ही बरसती है जब सावन आता है जब कि मुझ बिरहिन के नैन से तो दिन-रात ही आंसू (जिसकी समानता सावन से की गई है) बरसते है। अतः यहां उपमा अलंकार देखने को मिलता है। इस रचना की एक और सुन्दर बात यह भी है कि बन्दिश के शब्दों व भाव को देखते हुए ही स्वर रचना भी की गई है। राग चलन व पद भाव के दृष्टिगत रचना की स्वर रचना देखी जा सकती है। जैसा कि विदित है कि राग मियां मल्हार का चलन मुख्य रूप से मन्द्र व मध्य सप्तक में होता है। फलस्वरूप स्थायी की स्वर रचना मन्द्र व मध्य सप्तक में की गई है। सम्पूर्ण रचना में राग का स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इसके विपरीत इसी राग में मल्हार का एक अलग ही रूप प्रस्तुत रचना में देखा जा सकता है जिसमें मल्हार के समय हो रहे प्राकृतिक बदलाव का मनोहर रूप प्रस्तुत रचना के माध्यम से देखने को मिल रहा है जो कि वियोग या भय का द्योतक न होकर हर्ष उल्लास से भरा हुआ सजीव वर्णन है।

उदाहरणार्थ

स्थाई - बदरिया आई रे गरजे घोर बरसे जोर,
दामिनी कौंधि चौंकि जागी सेजरिया।
अन्तरा - पवन की झकझोर बूंद झमाझम की शोर,
रामरंग अटा झरे भीगी अमोल चूनरिया।।2

सामान्यतया मल्हार अंग की रचनाओं में वर्षा ऋतु से सम्बन्धित शब्दावलियां जैसे गर्जन, अन्धियारी, कारी बदरिया जैसे शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है, जिसके भाव को स्वर रूप में सजीव करने हेतु जिसमें कि बादल की गरजादि भावों को दर्शाने के लिए अर्थात् गम्भीरत्व को दर्शाने हेतु रचना में छोटी तान का प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे रामाश्रय झां जी की एक रचना उदाहरण रूप में प्रस्तुत है -

स्थाई - घिर आई घटा कारी कारी,
डर लागे रैन अंधियारी।
अन्तरा - बरसे अरू गरजे घहराये,
सुन-सुन जिया अकुलावे
रामरंग पिया बिन बिरहिन नारि।।3

मम	रेसा	नि़सा	रेम	पनि	मप,	म	प
अंऽ	धिऽ	याऽ	ऽऽ	ऽऽ	रीऽ,	घि	र
×				2			

उपरोक्त रचना में अन्धकार की घनता गम्भीरता को दर्शाने के लिए तान अंग से इसका प्रयोग रचना में मिलता है। इसी प्रकार से आन्दोलन द्वारा गम्भीरत्व का भाव देना, आपकी अमुक् रचना बदरिया आई रे गरजे घोर बरसे जोर में बादर की गरज को निषाद के आन्दोलन से उस भाव को अनुभव कराने का सफल प्रयास रचनाकार द्वारा किया गया है।

निध़	निध़	नि़
गऽ	रऽ	ज
	4	

ताल की दृष्टि से विविधता दिखाने के उद्देश्य से राग मियां मल्हार में ही द्रुत ख्याल की पांच रचना व पांचों की रचना अलग-अलग उठान से की गई है जैसे -

1. स्थाई - तू क्यों मान करे रे बदरा मो बिरहिन नैन के आगे।

	म	म									
रे	नि़सा	रे	प	ग़	(म)	-रे	सा	(नि़)	निध़	नि़	नि़
तू	ऽऽ	क्यों	ऽ	मा	ऽ	ऽन	क	रे	ऽऽ	ऽ	रे
0				3				×			

सा	रे	सा	-				
ब	द	रा	ऽ				
2							

2. स्थाई - गरजत आयो रे घन घुमड़ि घुमड़ि, बरसे चमके बिजरी रहि रहि डराये।4

														म	
														ग	
रे	सा	नि़	(सा)	नि़	-	ध़	नि	ध़	नि़	-	सा	रे	सा	-	म
र	ज	ऽ	त	आ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	यो	ऽ	रे	घन	ऽ	घु	
3				×				2				0			

3. स्थाई - बदरिया आई रे गरजे घोर बरसे जोर, दामिनि कौंधि चौंकि जागीं सेजरिया।

											-	सा		रे		प	
											ऽ	ब		द		रि	
											3			4			
प	-	ग़	-	ग़	म	रे	सा	नि़	निध़		निध़	नि					
या	ऽ	ऽ	ऽ	आ	ऽ	ई	रे	ऽ	गऽ		रऽ	ज					
×		0		2		0		3			4						

4. स्थाई - घिर आई घटा कारी कारी, डर लागे रैन अंधियारी।

													-	-	म	प	
													ऽ	ऽ	घि	र	
													2				
											म						
धनि	सां	-	ध	नि़	म	प	-	ग़	म	रे	प		-	प	सा	(सा)	
आऽ	ऽ	ऽ	ई	ऽ	घ	टा	ऽ	का	ऽ	री	का		ऽ	री	ड	र	
0				3				×					2				

5. स्थाई - दिर दिर देरेना देरेना तना दिर ओदानी तदानी तननन।[5]

														म़	प़		
														दिर	दिर		
														4			
														नि़			
नि	ध़	नि़	-	सा	सा	सा	रे	सा	-					म़	प़		
दे	रे	ना	ऽ	दे	रे	ना	त	ना	ऽ					दिर	दिर		
ग		0		2		0		3						4			

चूंकि भाव का सम्बन्ध लय ताल से भी होता है। लय या मात्रा का वजन बदल जाने से भाव या

प्रभाव भी बदल जाता है। सम्भवतः यही कारण है कि एक ही राग में अनेक बन्दिशें देखने को मिलती है जिसमें पद की विषय वस्तु तो भिन्न होती ही है साथ ही ताल वैचित्रय भी देखा जा सकता है।

राग भाव, समय व रस के अनुरूप बन्दिश की पद रचना आपके रचनाओं की सबसे प्रमुख विशेषताओं में से एक है जैसे कि यदि प्रातः काल गाया जाने वाला राग हो या भक्तिप्रधान राग हो जैसे राग भैरव प्रातः काल में गाया जाने वाला संधि प्रकाश राग है। अतः प्रातः कालीन वातावरण को ध्यान में रखते हुए ही पद रचना देखने को मिलती है। इसी प्रकार से अधोलिखित दिये गये रागों के उद्धहरण भी प्रातः काल में गाये जाने वाले भक्तिरस के राग है।

उदाहरण स्वरूप -

भैरव राग में विलम्बित ख्याल -

स्थाई - लालन जागो रैन गई अब इत उत बोले काग दुवारे।

अन्तरा - भोरहि आये संग सखा तोरे रामरंग दरस तिहारे।।6

बैरागी भैरव में द्रुत ख्याल -

स्थाई - सुमर ले मन मोरा हरि को नाम उठि भोरे।

अन्तरा - पल-पल छिन-छिन सांस-सांस दिन-दिन रामरंग बांवरे।7

बिलासखानी तोड़ी में द्रुत ख्याल -

स्थाई - जगदम्बिका अम्बिका मर्दनी अम्ब शुम्भ निशुम्भ गले मुन्ड मालिका।

अन्तरा - दुर्गे भवानी दानी दयानी, सुर नर कीन्हें अभय रामरंग तेरो ही नाम कालिका।8

इसी प्रकार से राग बसन्त, बहार जैसा कि नाम से स्पष्ट है ऋतु प्रधान राग है इन रागों में भी जितनी रचनाएं प्राप्त होती है वह भी प्रसंगानुसार ही देखी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप राग बसन्त व बहार की रचनाएं -

राग बसन्त - द्रुत ख्याल -

1. स्थाई - अब ऋतु आई बसन्त की,
सब बन बोलन लागी कोयलिया।

अन्तरा - फुलन लागी बेला चमेली,
रामरंग बौरन लागी अमुवां डरियां।।9

2. स्थाई - बैरन रूत आई रे कोयलिया, कूक-हूक उठे मनवा मोरा तड़पे दिन रैन।

अन्तरा - भंवरा गुंजारे जारे तन मोरा, रामरंग शीतल पवन लागे दहन उन बिन दिन रैन।।10

राग बहार - विलम्बित ख्याल -

1. स्थाई - आई री नवेली रंगीली रूत,
बगियन छाई है बहार।

अन्तरा - रसवस डोले भवर बावरा, रामरंग कलियन कलियन दौरे डार-डार।।11

2. स्थाई - बहार आई रे आई रे सब बन फूले फूलन।

अन्तरा - तान बरस तानन की तोर मोर,
धुरन मुरन सब गुनियन गाई।।12

3. स्थाई - रूत बसन्त फूल रही बागन में झूम-झूम।

अन्तरा - कोयल कुहकत बन में, हुक उठत हमरे मन में, भंवरा गुंजार करत, बागन में झूम झूम।।13

एक ही राग में विविध शैलियों की रचनाओं के साथ ही साथ रचना की विषय वस्तु में भी विविधता के दर्शन आपकी रचनाओं में देखे जा सकते है। भक्तिपरक, श्रृंगारिक, उपदेशात्मक, प्राकृतिक वर्णक, ऋतु प्रधान, उत्सवाधारित लगभग सारे ही विषयों पर आपने रचना की है।

आपने हिन्दी भाषा की विभिन्न बोलियों जैसे ब्रज, अवधि व मैथिली के साथ ही साथ संस्कृत भाषा में भी रचनाएं की है। सुन्दर, सरल, मधुर, लोचदार व बोधगम्य शब्दों का प्रयोग रचनाओं में विशेष रूप से होने के साथ ही साथ आकार, ईकार व उकार युक्त शब्दों का प्रयोग रचनाओं में परिलक्षित होता है। किसी भी रचना की बढ़त करते समय हम आकार या ईकार युक्त शब्दों को ही लेते है जैसे पिया, पियरवा, मन्दरवा, कन्हईया आदि जो कि आकार या ईकार युक्त हो ताकि बन्दिश की बढ़त

में सहायक हो। मूलतः यही कुछ छोटी-छोटी बातें होती है जो कि उसे लोकप्रिय व लोक प्रचलित बनाती है।

अलंकार की दृष्टि से देखा जाये तो शब्द व अर्थालंकार के सुन्दर प्रयोग देखने को मिलते है, जैसे कि पं. रामाश्रय झां जी की रचनाओं में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग बहुलता से देखा जा सकता है। कहीं उसका पूर्ण लक्षण जो कि स्वर + व्यंजन + स्वर है, घटित होता है तो कहीं पूर्ण लक्षण घटित नहीं होता है। अन्त्यानुप्रास, जिसे छन्द शास्त्र में तुक कहा जाता है, उसका प्रयोग किसी भी रचना में संगीतात्मकता उत्पन्न करती है। शब्दालंकार व अर्थालंकार के सुन्दर-सुन्दर प्रकार यथा स्थान रचना में देखने को मिलते है, जिसमें यमक, श्लेष, उपमा जैसे अर्थालंकार व शब्दालंकार में अनुप्रास की सुन्दर योजना बन्दिशों में प्राप्त होती है।

उदाहरण स्वरूप -

स्थायी - माननी मान मत मान कर री।
दिन चार के यह रूप रंग को।।
अन्तरा - रूप जोबन अंजलि को पानी,
न हठ करिये गुमान।
रामरंग तज दे या ढ़ग को।।

प्रस्तुत बन्दिश के प्रथम पंक्ति में यमक अलंकार के दर्शन हो रहे हैं। यहां मान शब्द से दो अर्थों का बोध अलग-अलग संदर्भो में हो रहा है एक तो मान शब्द का तात्पर्य रूठने से लिया जा रहा है तथा वहां दूसरी तरफ मान शब्द से तात्पर्य बात मानने से है।

मरे	गग	निध	निरे	ग-	-रे	गंमप-	
मऽ	रंग	रू	ऽ	सेऽ	आऽऽऽ	येऽऽऽ	
4		×			0		

प्रस्तुत बन्दिश राग कल्याण के स्वरों में बद्ध वियोग श्रृंगार की अत्यन्त ही सुन्दर विलम्बित ख्याल की रचना है, जिसके रचनाकार रामाश्रय झा जी ने राग कल्याण की सुन्दर स्वरावलियों के माध्यम से नायिका की वियोगावस्था का चित्रण किया है। जिसमें नायिका कहती हैं कि मैं अपने नेत्रों में कजरा अर्थात् अंजन या काजल कैसे डारू या लगाऊँ

बन्दिशों के सौन्दर्यात्मक पक्ष पर प्रकाश डालने हेतु यहां एक विलम्बित व एक द्रुत ख्याल की रचना उदाहरण स्वरूप दी जा रही है।

1. विलम्बित ख्याल

राग - कल्याण ताल - विलम्बित एकताल

स्थायी - कजरा कैसे डारूं ऐरी माई,
मेरे तो नैन झरे पियरवा बिन।
अन्तरा - जानू ना कवन ऐ गुन पिया,
राम रंग रूसे आये ना मन्दरवा।।14

स्थाई

-	निध	(प)	मंग	प	-	मरे	ग	-	गरे	(सा)	सा
ऽ	कज	रा	कैसे	डा	ऽ	ऽऽ	रूं	ऽ	एरी	मा	ई
3		4		×		0		2		0	

निध	निरे	ग	ग	मंग	मंप	प	-	मंगधनि		सां,	निध	नि	धप
मेऽ	रेतो	नै	ना	ऽऽ	ऽझ	रे	ऽ	पिऽऽऽ		ह,	रऽ	बा	ऽऽ
3		4		×		0		2				0	

ग		
(प)	मं,	निध
बि	ना,	कज
3		

अंतरा

मंग	मंध	सां	-	निध	निरें	निरेंगरें	(सां)	निध	नि	प	-प
जाऽ	नूऽ	ना	ऽ	कव	नऽ	ऽऽऽए	गु	नऽ	पि	या	ऽरा
4		×		0		2		0		3	

प		गमधनि		सां,	निध	नि	धप	मं,	निध		
न		ऽऽऽऽ		ऽ,	मंऽ	द	रवा	ऽ,	कज		
2				0			3				

क्योंकि अपने प्रियतम से दूर होने के वियोग में मेरे नैना से प्रतिक्षण आँसू झर रहे हैं अर्थात् गिर रहे है। अन्तरे में स्वयं ही नायिका कहती है कि न जाने ऐसा उनका ये कौन सा गुन है जो वो मुझसे रूष्ठ हो गये और मन्दरवा अर्थात् घर नहीं आये हैं। भाषागत दृष्टि से देखा जाय तो यह बन्दिश ब्रज भाषा की है। जिसमें रचनाकार ने अत्यन्त ही सुन्दर शब्दों का

प्रयोग करते हुए नायिका की मनःस्थिति का सजीव चित्रण करने का प्रयास किया है। जैसे स्थायी की दूसरी पंक्ति में वाक्य है मेरे तो नैना झरे पियरवा बिन, जिसमें मात्र झरे शब्द के प्रयोग से ही नायिका के विकट स्थिति के स्वरूप के दर्शन होते हैं। इसका आशय यह है कि प्रियतम के वियोग में नायिका इतना प्रलाप कर रही हैं कि उसके आंसू झरने के समान प्रतिक्षण झर रहे हैं। अन्तरे में पिया व मन्दरवा में अन्त्यानुप्रास के दर्शन होते हैं। यदि राग विस्तार की दृष्टि से शब्दों पर गौर किया जाय तो कजरा, पिहरवा, पिया मन्दरवा इत्यादि दीर्घ अक्षरों का प्रयोग इस बन्दिश में देखने को मिलता है, जो कि अनिबद्ध विस्तारानुकूल है। बन्दिश के सांगीतिक पक्ष पर दृष्टिपात किया जाय तो उपरोक्त बन्दिश में राग यमन के पूर्वांग व उत्तरांग के सम्पूर्ण स्वरूप के दर्शन होते हैं। प्रथम शब्द से ही राग यमन का स्वरूप खड़ा हो उठता है। जैसे कजरा शब्द से रचना का प्रारम्भ देखने को मिलता है जिसके स्वर है ''नि ध प''। साथ ही बन्दिश का सम डारू शब्द के 'डा' वर्ण पर है जो कि पंचम स्वर पर है, यह राग यमन का न्यास का स्वर है। इसके साथ ही सम्पूर्ण बन्दिश में राग यमन के स्वरूप के दर्शन होते हैं। बन्दिश के स्थाई का समापन तीव्र मध्यम पर किया गया है, जो कि राग यमन का न्यास का स्वर नहीं है। अतः तीव्र मध्यम पर समापन के साथ ही बन्दिश में एक प्रकार की बेचैनी, असन्तुष्टि की भावना का संचार होता है, जो भाव रचना के पद का भी है। अतः यह कुछ विशेषताएं है जो रचना के स्वर व शब्दों का सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत करती है। अतः रचना में शब्दों के साथ स्वरों का अत्यन्त सुन्दर समन्वय किया गया है। तार सप्तक के स्वरों में एक प्रकार की अनुभूति होती है। अतः अन्तरे में जिस प्रकार नायिका की व्याकुलता का चित्रण किया है। उस भाव को उभारने में उसकी स्वर रचना सहयोग कर रही है। रचना विलम्बित एकताल में की गयी है जिसमें मुखड़ा एक मात्रा काल का है।

द्रुत ख्याल

राग - शुद्ध कल्याण ताल - त्रिताल

स्थाई - मंदरवा अजहूं न आये,
बिलमाये कौन बैरन बालमुवा।

अन्तरा - न भेजी पाती नाहि संदेश,
रामरंग अंदेश होत हियरवा।।15

स्थाई

															प
															मं
	ग											ग			
-	रे	-	सा	ग	-	-	रे	ग	प	ध	प	रे	-	सा	सा
ऽ	द	रऽ	र	वा	ऽ	ऽ	अ	ज	हुँ	ऽ	न	आ	ऽ	ये	बि
3				×				2				0			

										सां				
ध़	सा	-	रे	ग	-	ग	रे	ग	प	ध	सां	धप	गरे	सा, प
ल	मा	ऽ	ये	कौ	ऽ	न	बै	र	न	बा	ऽ	लऽ	मुऽ	वा, मं
3				×				2				0		

अन्तरा

															प
															ना
ग	प	-	ध	सां	-	सां	गं	रें	सां	रें	सां	ध	-	प	ग
ऽ	भे	ऽ	जी	पा	ऽ	ती	ना	ऽ	हि	ऽ	सं	दे	ऽ	श	रा
3				×				2				0			

			मं'	ग			ग			सां				
रे	ग	ध	प	रे	-	सा	रे	ग	प	ध	सां	धप	गरेसा,	प
म	र	ि	अं	दे	ऽ	स	हो	ऽ	त	हि	ऽ	यऽ	रऽवा	मं
3				×				2				0		

प्रस्तुत रचना राग शुद्ध कल्याण तीन ताल मध्य लय में बद्ध है। राग स्वरूप, पद भाव, ताल पक्ष सभी दृष्टि से सर्वोत्तम रचनाओं में से एक है। एक अच्छी बन्दिश वह मानी जाती है जिसमें कि सम्पूर्ण रचना में राग का निचोड़ देखने को मिले। इस दृष्टि से इस रचना में राग शुद्ध कल्याण का पूर्ण स्वरूप स्पष्ट देखने को मिलता है। रचना का प्रारम्भ ही कल्याण अंग सूचक समूह 'प-रे' से हो रहा है, जो कि राग शुद्ध कल्याण में कल्याण अंग का सूचक है। चूंकि राग शुद्ध कल्याण में रिषभ स्वर प्रमुख स्वर है जिस पर न्यास इस राग को भूपाली व देशकार से अलग करता है। अतः प्रस्तुत रचना में रिषभ स्वर के महत्व को दर्शाते हुए सम्पूर्ण रचना में

अलग-अलग शब्द का उठान रिषभ स्वर से देखने को मिलता है जैसे - अजहूं, आये, बैरन व अन्तरा में होत हियरवा शब्द का उठान रिषभ स्वर से हो रहा है। रचना में वियोग श्रृंगार का मार्मिक चित्रण देखा जा सकता है जिसमें नायिका के अन्तः मन की व्यथा को पद रचना के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया गया है। नायिका अपने मन के अंदेश अर्थात् पिया के न आने के पीछे के कारण का अनुमान करते हुए कहती है कि आज भी पिया मन्दरवा नहीं आये, और ऐसा सोचती है कि न जाने किस बैरन या सौतन से मिलने गये है जिस कारण वह घर नहीं आये। अन्तरें में नायिका कहती है कि न कोई पत्र नाहीं कोई संदेश उनका आया है। अतः नायिका ऐसा अनुमान करती है कि सम्भवतः वह किसी बैरन सौतन के कारण ही उससे दूर है। सम्पूर्ण रचना दीर्घ शब्दों से युक्त है जैसे - मंदरवा, आये, बिलमाये, बालमुवा, ना भेजी व हियरवा जो कि बन्दिश के विस्तार में सहायक अर्थात् अनिबद्ध विस्तार में सहायक रूप है। ब्रज भाषा की इस रचना में अन्त्यानुप्रास के दर्शन होते है जैसे - बालमुवा जो कि अन्तरें के हियरवा से तुक बना रहा है। बन्दिश में आये-बिलमायेव, संदेश-अंदेश में तुकबन्दी देखी जा सकती है। रचना तीनताल के बद्ध है। स्थाई व अन्तरा दोनों ही ताल की 12 वीं मात्रा से उठती है।

(Endnotes)

1 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 68
2 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 72
3 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 74
4 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 70-71
5 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 75
6 अभिनव गीतांजलि - रामरंग पं. रामाश्रय झां (भाग - 4) पृष्ठ सं. - 15
7 अभिनव गीतांजलि - रामरंग पं. रामाश्रय झां (भाग - 4) पृष्ठ सं. - 66
8 अभिनव गीतांजलि - रामरंग पं. रामाश्रय झां (भाग - 1) पृष्ठ सं. - 154
9 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 168
10 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 170
11 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 89
12 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 94
13 राग शास्त्र (भाग-दो) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं. - 93
14 अभिनव गीतांजलि - रामरंग पं. रामाश्रय झां (भाग - 4) पृष्ठ सं. - 177
15 राग शास्त्र (भाग-एक) - बनर्जी गीता, पृष्ठ सं.-55

संगीत मकरंद ग्रंथ में वर्णित एकोत्तरशत ताल का अध्ययन

गौरांग भावसार, अक्षिता बाजपेई

शोध सार

प्रस्तुत शोधपत्र में संगीत मकरंद में वर्णित एकोत्तरशतताल के अध्ययन की चर्चा की गयी है, तथा शोधपत्र में एकोत्तरशत तालों से संबन्धित जानकारी देने का विनम्र प्रयास किया गया है। शोधपत्र में तालों के नाम, चिह्न, तालियाँ तथा विशेष रूप से तालों के लक्षण पर उपलब्ध तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

सूचक शब्द- *वेद, पुराण, उपनिषद, मकरंद, एकोत्तरशतताल*

भारतीय संगीत में ताल की अवधारणा अति प्राचीन काल से वेदों, पुराणों, उपनिषदों, महाकाव्यों, काव्यशास्त्रों, संगीत ग्रंथों इत्यादि में प्राप्त होती है। भारतीय संस्कृति की नींव में ही संगीत विद्यमान है, जो अपने इत्र से निरंतर अपनी सुगंध फैला रहा है। सामवेद से वर्तमान तक विभिन्न संगीत ग्रन्थों में ताल का स्थान आलौकिक जान पड़ता है। संगीत में ताल का वही स्थान है, जो काव्य में छन्द का है, क्योंकि छन्द की सहायता से प्रत्येक अक्षर की सुंदरता को रक्षित किया जा सकता है। छन्द अर्थात् वेदों के वाक्य के वह भेद जो अक्षर की गणना के अनुसार किया गया हो, वेद वाक्य जिसमें वर्णों या मात्राओं की गणना के अनुसार विराम आदि के नियम हो, पद्य, वर्ण या मात्राओं की गणना के अनुसार पद या वाक्य को रखने की व्यवस्था हो, पद्यबन्ध छन्दों के लक्षणादि की विद्या ही छन्द है।

इस विषय में वेदों की कथानुसार ऐसा माना जाता है, कि देवताओं व असुरों के मध्य युद्ध हुआ था, जिसमें देवता शक्ति व मंत्रों द्वारा युद्ध करने लगे परंतु असुर अपनी मायावी शक्तियों से मंत्रों को अव्यवस्थित करने लगे तब आसुरी शक्ति से बचाव के लिए प्रत्येक मंत्र को छन्द का कवच रूप दे कर देवताओ ने मंत्रों का रक्षण किया छन्द अर्थात् लघु, गुरु,एवं प्लुत के नियम जिसमें मंत्रों को बांध दिया गया।(1)इस कथा से संगीत का यह तात्पर्य है, कि प्रत्येक बंदिश ताल में गूंथी व बंधी हुयी है, जिससे यह सुरक्षित रह सके। इसलिए ताल का महत्व संगीत में अत्यंत मत्वपूर्ण है, जो नियमबद्धता को प्रदर्शित करता है। संगीत में ताल और छन्द ही यथार्थत गति प्रदान करते है। प्रत्येक काल मापन ही ताल है। अमरकोश के अनुसार तालः काल क्रियामानमः अर्थात् संगीत में ताल काल क्रिया को निश्चित समय में नियम के अनुसार बांध के रक्षित कर सकता है। ताल विहीन संगीत की कोई सार्थकता नहीं है। जिस प्रकार मानव जीवन में समय की निश्चितता से समृद्धि आती है, उसी प्रकार संगीत में ताल से अनुशासन, सुगठिता व समृद्धता उत्पन्न होती है।

प्राचीन ग्रन्थों में ताल व लय के विभिन्न उदाहरण प्राप्त होते है। भारत देश की संस्कृति व परंपरा में प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल के साहित्य शास्त्र व संगीत ग्रन्थों में ताल का उल्लेख आवश्यकतानुसार प्राप्त होता है। शोध छात्रा इससे प्रेरित हो कर संगीत के प्राचीन ग्रंथ नारद कृत

* मार्गदर्शक, अमी पंडया-अनुरूपी लेखक, फैकल्टी ऑफ परफार्मिंग आर्ट्स, द महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, वडोदरा, ईमेलः bajpaiakshita2@gmail.com

** शोध छात्रा : फैकल्टी ऑफ परफार्मिंग आर्ट्स, द महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, वडोदरा

संगीत मकरंद में वर्णित ताल की विस्तृत जानकारी व प्रस्तुत माहिती तथा तालात्मक तथ्यों को आधार मानते हुए तालों के नाम व उनके लक्षण के विषय में बताते हुए तत्कालीन स्वरूपों का वर्णन करने का प्रयास किया गया है, जो इस शोधपत्र की भूमिका है। संगीत मकरंद के द्वितीय अध्याय नृत्यध्याय के द्वितीय पाद के श्लोक संख्या तीन से श्लोक संख्या सोलह तक तालों के नामों का उच्चारण किया गया है, इसके उपरांत एकोत्तरशत तालों के लक्षण बताए गए है। इस विषय में यह कहा जा सकता है, की वर्तमान में इन तालों का प्रयोग इनके प्राचीन नाम के अनुसार नही किया जा रहा परंतु ऐसा नही है, कि इन तालों को प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। तालों की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के लिए तथा विषय की गंभीरता को समझने के लिए उससे जुड़े सभी महत्वपूर्ण तथ्यों को जानना व समझना अति आवश्यक होता है।

इस विषय में काव्यसाहित्य के ग्रथों की सहायता लेना अनिवार्य प्रतीत होता है,क्योकि छन्दों के लघु, गुरु आदि के वर्ण विन्यास को आधार मान कर ही तालों के छन्द की रचना की गयी। काव्य में छन्दों की रचना के लिए लघु, गुरु, प्लुत तीन अंगो का होना पर्याप्त था, किन्तु संगीत के सृजन की दृष्टि से और अंगो की आवश्यकता प्रतीत हुई। अंगो के निर्माण के लिए लघु को ही आधार वर्ण मानते हुए लघु के चतुरांश को अणुद्रुत का नाम दिया गया, लघु के अ़र्द्धभाग को द्रुत का नाम दिया गया है। (द्रुत को प्राचीन शास्त्रों में व्योम व बिन्दु के नाम से भी संबोधित किया गया है।), इसी अनुपात से लघु से द्विगणित गुरु, लघु से त्रिगुणित प्लुत, लघु से चतुगुणित काकपाद बना जो संख्या के अनुसार सबसे बड़ा है। इनकी मात्रा स्वरूप को देखे तो अणु द्रुत का मात्रा काल (का होता है, द्रुत का मात्रा काल) होता है, लघु का मात्रा काल 1 का होता है, गुरु का मात्रा काल 2 का होता है, प्लुत का मात्रा काल 3 का होता है, तथा काकपाद का मात्रा काल 4 का होता है। प्राचीन शास्त्रो के अनुसार तालों के सांकेतिक अंग, चिन्ह, मात्रा संख्या तालिका रूप में इस प्रकार से प्रस्तुत है।(2)

प्राचीन शास्त्रो के अनुसार मात्रा व चिन्ह

(तालिका सं.-1)

अंग	चिन्ह	मात्रा
अणुद्रुत या विराम	˘	¼ अणु मात्रा
द्रुत	o	½ आधीमात्रा
लघु	।	1 मात्रा
गुरु	ऽ	2 मात्रा
प्लुत	ऽ	3 मात्रा
काकपद	.	4 मात्रा

वर्तमान में इनके स्वरूप को परिवर्तित इसलिए किया गया क्योकि इन मात्राओं का प्रयोग संभवतः कठिन सा प्रतीत होता था, तथा मात्रा का पूर्णांक न होने के कारण इनमें ताल अंग का निर्माण कठिनता से होता था। इसे आसान रूप देने के लिए लघु को चतुगुणित कर के इसी क्रमानुसार चतुगुणित अनुपात में अंगो की मात्रा संख्या को परिवर्तित कर दिया गया परिवर्तित अनुपात से अणुद्रुत की मात्रा संख्या 1 हो गयी, द्रुत की मात्रा संख्या 2 हो गयी, लघु की मात्रा संख्या 4 हो गयी, गुरु की मात्रा संख्या 8 हो गयी, प्लुत की मात्रा संख्या 12 हो गयी, काकपद की मात्रा संख्या 16 हो गयी। जिसका विवरण तालिका में स्पष्ट रूप से दिया गया है।(3)

वर्तमान मे प्रयुक्त होने वाले प्रतिकात्मक अंग, मात्रा व चिन्ह

(तालिका सं.-2)

अंग	चिन्ह	मात्रा
अणुद्रुत या विराम	˘	1 मात्रा
द्रुत	o	2 मात्रा
लघु	।	4 मात्रा
गुरु	ऽ	8 मात्रा
प्लुत	ऽ	12 मात्रा
काकपद	.	16 मात्रा

वर्णोच्चारणकालस्तु मात्रा इत्यभिधीयते।(4)

प्राचीन ग्रन्थों में "मात्रा" का मूल स्त्रोत "मा" धातु से माना जाता है। मात्रा से ताल के काल को

मापा जाता है। किसी ध्वनि व वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है,उसे मात्रा कहा जाता है, मात्रायें दो प्रकार की होती है, हस्व व दीर्घ मात्रा। पाँच हस्व अक्षर के उच्चारण की काल अवधि को एक मात्रा या लघु मात्रा कहते थे।

पंचलघुक्षरोच्चारकालो मात्रा समीरिता।
तदर्द्ध द्रुतमित्युक्तं तदर्धचाप्यणुद्रुतं।
अणुद्रुतफलं क्वापि विरामाणुद्रुते इति॥
इति संगीतरत्नावल्याम् ॥(5)

जैसे-क ख ग घ ङ इन सम्पूर्ण वर्णो के उच्चारण की काल अवधि को एकमात्रिक (एक मात्रा) या लघु कहा जाता था। क ख ग घ ङ, च छ ज झ ण इन सम्पूर्ण वर्णो के उच्चारण की काल अवधि को द्विमात्रिक (दो मात्रा) या गुरु कहा जाता था। इसके पश्चात क ख ग घ ङ, च छ ज झ ण, प फ ब भ म इन सम्पूर्ण वर्णो के उच्चारण की काल अवधि को त्रिमात्रिक (तीन मात्रा) या प्लुत कहा जाता था। लघु, गुरु, प्लुत के पश्चात द्रुत व अणुद्रुत पर विचार कर के यह ज्ञात होता है, कि लघु अर्थात् एक मात्रा से आधे समय को द्रुत तथा द्रुत के भी आधे समय को अणुद्रुत मात्रा कहा जाता था। प्राचीन शास्त्रकारों का ऐसा मानना तर्कसंगत है, कि संगीत का मूल सात स्वरों में निहित है, उसी प्रकार ताल का भी मूल अणुद्रुत (अणुमात्रा), द्रुत (अर्द्धमात्रा), लघु (एक मात्रा), गुरु (दो मात्रा), प्लुत (तीन मात्रा) इन पाँच मात्राओ में निहित है।

प्राचीन शास्त्रो में मार्गी तालों में लघु, गुरु, प्लुत का प्रयोग देखने को मिलता है, जिसका पूर्ण प्रमाण भरत कृत नाट्यशास्त्र की पंचमार्गी तालों में प्राप्त होता है। देसी तालों के लिए लघु, गुरु, प्लुत के साथ द्रुत का भी प्रयोग किया जाता था। इसके साथ ही कहीं-कहीं देसी तालों के लिए विरामन्तयं शब्द का उल्लेख भी प्राप्त होता है। यह ताल के चिन्ह व अंग कहलाते है, तालियों की संख्या चिन्हों के अनुसार निर्धारित की जाती है, अर्थात् यह कहा जाता है, कि जितने चिन्हों का प्रयोग किया जाता है, उतनी ही तालियाँ उस ताल की मानी जाती है। प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा तालों के लक्षणों को बताते समय काव्यशास्त्र, व्याकरण की कुछ पद्धतियों को भी ग्रहण किया है, जिनमें से तालों के लक्षण मे प्रयुक्त होने वाली मुख्य पद्धति 'गण' पद्धति है। गण आठ प्रकार के होते हैं जिनके चिन्ह इस प्रकार से हैं।

य, म, त, र, ज, भ, न, स जिनको गणों व मात्रा के साथ इस प्रकार से लिखा जाता है।(7)

(तालिका सं.-3)

यगण	।ऽऽ	एक लघु दो गुरु
मगण	ऽऽऽ	तीन गुरु
तगण	ऽऽ।	दो गुरु, एक लघु
रगण	ऽ।ऽ	गुरु, लघु, गुरु
जगण	।ऽ।	लघु, गुरु, लघु
भगण	ऽऽ।	एक गुरु, दो लघु
नगण	।।।	तीन लघु
सगण	।।ऽ	दो लघु, एक गुरु

इनके स्मरण के लिए हिन्दी व्याकरण का सूत्र भी प्रचलित है **"यमाताराजभानसलगा"**(8)

संस्कृत के ग्रंथकारो के कथानुसार कुछ श्लोको में अति संक्षेप रूप से ताल चिन्हो को दर्शाया गया है, जिसमे लघु, गुरु, प्लुत के लिए ल (लघु), ग (गुरु), प (प्लुत) का प्रयोग देखने को मिलता है। प्राचीन ग्रंथो के विभिन्न श्लोको में विरामान्त्यंलघु व विरामान्त्यंगुरु आदि विभिन्न शब्दो का प्रयोग देखने को मिला है। परंतु लक्षण में कहीं भी काकपद का प्रयोग नहीं प्राप्त होता। ताल लक्षण में देवनागरी लिपि के व्यंजन जिनका प्रयोग सदृश्य होने के कारण जब उन शब्दों का नाम लेने की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो उन अक्षरों के आगे "कार" जोड़ कर उसका नाम संबोधित किया जाता है।

जैसे-आकार, ककार, मकार, सकार, रकार से अ, क, म, स, र शब्द का बोध होता है। नारद कृत संगीत मकरंद में इन शब्दों का प्रयोग तालों के लक्षण में विभिन्न श्लोको में प्राप्त होता है।

प्लुतो गश्च प्लुतो गश्च ताले विजयसंज्ञके।
सकारश्चसकारश्च जयमङ्गलनाम च ॥39॥(9)

संगीतमकरंद के श्लोक सं. 39 मे "सकार" शब्द का प्रयोग सदृश्य है। नारद कृत संगीत मकरंद

में जिन तालों के नाम बताए गए है, उनको एकोत्तरशत ताल कहा जाता है।

संगीत मकरंद ग्रंथ के अनुसार तालों के नाम, चिन्ह व मात्रायें[10]
(तालिका सं.-4)

	तालों का नाम	तालों के चिन्ह	मात्राएं
1	चच्चत्पुट	ऽऽ ऽ।	2+2+1+3=8
2	चाचपुट	ऽ। ।ऽ	2+1+1+2=6
3	षट्पितापुत्रक	ऽ ।ऽ ऽ। ऽ	3+1+2+2+1+3=12
4	सम्पद्वेष्टिक	ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ	3+2+2+3=12
5	उद्घट्ट	ऽ ऽ ऽ	2+2+2=6
6	आदिताल	।	1
7	दर्पण	oo5	½+½+2=3
8	चर्चरी	oo । ◡oo । ◡	½+½+1+¼+½+½ +1+¼+½+½+ 1+¼ +½+ ½+1+¼+½+½ +1+¼+½+½+1+¼+ ½+½+1+¼+½+½ +1+¼=18
9	सिंहलील	। ooo ।	1+½+½+½+1=3½
10	कन्दर्प	oo ।ऽ ऽ	½+½+1+2+2=6
11	सिंहविक्रम	ऽ ऽ ऽ । ऽ ।ऽ ऽ	2+2+2+1+3+1+2 +3=16
12	श्रीरंग'	। ।ऽ ।ऽ ऽः	1+1+2+1+2+3=10
13	रतिलील	।ऽ ऽ।	1+2+2+1=6
14	रंगताल	ooooo5	½+½+½+½+2=4
15	परिक्रम'	oo ।ऽ ऽ	½+½+1+2+2=6
16	प्रत्यंग	ऽ ऽ ऽ।।	2+2+2+1+1=8
17	गजलील	।।।। ◡	1+1+1+1+¼=4¼
18	त्रिभिन्न	। ऽ ऽ	1+2+3=6
19	वीरविक्रम	। oo5	1+½+½+2=4
20	हंसलील	।। ◡	1+1+¼=2¼
21	वर्णभित्र	oo ।ऽ	½+½++1+2¾4
22	राजचूड़ामणि	oo ।। ।oo ऽ।	½+½+1+1+1+½ +½+2+1¾8
23	रंगद्योतेन'	। ।ऽ ऽ ऽ	1+1+2+2+3=9
24	राजताल	ऽ ऽ oo5	2+3+1è2+½+2+1
		। ऽ	+3=12
25	सिंहविक्रीडित	।। ऽ ऽ ।ऽ ऽ । ऽ	1+1+3+2+1+2 +3 +1+3=17
26	वनमाली	oooo ।oo5	½+½+½+½+1+1/ 2+1/2+2=6
27	चतुरस्त्र	ऽ ऽ ।oo5	2+2+1+1/2+1/2+ 2=8
28	तिस्त्रवर्ण'	।oo ।ऽ	1+½+½+1+2=5
29	मिश्रवर्ण'	ooooooo oooooo0 o5ऽऽ oo5 ऽ ।ऽ	½+½+½+½+½+ ½+½+½+½+½+ ½+½+3+2+1/2+½ +2+2+1+2=19¾
30	श्रृंगप्रदीप	ऽऽ ।ऽ ऽ	2+2+1+2+3=10
31	हंसनाद'	ऽ ऽ oo	2+3+½+½=6
32	सिंहनाद	।ऽऽ ।ऽ	1+2+2+1+2=8
33	मल्लिकामोद'	ऽऽ ।।।।	2+2+1+1+1+1=8
34	शरभलील'	।oooo ।	1+½+½+½+½+1=4
35	रंगाभरण'	ऽऽ ।। ऽ ऽ	2+2+1+1+3+2=11
36	तुरंगलील	oo ।	1/2+1/2+1=2
37	सिंहनन्दन'	ऽऽ । ऽ ।ऽoo ऽ । ऽ । ऽः ।। निशब्द ।।।।	2+2+1+3+1+2+½+ ½+2+1+3+1+3+1 +1+1+निशब्द 1+1+1+1=29
38	जयश्री	ऽ ।ऽ ।ऽ	2+1+2+1+2=8
39	विजयनन्द	। ।ऽऽऽ	1+1+2+2+2=8
40	प्रतिताल	।oo	1+½+½=2
41	मकरन्द	oo ।। ।ऽ	½+½+1+1+1=6
42	कीर्तिताल	ऽ । ऽ ऽ । ऽ	2+1+3+2+1+3=12
43	विजय'	ऽ ऽ ऽ ऽ	3+2+3+2=10
44	जयमंगल'	। ।ऽ । ।ऽ	1+1+2+1+1+2=8
45	राजविद्याधर	।ऽoo	1+2+1/2+1/2=4
46	मण्ठ'	। ।ऽऽऽ	1+1+2+2+2=8
47	जयताल	।ऽ । ।oo	1+2+1+1+1/2+1/ 2=6
48	कुडुक्क	oo ।।	½+½+1+1=3
49	निःसारिके'	।।	1+1+¼=2¼
50	क्रीड़ाताल	oo	½+½+¼=1¼
51	त्रिभंगी'	। ।ऽऽ ।	1+1+2+2+1=7
52	कोकिलाप्रियताल	ऽ । ऽः	2+1+3=6
53	श्रीकीर्ति	ऽऽ ।।	2+2+1+1=6

54	बिंदुमालिके'	ऽ।।ऽo	?!!?)त्र6)
55	समताल'	।।ooo	1+1+½+½+½+¼ =3¾
56	नन्दन	oo ऽ	½+½+3=4
57	उदीक्षण	।।ऽ	1+1+2=4
58	मट्टिका	ऽo ऽः	2+½+3=5½
59	वर्णमट्टिका'	o ।o	½+1+½=2
60	अभिनंदन	।।ooऽ	1+1+½+½+2=5
61	अंतरक्रीडा'	oo	½+½+¼=1¼
62	मल्लताल'	।।oo	1+1+½+½+¼=3¼
63	छीपक	oo ।।ऽऽ	½+½+1+1+2+2=7
64	अनंग	।ऽ।।ऽ	1+3+1+1+2=8
65	विषम	oooo ˘	½+½+½+½+¼+½
		oooo ˘	+½ +½+½+¼=4½
66	नान्दीताल'	।o ।ऽ	1+½+1+2=4½
67	मुकुन्दक' ताल के दो लक्षण मत है	।o ।ऽ ।oooo oo ।।।।	1+½+1+2=4½1+ ½+½+½+½+½ +½+1+1+1+1=8
68	कूड्डु	।।।।ऽ	1+1+1+1+2=6
69	एकताल	o	)
70	पूर्ण कंकाल'	।।।।ऽ।	1+1+1+1+2+1=7
71	खंड कंकाल'	oo।	½+½+1=2
72	समकंकाल	ऽऽ।	2+2+1=5
73	विषम कंकाल	।ऽऽ	1+2+2=5
74	चतुरस्त्रताल	ऽooo	2+½+½+½=3½
75	दोंबुली'	।।	1+1+¼=2¼
76	अभंग'	ऽ।ऽ	2+1+3=6
77	रायभंकाल	ऽ।ऽoo	2+1+2+½+½=6
78	लघुशेखर	।	1+¼=1¼
79	प्रतापशेखर'	oo ˘	½+½+¼=1¼
80	जगझम्पा'	ऽooo ˘	2+½+½+½+¼=3¾
81	चतुमुख	।ऽ।ऽ	1+2+1+3=7
82	झम्प'	oo।	½+½+1+¼=2¼
83	प्रतिमण्ठ'	।ऽ।ऽऽऽ	1+2+1+2+2+2=10
84	तृतीय ताल	oooo ˘	½+½+½+½+¼=2¼
85	बसन्त'	oo।ऽ	½+½+1+2=4
86	ललित	oo।ऽ	½+½+1+2=4
87	श्रतिताल	।ऽ	1+2=3
88	करणताल	oooo।	½+½+½+½=2
89	षट्ताल	oooo।	½+½+½+½+½+½=3
90	वृद्धन'	ooऽ	½+½+2=3
91	वर्णमठा'	ऽऽ	2+2=4
92	रायनारायण	oo।ऽ।ऽ	½+½+1+2+1+2=7
93	मदन	oo ऽ	½+½+3=4
94	पार्वती लोचन'	ऽऽऽ।ऽऽऽ ooo	2+2+2+1+2+2+2 +½+½+½=14¼
95	गारुगी'	o ooo ˘	½+½+½+½+¼=2¼
96	श्रीनन्दन	।ऽ।ऽ	1+2+1+3=7
97	लीला	o ।ऽ	½+1+3=4½
98	विलोके'	।oo ऽ	1+½+½+3=5
99	ललितप्रिय'	।।ऽ।	1+1+2+1=5
100	रागवर्धन'	oo।ऽ	½+½+1+3+¼=5¼
101	उत्सव	ऽ।	3+1=4

*ताल की मात्रा संगीत मकरंद में वर्णित लक्षण के अनुसार दी गयी है। अन्य संगीत ग्रन्थों में यह मात्रा संख्या भिन्न भिन्न प्राप्त होती है।

पूर्ववर्ती ग्रंथ भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार पंचमार्गी तालें चच्चत्पुट, चाचपुट, सम्पद्वेष्टिक, षट्पितापुत्रक, उद्घट्ट है। परंतु संगीत मकरंद में तालों को मार्गी व देसी में विभाजित नहीं किया गया है। शास्त्रो में चच्चत्पुट को अन्य नाम चञ्चत्पुट, चञ्चूपुट तथा चतुरस्त्र ताल से भी संबोधित किया जाता है। शास्त्रों में पंचमार्गी तालों के तीन भेद बताए गए है—यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल, यथाक्षर अर्थात् यथा अक्षर = जैसी ताल वैसे अक्षर जिसमें ताल के नाम के अनुसार वर्णो की व्यवस्था की जाती है। द्विकल अर्थात् प्रत्येक मात्रा के दो गुरु, चतुष्कल अर्थात् प्रत्येक मात्रा के चार गुरु इस अनुपात से ताल स्वरूप यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल के अनुसार चच्चत्पुट का यथाक्षर स्वरूप (ऽऽ।ऽ)=8 मात्रा, द्विकल स्वरूप (ऽऽऽऽऽऽऽ)=8 गुरु 16 मात्रा, चतुष्कल स्वरूप(ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=16 गुरु 32 मात्रा। चाचपुट का यथाक्षर स्वरूप (ऽ।ऽ)= 6 मात्रा, द्विकल स्वरूप (ऽऽऽऽऽ)=6 गुरु 12 मात्रा, चतुष्कल स्वरूप(ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=12 गुरु 24 मात्रा। षट्पितापुत्रकका यथाक्षर स्वरूप (ऽ ।ऽऽ। ऽ)12 मात्रा, द्विकल स्वरूप (ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=12 गुरु 24 मात्रा, चतुष्कल स्वरूप(ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ ऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=24 गुरु 48 मात्रा। सम्पद्वेष्टिक

का यथाक्षर स्वरूप (ऽऽऽऽ)=12 मात्रा, द्विकल स्वरूप(ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=12 गुरु 24 मात्रा,चतुष्कल स्वरूप(ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=24 गुरु 48 मात्रा। उद्धट्ट (ऽऽऽ)=6 मात्रा, द्विकल स्वरूप (ऽऽऽऽऽ)=6 गुरु 12 मात्रा, चतुष्कल स्वरूप (ऽऽऽऽऽऽऽऽऽऽ)=12 गुरु 24 मात्रा। इस प्रकार से भरत कृत नाट्यशास्त्र में यथाक्षर द्विकल, चतुष्कल के अनुसार ताल का विवरण प्राप्त होता है।[11]

पंडित नारद कृत संगीत मकरंद की मूल प्रति Oriental Institute of Baroda प्राच्य विद्या मंदिर बड़ौदा से प्राप्त है, जो सम्पूर्ण संगीत जगत में सर्वमान्य है। पंडित नारद कृत संगीत मकरंद के द्वितीय अध्याय नृत्याध्याय द्वितीय पादः के एकोत्तरशत तालनामानि व तालललक्षणानि में पृष्ठ संख्या 34 में एकोत्तरशत ताल के नाम व पृष्ठ संख्या 35-39 तक श्लोक संख्या 17 से 74 तक दिये गए है। शोध पत्र की शब्द सीमा को ध्यान में रखते हुये श्लोको को व अन्य विस्तृत जानकारी को यहाँ न रखते हुए विषय से संबन्धित अध्याय मे रखा जाएगा , परंतु यहाँ पर विषय से संबन्धित उचित जानकारी देने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष- शोधपत्र के माध्यम से शोध छात्रा द्वारा पंडित नारद कृत संगीत मकरंद में वर्णित एकोत्तरशतताल के विषय में उपलब्ध माहिती व अध्ययन द्वारा प्राप्त सामाग्री से इस विषय को उजागर करने का प्रयास किया गया है। शोध छात्रा को ऐसा प्रतीत होता है कि यह विषय अनुसंधान से अछूता रहा है। शोध छात्रा व शोध मार्गदर्शक के द्वारा अध्ययन व विचार के पश्चात् यह ज्ञात हुआ की एकोत्तरशतताल के लक्षण में प्राचीन शास्त्रों की विधि का ही प्रयोग किया गया है, और उनके अनुसार ही वर्ण, मात्रा, अक्षर को आधार मान कर तालों के लक्षण को बताया गया है। विभिन्न साहित्य ग्रन्थों व संगीत ग्रन्थों में मात्रा, वर्ण, अक्षर भिन्न अथवा वर्तमान में प्रयोग होने वाली पद्धति के अनुसार प्राप्त होते है। जिनसे यह माना जाता है, कि संगीत मकरंद में भी नवीन पद्धति का प्रयोग हुआ होगा परंतु मार्गदर्शन व जिज्ञासा के अनुरूप शोधछात्रा ने इस विषय पर कार्य करने की इच्छा को जागृत रखते हुये कार्य सम्पन्न किया और तथ्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। संगीत मकरंद ग्रंथ में तालों को मार्गी व देसी तालों में विभाजित नहीं किया गया है। आचार्य भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र में उपलब्ध पंचमार्गी तालों के लक्षण की भांति ही संगीत मकरंद में एकोत्तरशत ताल के लक्षण प्राप्त होते है, जिनमें से किसी भी ताल में काकपाद, लघुविराम, द्रुत विराम का प्रयोग नहीं किया गया है। मुख्यता तालों का निर्माण अणुद्रुत, द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत द्वारा ही प्राप्त होता है। अध्ययन से विभिन्न तथ्यों को समझने और उनके प्रयोग से विषय से संबन्धित जानकारी के अनुसार कुछ श्लोकों में द्रुत का बोधन व्योम और बिन्दु शब्द से भी किया गया है, तथा विरामान्त्यं का प्रयोग अनेक बार प्राप्त होता है। विरामन्तयं का अर्थ समान्य भाषा के अनुसार विराम़अंत अर्थात् अंत में विराम का प्रयोग। विरामन्तयं शब्द का प्रयोग संगीत मकरंद के विभिन्न श्लोको में देखने को मिलता है। पंडित नारद कृत संगीत मकरंद में वर्णित तालों के लक्षण से जुड़े प्रत्येक तथ्यो का आधार मानते हुये इस विषय पर कार्य किया गया है। यह प्राचीन संगीत ग्रंथ है, जिसके विषय में विभिन्न विद्वानो के मत इसके कालकेविषय परहोते रहे है, परंतु शोध छात्रा को निश्चित रूप से यह प्रतीत होता कि इसमें प्राचीन शास्त्रो की पद्धति का ही प्रयोग हुआ है। संगीत मकरंद पंडित नारद द्वारा रचित संगीत का सम्पूर्ण ग्रंथ है, जिसमें गान, ताल, ताल के दश प्राण, वाद्य,नृत्य,नाट्य का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. नारद विरचितः संगीत मकरंद/ओरिएंटल इंस्टीट्यूट ऑफ बड़ौदा (गुजरात)
2. सम्पादन गर्ग लक्ष्मी नारायण/पं. नारद कृत संगीत मकरंद/संगीत कार्यालय हाथरस
3. नाट्यशास्त्र-आचार्यभरत/अनुवादक बाबू लाल शुक्ल शास्त्री/चौखंभा संस्कृत ग्रंथालय उत्तर प्रदेश
4. छन्दोंग्योंपनिष्द/गीता प्रेस/गोरखपुर-2014
5. पाण्डेय डॉ. सुधांशु/ताल रत्नाकर/संस्कृति दर्पण लखनऊ/प्रथम संस्करण 2014
6. दाधिच डॉ. पुरू/अष्टोत्तर शतताल लक्षणम्/बिन्दु प्रकाशन इंदौर (मध्य प्रदेश)

7. पाण्डेय डॉ. सुधांशु/ताल प्राण/संस्कृति दर्पण लखनऊ/प्रथम संस्करण 2013
8. डॉण् जौहरी रेनू/ग्रंथ सारामृत/कनिष्क पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली/प्रथम संस्करण 2019
9. डॉ. जौहरी रेनू/साम/कनिष्क पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली/प्रथम संस्करण 2020
10. सिंह विद्या नाथ/ताल प्रस्तार/बी.आर. रिदम नई दिल्ली/प्रथम संस्करण 2014
11. डॉ. सेन कुमार अरुण/भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन/मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी/तृतीय संस्करण 2005
12. ताल एक ऐतिहासिक यात्रा/डॉ सीमा जौहरी/कनिष्क पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली/प्रथम संस्करण 2019

संदर्भ

1. अष्टोत्तर शतताल लक्षणम्/दाधिच डॉ. पुरू/पृष्ठ-1
2. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन/सेन अरुण कुमार/पृष्ठ-272
3. अष्टोत्तर शतताल लक्षणम्/दाधिच डॉ. पुरू/पृष्ठ-2
4. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन/सेन अरुण कुमार/पृष्ठ-271
5. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन/सेन अरुण कुमार/पृष्ठ-272
6. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन/सेन अरुण कुमार/पृष्ठ-273
7. अष्टोत्तर शतताल लक्षणम्/दाधिच डॉ. पुरू/पृष्ठ-3
8. अष्टोत्तर शतताल लक्षणम्/दाधिच डॉ. पुरू/पृष्ठ-8
9. नारद विरचितः संगीत मकरंद/पृष्ठ-35-39
10. नारद विरचितः संगीत मकरंद/श्लोक 39/पृष्ठ-36
11. ताल एक ऐतिहासिक यात्रा/जौहरी डॉ सीमा/पृष्ठ-28-29

बौद्ध वाङ्मय में संगीत : एक अध्ययन

डॉ. निशा पाठक

सारांश

बौद्ध कालीन संगीत विषयक जानकारी हमें बौद्ध साहित्य 'जातक', 'पिटक', 'अवदान' के रूप में तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थों - बुद्ध चरित्र, ललित विस्तर, संदर्भ पुण्डरीक, मिलिन्दपन्ह के अतिरिक्त प्राचीन शिल्प एवं चित्रकला आदि प्रमुख स्रोतों से प्राप्त होती है। इन स्रोतों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस काल के संगीत में जीवन की व्यापकता का समावेश अधिक हो गया था तथा वही संगीतज्ञ सफल समझा जाता था जोकि अपने संगीत प्रदर्शन से मानव को समस्त विकारों से ऊपर उठा सके। इस काल के संगीत में वैदिक तथा लौकिक दोनों पक्षों का प्रचलन था। परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह दिखाई देती है कि गौतम बुद्ध के पावन सिद्धान्त ही इस युग के संगीत की आधारशिला बने जिससे संगीत में नैतिकता का समावेश हुआ। बौद्ध कालीन समाज में ''बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'' का नाद जो कि लयबद्ध संरचना के रूप में घोषित किया गया था, वह आज भी गुंजायमान है।

राज्य की श्रेष्ठ स्त्री कलाकारों को गणिका कहा जाता था। ये गणिकाएँ गायन, वादन एवं नृत्य तीनों कलाओं में निपुण होती थी। लिच्छवी गणराज्य की गणिका आम्रपाली अधिक प्रसिद्ध थी। मिलिन्दपन्ह में राजसभा के अन्तर्गत 16000 नर्तकियों के नियुक्त होने का उल्लेख है- ''सोलस्सु नाटकीसहस्सेषु'' उपरोक्त वर्णनों से यह सिद्ध होता है कि बौद्ध काल में संगीत मानव से पूर्णतः जुड़ा हुआ था।

KEY WORDS

1. जातक कथा
2. गणिका
3. गांधर्व
4. लौकिक गान
5. गाथा गान

धर्म प्रधान भारतीय संस्कृति में बौद्ध धर्म का उद्भव छठी शताब्दी ई.पू. (बुद्ध जन्म 566 ई.पू.) में हुआ। भारत की सांस्कृतिक गतिविधियों के ज्ञान के लिए बौद्ध साहित्य का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। बौद्ध काल का साहित्य 'जातक', 'पिटक', और 'अवदान' के रूप में मिलता है जो हमें इस काल की स्थिति का ज्ञान कराता है। जातक का अभिप्राय एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से होता है जिसमें बोधिसत्व के जीवन सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन हो। 'पिटक' (पिटारी) बुद्ध वचनों के संग्रह का नाम है और 'अवदान' में भिक्षु भिक्षुणियों के पूर्व जन्म की कथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त इस युग में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ बुद्धचरित, ललित-विस्तर, संदर्भ-पुंडरीक, मिलिन्दपन्हों आदि लिखे गए। 'थेरी गाथा' बौद्ध भिक्षुणियों के भाव प्रणव आध्यात्मिक गीतों का संग्रह है। महत्व की बात यह है कि इस काल के

एसोसिएट प्रोफेसर (संगीत), कानपुर विद्यामंदिर महिला, महाविद्यालय, कानपुर-2

साहित्य में उपलब्ध संगीत विषयक सामग्री का व्यक्तिकरण भारत की प्राचीन शिल्प एवं चित्रकला में उपलब्ध है (अंजता, भरहुत, बौद्ध, गया, सांची, मथुराशैली, गांधार शैली) जो कि तत्कालीन वाद्य एवं नृत्य के स्वरूपोद्घाटन के लिए नितान्त सहायक है।

बौद्ध युग संगीत के लिए समृद्धिशाली युग मान्य है। इस काल के संगीत में जीवन की व्यापकता का समावेश अधिक हो गया था तथा वहीं संगीतज्ञ सफल समझा जाता था जो कि अपने संगीत प्रदर्शन से मानव को समस्त विकारों से ऊपर उठा सके। इस काल के संगीत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि गौतम बुद्ध के पावन सिद्धान्त ही इस युग के संगीत की आधारशिला बने और जिससे संगीत में नैतिकता का समावेश हुआ। भगवान बुद्ध स्वयं एक उत्तम संगीतज्ञ थे तथा संगीत को ईश्वर की दिव्य आभा के सदृश्य ही पवित्र मानते थे। उन्होंने प्राचीन मंत्रों, आध्यात्मिक गीतों तथा नृत्य आदि को नीरांजन (आरती) के लिए उपयुक्त मानते हुए संस्कृतनिष्ठ प्रार्थनाओं के स्थान पर देशी भाषाओं में रचित प्रार्थनाओं के प्रयोग पर बल दिया। संदर्भ पुंडरीक में संगीत का अधिकांश उल्लेख पूजा के उपकरण रूप में ही हुआ है। डॉ. राम कुमार स्वामी के अनुसार बौद्ध युग की कला एवं संस्कृति तथा कलाकृतियों में आर्य तथा द्रविड़ जातियों से ग्रहण की गई आध्यात्मिक परंपराओं तथा इष्ट देवों की पूजा विधियों के ही पुनदर्शन होते हैं।

बौद्ध धर्म की जातक कथाओं के आधार पर संगीत को राजमहलों से लेकर सामान्य घरों तक आदर प्राप्त था। इलाहाबाद के स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख से यह विदित होता है कि उस काल में युवराजों को युद्ध की शिक्षा के साथ-साथ संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी। बोधिसत्व संगीत तथा नाट्यकला के अच्छे ज्ञाता थे तथा उनके परिवार की सभी महिलाएँ संगीत में कुशल थी। ललित विस्तर में लिखा है कि बुद्ध की माता माया देवी स्वयं कला निपुण थी। बुद्ध के भावी श्वसुर ने विवाह के पूर्व यह शर्त रखी थी कि अपनी कला सम्पन्न पुत्री के लिए योग्य सिद्ध करने के लिए भावी वर को संगीतादि कलाओं में सिद्धहस्त करना होगा। सिद्धार्थ के लिए ऐसी वधू की अपेक्षा थी जो गणिका के समान कला कुशल हो- ''शास्त्रों विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव।'' उस काल में राजा भी अपनी रानियों के साथ नाचने वाले साथी की भांति नाचा करते थे। बुद्ध चरित से स्पष्ट है कि तत्कालीन अन्तःपुरों में महती वीणा, मृदंग, पणव, तूर्य, वेणु आदि वाद्यों का वादन तथा गायन मनोरंजनार्थ किया जाता था। पितृ-पुत्र समागम नामक कथा में उल्लेख है कि बुद्ध के जन्मोत्सव पर पाँच सौ वाद्यों का वृन्दवादन हुआ था।

बौद्ध धर्म के पालि त्रिपिटकों में संगीत के लिए गांधर्व तथा शिल्प संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है जिसके अन्तर्गत गीत, वाद्य, नृत्य आदि का समावेश था। इस काल का साहित्य वैदिक मन्त्रोच्चारण और लौकिक रूप में गाथा गान से प्रभावित था। जातक युग में वेद तथा वेदांगों का अध्ययन वैसा ही प्रचलित था जैसा कि वैदिक युग में। वैदिक ऋचाओं की भांति बौद्ध सूत्तों को सस्वर पढ़ने की प्रथा थी। पाली महावाग तथा उदान में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि गौतमबुद्ध की इच्छानुसार कोण कुट्टिकण्ण नाम भिक्षु ने अट्ठकविग्गिक (अर्थपाद) सूत्रों को सस्वर पढ़ा था।

बौद्धकालीन लौकिक गान के अन्तर्गत पालि त्रिपिटकों में गाथा गायन का उल्लेख प्राप्त होता है। ये गाथाएँ महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र की पवित्रताओं को प्रशस्तियों के रूप में गायी जाती थी। 'थेरीगाथा' बौद्ध भिक्षुणियों के भाव प्रणव आध्यात्मिक गीतों (522 गीतों) का संकलन है। राम रागिनियों में निबद्ध इन गीतों की रचना 73 भिक्षुणियों ने की थी। बंगाल के चर्या गीत व ब्रजगीत आदि सन्यासियों के लिए आचरण एवं नियम की वाचक गाथाएँ थी। वर्तमान काल में ये गीत रीतियाँ अप्रचलित है किन्तु अनेक बौद्ध ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलता है।

बौद्ध युग में लोक संगीत की अपेक्षा शास्त्रीय संगीत की सूक्ष्मताओं को जनता ने अधिक समझा। शास्त्रीय संगीत अपने पूर्ण यौवन पर था। संगीत में स्वर, ग्राम, मूर्च्छना के साथ रागों का भी प्रचलन आरंभ हो चुका था। बौद्ध कालीन राग परंपरा को समझने के लिए लंकावतार सूत्र का निम्न अंश महत्वपूर्ण है- ''अथ रावणों राक्षसाधिपतिः सपरिवारः. ..... गाथाभिर्गीतैरनु गायति स्म।'' अर्थात् भगवान बुद्ध के दर्शन होने पर रावण ने अपने स्कन्ध से

लटकती हुई वीणा पर सप्त स्वरों से युक्त गाथा गान आरंभ किया। वीणा का वादन इन्द्रनीलमय दण्ड से किया जा रहा था तथा उस पर स्वरावली का वादन किया जा रहा था- सहर्ष्य, ऋषभ, गांधार, धैवत, निषाद मध्यम तथा कैशिक। दक्षिण के एक संगीतज्ञ सहर्ष्य को षडज के तथा कैशिक को त्रिश्रुतिक पंचम के पर्यास्वरूप मानने के पक्ष में है।

जातक साहित्य में विविध प्रकार के नृत्यों का उल्लेख मिलता है। पंचगरूक जातक के अनुसार बोधिसत्व के राज्याभिषेक के अवसर पर 16000 नर्तकियों ने नृत्य किया था। अवदान कल्पलता के अनुसार कुमार जीमूत वाहन ने जब सिद्धकुमारी का पाणिग्रहण किया था तब महिलाओं ने आंगन में नाच गाने का जलसा किया था। सुरूचि जातक में उल्लिखित अर्धाङ नृत्य में नर्तकियाँ एक ही हाथ, एक ही पैर, एक ही नेत्र, तथा एक दाढ़ नचाती व हिलाती थी, शेष अंगों का प्रयोग नहीं किया था। खात्रिवादी जातक में गीत, नाट्य वादित्र एवं नृत्य को राजकीय मनोरंजन के अन्तर्गत रखा गया है। अश्वजित और पुनर्वसु नामक दो भिक्षुओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे वारनारियों को लेकर रासलीला करते थे। बौद्ध साहित्य में नृत्य तथा संगीत के कार्यक्रम उद्यान तथा सार्वजनिक स्थल पर रखने का वर्णन है। राजगृह के निकट पर्वत के ऊपर नृत्य संगीत व वाद्य के उत्सव का उल्लेख मिलता है। नृत्य संगीत एवं वाद्य में निपुण गणिकाएँ एक रात के मनोरंजन का 100 कार्षापण शुल्क लेती थी। स्वयं महात्मा बुद्ध ने नृत्य में विलासपूर्ण अंग प्रदर्शन तथा निम्नस्तर के मनोरंजन हेतु संगीत को मान्यता नहीं दी ऐसे संगीत को सर्वथा हेय समझा गया।

बौद्ध काल में तत्, सुषिर, घन, अवनद्ध इन चर्तुविध वाद्यों का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है। तत् वाद्यों में सप्ततंत्री वीणा के अतिरिक्त परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी तथा तुम्बवीणा को प्रमुख वाद्य बताया है। राजाओं के मनोविनोद हेतु रंगमंच पर वीणा वादन होता था। सुषिर वाद्यों के अन्तर्गत शंख, वेणु, तूणव और नकुल का उल्लेख है। जातकों में मृदंग आनक, आलम्बर, पणव, मुरज, पटह, डिण्डिम, मडडुक, कुम्भथूण तथा आलिंग्य आदि अवनद्ध वर्ग के वाद्य वर्णित है। त्रिपिटकों में उपर्युक्त प्रकार के अतिरिक्त भरू और भरूपटह दो नए नाम मिलते हैं। धन वाद्यों में घण्टा, झल्लली, झल्लरी, तथा कांस्य ताल का निर्देश है।

बौद्ध काल में संगीत की शिक्षा तथा साधना राजवंश के युवक युवतियों से लेकर साधारण परिवार तक के लोग प्राप्त करते थे। इस काल में संगीत शिक्षण के लिए विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों का होना इस बात का संकेत है कि संगीत की विधिवत शिक्षा का प्रबन्ध था। तक्षशिला विद्यादान का प्रमुख केन्द्र था। परोपहस्स जातक के अनुसार बोधिसत्व ने इसी विश्वविद्यालय में समस्त शिल्पों की शिक्षा प्राप्त की थी। शब्द विद्या, आध्यात्म विद्या, चिकित्सा विद्या, हेतु विद्या और शिल्प विद्या नामक वैदिक पंच महाविद्या जातक युग में 'पंचयान' कहलाती थी। वाराणसी, नालन्दा, विक्रमशिला, तदन्तपुरी, जैसे अन्य विश्वविद्यालयों में भी संगीत अथवा गांधर्व का स्वतंत्र निकाय अथवा फैकल्टी थी तथा इसके अधिष्ठाता के रूप में भारत के विख्यात संगीतज्ञों की नियुक्ति हुआ करती थी।

बौद्ध काल में संगीत तथा नाट्य को राज्याश्रय प्राप्त था। राजसभा में गायक वादक तथा नर्तक उचित वेतन पर नियुक्त रहते थे। मिलिपदण्ड में राज्यसभा के अर्न्तगत 16000 नर्तकियों के नियुक्त होने का उल्लेख है– ''सोलस्सु नाटकी सहस्सेषु।'' इनके अतिरिक्त प्रसंगवशात राज्य की कुशल गणिकाओं को गायन वादन तथा नृत्य के लिए आमंत्रित किया जाता था। बौद्ध साहित्य में जिन गणिकाओं का नामोल्लेख है उनमें लिच्छवी गणराज्य की गणिका आम्रपाली अधिक प्रसिद्ध है। बौद्ध विहारों में संगीताराधना के लिए देवदासियों की नियुक्ति की जाती थी तथा इनकी आवश्यकताओं का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। इन कलाकारों पर शासन का पूर्ण नियंत्रण था। सुतनुका नामक देवदासी को नैतिक अपराध के लिए दण्ड देने की बात तत्कालीन अभिलेख पर अंकित है।

बौद्ध ग्रन्थों तथा भरहुत के चित्रों में पंचशिख गंधर्व तथा धृतराष्ट्र यज्ञ का प्रचुर उल्लेख है। बौद्धों के अनुसार गंधर्व तथा यज्ञों का अन्तर्भाव भुम्भदेव के अन्तर्गत है। इनका कार्य बुद्ध तथा बोधिसत्त्व

की परिचर्या करना है। गंधर्वो के संगीत विद्यापाठंत होने की बात हाथी गुफा शिलालेख से प्रमाणित होती है। मथुरा की इन्द्रशैल गुफा में बुद्ध का दक्षिण ओर हाथ में वीणा धारण किए हुए पंचशिख गंधर्व रूप अंकित है, जिनका अनुसरण छह अप्सराओं के द्वारा किया जा रहा है। यही प्रसंग तब्तइवहि के उत्खनन में प्राप्त शिलाखण्ड पर अंकित है, जिसमें पंचशिख गंधर्व का वीणा वादन स्पष्टतः अंकित है।

संगीत द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार तिब्बत, नेपाल, वर्मा, कोरिया, चीन, जापान तथा कम्बोडिया आदि देशों में हुआ। कुण्डवलन सम्मेलन (78-101 ई.) की अध्यक्षता सुविख्यात बौद्ध कुलपति वासुमित्र ने की थी जिसमें अश्वघोष और नागार्जुन जैसे विद्वानों ने भाग लिया था। प्रसिद्ध दार्शनिक अश्वघोष ने बुद्ध का सन्देश संगीत के द्वारा ही बहुजन समाज तक पहुँचाया था। वे गायकों की टोलियाँ बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान गीत वाद्यों के सहारे बौद्ध तत्व ज्ञान का प्रसार करते थे। जिससे श्रोताओं के हृदय में समरसता उत्पन्न होती थी। चीन से एक ऐसी गोष्ठी का वर्णन मिलता है जिसमें भारतीय बौद्ध भिक्षुओं की मंडली में तत्कालीन संगीत के अनेक ज्ञाता विद्यमान थे। उन्होंने राग भैरव में निबद्ध एक विशेष धुन के द्वारा बौद्ध दर्शन का विभिन्न देशों में प्रचार किया। वे विभिन्न प्रकार के वाद्यों से सुसज्जित होते थे। ऐसा ही विचार स्वामी प्रज्ञानन्द जी ने प्रकट किया। श्रीलंका, जापान तथा तिब्बत में गांधार ग्राम के अनुसार बौद्ध धर्म सम्बन्धी गायकी को गामुट के अन्तर्गत प्रयोग करते हैं। बौद्ध कालीन समाज में 'बुद्धं शरणं गच्छामि' 'संघं शरणं गच्छामि', का नाद जो कि लयबद्ध संरचना के रूप में घोषित किया गया था वह सैकड़ों वर्षो तक गुंजायमान रहा।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बौद्ध युग का समाज संगीत के आध्यात्मिक सौन्दर्य से पूर्णतः परिचय प्राप्त कर चुका था। इस युग में संगीत का प्रचार प्रसार मानव कल्याण, आत्मोत्थान तथा जनता की भलाई के लिए हुआ। संगीत साहित्य में क्रांति के फलस्वरूप श्रृंगारिक गीतों का महत्व समाप्त हुआ। संगीत पर जो वासना की धुंध छाई हुई थी वह विनष्ट हो गई।

संदर्भ

1. भारतीय संगीत का इतिहास - शर्मा भगवत शरण - पृ. 17
2. History of Indian and Indonesian Art- स्वामी डॉ. रामकुमार, पृ. 24
3. बिहार थ्रू दि एजेज़ - दिवाकर आर.आर., पृ. 284
4. सोशल लाइफ इन एनशन्ट इंडिया-चकलादार, पृ. 85
5. ललित विस्तर पृ. 139 शोशल लाइफ इन एनशन्ट इंडिया-चकलादार, पृ. 127, 139
6. मेड इन इंडिया - कौरनेलिया स्पैन्सर, पृ. 127
7. अर्थपाद - वापट, पृ. 152
8. बौद्ध धर्म साधना में संगीत - शर्मा प्रो. पंकज माला, संगीत दिसम्बर 2009, पृ. 4
9. सेतकेतु जातक 337, जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृ. 97
10. सरेण अभासि, अर्थपाद सुत्त भूमिका, बापट, पृ. 1
11. भारतीय संगीत का इतिहास - शर्मा सुनीता, पृ. 60
12. पाश्चात्य स्वरलिपि पद्धति एवं भारतीय संगीत - डॉ. स्वतंत्र शर्मा, पृ. 107
13. संगीतायन - शर्मा अमलदास, पृ. 176
14. ''स्टडीज इन लंकावतार सूत्र'' इंगलिश अनुवाद, सुझुकी प्रो. डी.टी.।
15. जनरल ऑफ म्यूजिक एकेडमी, मद्रास, खण्ड 16, पृ. 37
16. पंचगरूक जातक, पृ. 132
17. प्राचीन भारतीय मनोरंजन - राय मन्मथ, पृ. 303
18. सुरूचि जातक 489
19. खात्रिवादी जातक 3, 40
20. प्राचीन भारतीय मनोरंजन - राय मन्मथ, पृ. 54
21. चुलवग्ग 5, 2, 6
22. चुलवग्ग 8, 3, 1 तथा 1, 13, 2
23. गुत्तिल जातक - 243
24. महावस्तु भाग 3, पृ0 165, मेहता आर.एल., प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 314-316
25. भारतीय संगीत का इतिहास- शरच्यन्द्र परांजये, पृ. 172
26. जातक कालीन भारतीय संस्कृति-वियोगी, पृ. 98
27. एनशन्ट इंडियन एजुकेशन - मुखोपाध्याय राधाकुमुद, पृ. 490
28. उत्तर भारतीय अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन-राम

ओझा राम प्रकाश, पृ. 55
29. पुरातात्विक अवशेषों में संगीत कला का अनुशीलन - संगीत सितम्बर 2009, पृ. 7
30. उत्तर भारतीय अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन - ओझा राम प्रकाश, पृ. 55
31. ब्रज का इतिहास- कष्णदत्त बाजपेई, पृ. 85
32. भारतीय संस्कृति और कला - मुकर्जी राधा कमल , पृ. 129
33. समाज कल्याण में संगीत का योगदान-संगीत पत्रिका अप्रैल 1964, पृ0 31
34. Music of Nations - Prajananpa Swami P. 185.
35. Invitation of Music - Narsimhan Shakuntala, P.13.

संगीत और साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

स्वाति शर्मा

सारांश

संगीत कला और साहित्य कला शुरू से ही एक-दूसरे के पूरक रहे है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण विद्या की धात्री देवी सरस्वती हैं, जिनके एक हाथ में वीणा तथा दूसरे हाथ में पुस्तक है जो संगीत और साहित्य के घनिष्ठ अंतर्सम्बन्ध की दर्शाता है। इनके बिना किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रभावशाली विकास नहीं हो सकता जो निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होता है-

''साहित्य संगीत-कला-विहीन : साक्षात् पशु पुच्छविषाणहीनः''

अर्थात् साहित्य, संगीत एवं कला विहीन मनुष्य, सींग और पूँछ से विहीन पशु के समान है।

संगीत और साहित्य दोनों ही कलाएँ रस की अनुभूति कराते हैं। ये दोनों ही रसानुभूति के आवश्यक तत्व है। सम्पूर्ण जगत् में कुछ भी रसहीन नहीं है। काव्यकला, संगीतकला, चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला या अन्य कोई भी कला हो, सभी रस से परिपूर्ण हैं तथा कहीं न कहीं एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्ध भी रखती हैं। हर कला अपने आप में एक स्वतंत्र कला है परंतु जब वह अन्य कलाओं के साथ मिलती हैं तो उसके सौंदर्य तथा रसानुभूति कराने की क्षमता में अत्यधिक वृद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार किसी मूर्ति को अनुकूल आभूषणों से सजाने पर वह चित्त को अत्यधिक आकर्षक लगती है।

मुख्य शब्द : *सौंदर्य, निष्पत्ति विच्छिन्न, परिमार्जित, अनुभूति।*

''साहित्य मानव की श्रेष्ठ अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है तो संगीत इन अनुभूतियों का स्वर ताल युक्त ऐसा गायन है जिसमें भाव अर्थ तरंगित होकर साधना की सिद्धावस्था तक पहुँचते हैं। साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नहीं होती। संगीत भी मानव सभ्यता तथा संस्कृति के विकास के साथ आगे बढ़ता है। साहित्य संगीत को भाव देता है, संगीत उसी भाव को सघनता प्रदान करता है।

आचार्य बृहस्पति का कथन है- ''साहित्य की अपनी सत्ता है। गद्य भी श्रेष्ठ साहित्य हो सकता हैं परंतु यदि भावानुकूल छन्द साहित्य में मिल जाए तो उसमें कसाव आ जाता है। इसी प्रकार विभिन्न भाषाओं का अपना कोई विशिष्ट संगीतशास्त्र हो या न हो पर संगीत सभी भाषाओं के साहित्य का अभिन्न अंग रहा है।

वस्तुतः साहित्य एक स्वतंत्र विधा है जिसमें रस की निष्पत्ति उसमें प्रयोग किए जाने वाले काव्य तथा लेख में स्पष्ट होता है। परंतु संगीत में काव्य का रस संगीत के पदों में निहित होता है जो राग, ताल एवं पद के द्वारा तीन रूप में रस का संचालन करता है तथा काव्य के साथ-साथ अपने सांगीतिक गुणों से भी परिलक्षित होता है। इसलिए संगीत का सौंदर्यबोध राग, ताल तथा पद तीनों का समन्वय है। कहने का तात्पर्य है कि काव्य का छन्दात्मक रूप में पाठ अर्थात् सस्वर पाठ तथा पूरे पद को राग, ताल के साथ बाँधकर गायन करने से उसमें सौंदर्य तथा रस समन्वित होता है। अतः मनुष्य की चित्तवृत्ति

* सहायक आचार्य, संगीत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

को कलात्मक तथा परिमार्जित रूप में व्यक्त करने का माध्यम संगीत तथा उसमें निहित साहित्य दोनों है।

यह तो स्पष्ट है कि साहित्य और संगीत का एक अटूट संबंध है। हाँ कठिन शब्दों की योजना साहित्य व संगीत के समन्वय में बाधक बनती है। इसलिए संगीतशास्त्रों में वाग्गेयकारों को साहित्यिक और सांगीतिक होना आवश्यक माना गया है।

संगीत में निहित साहित्यिक शब्दों का प्रयोग प्राचीन काल से ही देखा जा रहा है। 'ध्रुवपद' शब्द जिसका अर्थ है अटल पद, में संस्कृत साहित्य के शब्दों का प्रयोग तथा आलाप में संस्कृत के श्लोकों को गाया जाता था तत्पश्चात् जब ख्याल शैली का आविष्कार हुआ तो संगीतज्ञों के लिए साहित्य के प्रयोग का एक नया रास्ता खुल गया। साहित्य के हर तरह के प्रकृति आदि से संबंधित विषय ख्याल के रूप में गाए जाने लगे।

यह सत्य है कि आधुनिक कविता ने संगीत से पृथक होकर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण किया है। वह राग में बंधकर रची नहीं गई, किन्तु अब भी कविता में उस लय का महत्त्व सुरक्षित है जो संगीत प्रधान तत्व है।

सूर, मीरा, कबीर, तुलसी, रहीम, जयदेव आदि कवियों द्वारा रचित गेय पदों में पूर्ण संगीतात्मकता है और ये आज भी गाए जाते हैं। ठाकुर जयदेव द्वारा रचित ग्रंथ 'गीतगोविन्द' जिनमें उन्होंने अष्टपदियों की रचना की है जो आध्यात्म पर आधारित है में साहित्य और संगीत का सुंदर समन्वय देखने को मिलता है।''

साहित्य और संगीत का एक बहुत ही सुंदर समन्वय 'हसरत अमीर खुसरो' की रचना में मिलता है। अमीर खुसरो की हर रचना अपने धर्मगुरू निजामुद्दीन औलिया को समर्पित होती थी। उनके धर्मगुरू निजामुद्दीन औलिया के निधन हो जाने पर अमीर खुसरो द्वारा अपने गुरू को समर्पित एक रचना जो राग अल्हैया बिलावत राग में हैं-

''गोरी सोवे सेज पर मुख पर डारे केस
चल खुसरो घर आपने अब रैन भई चहु देस''

इस पद में खुसरो ने राग अल्हैया बिलावत में अपने मनोभावों को बहुत ही सुंदर शब्दों में बाँधकर आत्मा और परमात्मा के मिलन की बात कही है।

कवयित्री मीरा के पदों में भी साहित्य और संगीत का सुंदर एवं अनुकूल समन्वय देखने को मिलता है-

''बरसे बदरिया सावन की,
सावन की मनभावन की।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर,
आनंद मंगल गायन की।।''

इस पद में ऋतु का वर्णन है, जिसमें कवयित्री मीरा द्वारा पद के अनुकूल ऋतुराग (मल्हार) का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार कवि सूरदास द्वारा रचित ग्रंथ ''सूरसागर'' साहित्य और संगीत के समन्वय का एक सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिसमें हर पदों को उसके भाव के अनुकूल रागों में निबद्ध किया गया है तथा उन पदों में उच्चकोटि का साहित्य प्रयोग किया गया है। लोक में विख्यात उनका एक बहुत ही सुंदर पद-

''जागो मोहन भोर भयौ।
वदन उधारि स्याम तुम देखौ,
रवि के किरनि प्रकास कयौ।।
संगी सखा ग्वाल सब ठाढ़े,
खेलत हैं कछु खेल नयौ।
आँगन ठाढ़ी कुँवरि राधिका,
उनको कहा दुराह लयौ।।''

इस पद को सूरसागर में राग 'बिलावल' में गाने का निर्देश दिया गया है जो कि पद के अर्थ के बिल्कुल अनुकूल है। यदि इस पद के शब्दों को बदल दिया जाए तो यह बिलावत राग जो कि सुबह का राग है के अनुकूल नहीं रहेगा और यदि इस पद को किसी अन्य समय में गाये जाने वाले राग में गाया जाए तो यह 'पद' के अर्थ के अनुकूल नहीं रहेगा। अतः यहाँ संगीत और साहित्य दोनों ही इस प्रकार समन्वित हैं कि इन्हें अलग करना असंभव है।

इससे यह स्पष्ट है कि साहित्य और संगीत में अटूट संबंध है और एक अच्छा प्रयोक्ता जिसे साहित्य और संगीत दोनों ही पक्षों का ज्ञान हो वह अपने भावों के द्वारा रस का संप्रेषण कर सकता है।

सन्दर्भ सूची

1. पं. लोचन कृत रागतरंगिणी (रागों एवं रसों का आलोचनात्मक अध्ययन), सहाय रीमा, पृ. 01।
2. रस तत्व विमर्श, घोष संगीता, पृ. 4।
3. भारतीय संगीत : वैज्ञानिक विश्लेषण, शर्मा स्वतंत्र, पृ. 31।
4. Classical, Music & Litcration (expert) - Music Association Daulat Ram College 16-09-2020, www.youtube.com, (Dr. Sarita Pathak Yajurved).
5. सूर, मीरा एवं स्वामी हरिदास की भक्ति साधना में संगीत का योगदान (एक तुलनात्मक अध्ययन), प्रताप रागिनी, पृ. 104।
6. संपूर्ण सूरसागर लोकभारती टीका (पांच खण्डों में), भाग-1, गुप्त किशोरी लाल (सम्पादक एवं टीकाकर), पद संख्या 894/1803, पृ. 485।

पंडित गजानन बुवा जोशी- एक महान वायलिन वादक

श्रीप्रकाश पाण्डेय

विषय-सार

वायलिन वाद्य के विदेशीकरण को पूरी तरह निःशेष करने वाले कलाकारों में सबसे पहला नाम महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध वायलिन वादक पंडित गजानन बुवा जोशी का आता है। भारतीय संगीत के ''मैफ़िल का राजा'' वायलिन को बना देने का सारा श्रेय और योगदान पंडित गजानन बुवा को ही जाना चाहिए। वायलिन की शिक्षा दीक्षा या तालीम देने के लिए उनके पास कोई गुरु नहीं था। वे खुद ही गुरु और खुद ही शागिर्द थे। बिना गुरु के इन्होंने वाद्य को बजाना शुरू किया और वायलिन वाद्य के तंत्र तथा मंत्र को केवल स्वप्रयासों पर और तपश्चर्या और साधना के बल पर विकसित किया। उन्होंने वायलिन की गायिकी शैली को विकसित किया, और इस तरह की शैली में सफलता पाई जिसमें वाद्य बजता ही नहीं गाता भी है। एक श्रेष्ठ कलाकार के साथ बुवा एक श्रेष्ठ गुरु, रचनाकार और वाग्गेयकार भी थे। उन्होंने वायलिन की अनेक गतो का भी निर्माण किया। वो भारत के सबसे महान कलाकारों में से श्रेष्ठतम श्रेणी के कलाकार थे।

वायलिन सटीकता, शक्ति, चपलता और एक प्रकार की रहस्यमय या आध्यात्मिक सुन्दरता को व्यक्त करने में सक्षम वाद्य है। दूसरे शब्दों में वायलिन असाधारण संगीत के लिये सक्षम वाद्ययंत्रों में से एक सर्वश्रेष्ठ वाद्ययंत्र है। वायलिन पाश्चात्य संगीत का प्रमुख वाद्य यंत्र है। भारतीय संगीत में राग आधारित संगीत को संगीत की अभिव्यक्ति का सर्वोच्च रूप माना जाता है। वायलिन जैसे पाश्चात्य वाद्ययंत्र को भारतीय शास्त्रीय संगीत में उचित स्थान दिलाने में पंडित गजानन राव जोशी जैसे कलाकारों की प्रमुख भूमिका रही है। पं॰ गजानन बुवा जोशी का जन्म मुम्बई में 30 जनवरी 1911 को हुआ था इनके पिता श्री अनन्त मनोहर जोशी (अन्तु बुवा) ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध गायक थे और माता एक साधारण गृहणी।

पं॰ गजानन राव जोशी देश के प्रसिद्ध संगीतज्ञ तीन घरानों के गायिकी को आत्मसात करके गाने वाले तथा एक श्रेष्ठ वायलिन वादक हुए। भारतीय संगीत में चुनिन्दा कलाकार ऐसे हुए जिन्होंने शास्त्रीय संगीत की दो विधाओं में खुद को स्थापित किया एवं उसे सर्वोच्च स्तर पर प्रदर्शित किया। गजानन राव जोशी उन श्रेष्ठ कलाकारों में से एक थे। गजानन राव जोशी का नाम वायलिन वादन में गायिकी शैली को विकसित करने में अति महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वायलिन के क्षेत्र में गजानन बुवा का नाम इसलिये अधिक सम्माननीय है क्योंकि उन्होंने बिना किसी गुरू के मार्गदर्शन के या अन्य किसी सहायता के इस विद्या को सम्पूर्ण तंत्र मंत्र शैली के साथ इस तरह से विकसित किया कि वह हमारे संगीत संस्कृति में पूर्ण रूप से घुल मिल गया।

गजानन बुवा के पिता श्री अनन्त मनोहर जोशी (अन्तु बुवा) औंध के दरबार में दरबारी गायक थे। गजानन बुवा के जीवन में वायलिन का प्रवेश एक संयोग ही था परन्तु वह संयोग हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के लिये एक बेहद सुखद संयोग था। औंध (महाराष्ट्र) के राजा सांगीतिक रूप से परिष्कृत व्यक्ति

पीएच.डी. शोधार्थी, संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
Email : shriprakashpandey08@gmail.com, Mob: 8858696391

थे तथा उन्हें संगीत की काफी अच्छी समझ थी एवं वे खुद कीर्तनकार थे। उस समय नाटक और कीर्तन के साथ संगत के लिये वाद्ययंत्र का प्रयोग जरूर होता था। नाटक व कीर्तन आमतौर पर धार्मिक विषयों पर तथा देवताओं की स्तुति पर आधारित होते थे। औंध के राजकुमार ने एक पुराना वायलिन जो उन्होंने अन्तु बुवा को दिया था ताकि युवा गजानन बुवा गायन के साथ संगत कर सके। गजानन बुवा उस समय अपनी युवावस्था के प्रारम्भिक दौर में थे उन्होंने अपने पिता की बात मान के वायलिन वाद्य के साथ गायन की संगत करने लगे और इस तरह एक वायलिन वादक के रूप में अपनी प्रस्तुति शुरू किया। पं॰ गजानन बुवा के पास वायलिन का उपयोग या बजाने की तकनीक में किसी से कोई औपचारिक प्रशिक्षण या मार्गदर्शन नहीं था। वायलिन के आन्तरिक गुणों के बारे में भी उन्हें कोई जानकारी या मार्गदर्शन प्राप्त नही था जिससे वह अपने संगीत निर्माण में ऐसे गुणों का उचित उपयोग कर सके अतः सम्पूर्ण सार यह था कि गजानन बुवा पूरी तरह से स्वप्रशिक्षित वायलिन वादक थे। उन्होंने स्वाभाविक रूप से अपनी तकनीक को उस संगीत के अनुरूप विकसित किया जिसे वह वायलिन पर प्रस्तुत करना चाहते थे। अगर उस तकनीक के बारे में बात की जाये तो यह पता चलता है कि गजानन बुवा द्वारा राग संगीत का समृद्ध प्रदर्शन जिसमें, राग, रचनायें अर्थात् विशिष्ट बंदिशें और ग्वालियर घराने की दमदार गायिकी का समन्वय था जिससे उनकी विशिष्टता परिलक्षित होती है।[1]

परम्परागत रूप से गजानन बुवा ख्याल गायिकी के सिद्धहस्त कलाकार के घर में पैदा हुए परन्तु कुछ हद तक गजानन बुवा की आवाज़ अथवा कंठ नैसर्गिक रूप से उतनी अच्छी नही थी और वह इस बात से वाकिफ़ थे इसलिये उन्होंने गायिकी के साथ-साथ वायलिन में सांगीतिक वाक्यांशों को परिपूर्ण करने में सहायक तत्वों जैसे (खटका, मुर्की) को अत्यधिक खूबसूरत तरीके से वायलिन वादन में शामिल किया तथा उन्होंने राग काफी, खमाज, मांड इत्यादि में मराठी नाट्य संगीत की कई प्रचलित धुनों के लिये भी वायलिन को उपयोग में लाया। वायलिन पर उनके अर्द्ध शास्त्रीय टुकड़ों ने उनके चंचल, संगीतात्मक व कल्पनाशील दिमाग को प्रकट किया। अपनी नैसर्गिक आवाज़ अच्छी ना होने की वजह से वह अपनी किशोरावस्था में जिन चीजों से वंचित रह गये थे वह कम से कम आंशिक रूप से ही सही परन्तु वायलिन की शानदार महारत हासिल करने के बाद उन्हें प्राप्त हुआ था। गजानन बुवा ने वायलिन वादन में अपनी गायिकी अंग अथवा रागदारी की दक्षता का लाभ उठाया। गजानन बुवा लगभग वायलिन के हर संगीत समारोह में श्रोताओं की खुशी के लिये कम से कम एक मराठी नाट्य गीत की भी रचना प्रस्तुत करते थे लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि वह हमेशा से हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत को और समृद्ध कैसे किया जाये इसकी खोज में लगे रहे। वह गुरू शिष्य परम्परा के पक्षधर थे और उन्होंने अपनी वादन शैली को अनेक शिष्यों को सिखाया। गजानन बुवा की संगीत प्रतिभा समग्र रूप से संगीत शैलियों की एक विस्तृत श्रृंखला की उनकी उत्कृष्ट समझ को दर्शाती है। गायिकी में ख्याल अंग के तीन घरानों को आत्मसात करके उनकी विशिष्टताओं को उन्होंने अपनी गायिकी के साथ वायलिन वादन में भी प्रस्तुत किया ये विशेषता कम कलाकारों में परिलक्षित होती है।[2]

पं॰ गजानन बुवा की सबसे बड़ी उपलब्धि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की दुनिया में वायलिन का परिचय देना था। हालांकि ध्यान देने योग्य तथ्य ये भी है कि गजानन बुवा के हिन्दुस्तानी संगीत में वायलिन को प्रस्तुत करने का एक अलग तरीका उन्हें अन्य कलाकारों से एक अलग श्रेणी में रखता है। अपने वायलिन वादन के लिये उन्होंने रचनायें (गतों) का निर्माण खुद किया व उसे गायिकी अंग के द्वारा प्रस्तुत भी किया और उन्होंने अपनी रचनात्मकता को अर्ध-शास्त्रीय शैलियों में भी प्रदर्शित किया जिससे उन्हें अपनी कल्पना को एक स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत करने की अनुमति मिली। अपने वायलिन में उन्होंने अपने प्यार रूपी ताल अर्थात् लय में महारत हासिल की तथा ताल ने उन्हें अपने जोरदार और आक्रामक लयबद्ध काम को वायलिन वादन में प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त गुंजाइश भी प्रदान की। गजानन बुवा के संगीत समारोहों में प्रस्तुति और अधिक आनन्दमय हो जाती थी जब अहमद जान थिरकवा साहब बुवा के साथ

संगति करते थे। गजानन बुवा का लय और ताल पर पकड़ उनकी सांगीतिक रचनाओं और वायलिन की गतों में परिलक्षित होती है। एक वायलिन वादक के रूप में गजानन बुवा की लोकप्रियता पूरे भारतवर्ष में थी तथा भारत के लगभग सभी प्रतिष्ठित संगीत सम्मेलनों में उन्होंने वायलिन वादन की प्रस्तुति की। इसके साथ यह भी सत्य है कि वायलिन में इतनी लोकप्रियता के बाद भी गजानन बुवा का अत्यधिक झुकाव या अधिक प्यार मुख्य रूप से उनकी गायकी में था जो कि स्वाभाविक रूप से सही भी था क्योंकि वह एक महान गायक और ग्वालियर घराने के स्तम्भ पं॰ अन्तु बुवा के पुत्र थे और उनकी महत्वाकांक्षा अपने आपमें समान रूप से एक महान गायन बनने और अनन्त मनोहर जोशी जी की गायिकी की परम्परा को जारी रखने की थी और निश्चित रूप वे वह अपनी महत्वकांक्षा को पूर्ण करने में सफल भी हुये।[3]

इस संबंध में समीक्षक श्री मोहन नाडकर्णी लिखते है-

'Self-taught Violinist" – Pt. Gajananrao Joshi : "Although, the Violin had made its entry into Indian music, in the South, it had not found exponents in this part of the country. Young Gajanan himself was a total stanger to this western instrument, nor could he find any one to guide him in the technique of playing it. But in the face of princely command, he had, no alternative, but to accept the instrument without any guidance and spend hours in experimenting it, tyring and practicing to play it Hard-Hard-Hard! What came to help him, was only his taleem in Gwalior gharana, from his capable father, a welknown gayak, Pt. Antubuwa. In time to come, the selftaught teenager, Gajananrao, matured into an artiste, capable of providing perfect support of the kirtan – performance of his hard to please patron. And stange but true Gajananrao Joshi made his mark in Hindustani music first as a Violinist and then as Vocalist of three gharanas (Gwalior, Jaipur and Agra).'

गजानन बुवा के प्रस्तुतीकरण को ध्यान से देखने पर यह प्रतीत होता है कि उनके वायलिन वादन में ग्वालियर की गायिकी सीधे तौर पर दिखाई देती है क्योंकि गजानन बुवा गायन और वादन को अलग-अलग दृष्टि से नहीं देखते या समझते थे और इसीलिये अपने गायन की तरह उन्होंने वायलिन वादन में भी विलम्बित झूमरा (14 मात्रा), विलम्बित तिलवाड़ा (16 मात्रा) जैसे तालों का अधिक प्रयोग करते थे क्योंकि ये सभी विशेषतायें ग्वालियर घराने की गायिकी में समाहित थी। वादन में अधिकांशतः यह देखा जाता है कि सीधे तौर पर बंदिश का उठाव होता है परन्तु गजानन बुवा के वादन में वह बंदिशों के मुखड़े को स्थापित करते थे जैसे गायिकी में बोल बनाव के माध्यम से बंदिश के मुखड़े को अधिक प्रदर्शित किया जाता है उसी प्रकार गजानन बुवा अपने वादन में भी रागों के स्वरों का ठहराव तथा उनके चलन का बंदिश के मुखड़े के साथ ऐसा सुन्दर मिश्रण करते थे कि श्रोताओं को कभी-कभी सम्पूर्ण रचना की कमी ही नही लगती थी। कभी-कभी यह निश्चित रूप से आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि इतने महान गायक और रचनाकार होने के बाद भी गजानन बुवा ने अपनी ख्याल अंग की रचनाओं की प्रस्तुति नही की बल्कि स्वयं द्वारा बनायी गयी तंत्रकारी अंग की गतों का ही प्रयोग अपने वायलिन वादन में किया यह उनके संगीत के प्रति समर्पण को प्रदर्शित करता है। बुवा के वादन में प्रमुख रूप से अगर ग्वालियर घराने की झलक मिलती है तो कुछ रागों में जयपुर-अतरौली घराने के तानों की विशिष्टता भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है और यही मिश्रण चमत्कारिक रूप से गजानन बुवा की विशेषता को प्रदर्शित करती है।[4]

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत को गजानन बुवा के वायलिन के रूप में एक अनमोल उपहार मिला है। गजानन बुवा के वायलिन के लिये एक सटीक नाम 'गायन वायलिन' सही मायने में और उचित रूप से लागू की जा सकती है। गजानन बुवा के संगीत की एक विशिष्ट विशेषता किसी राग की आंतरिक आत्मा को प्रकट करने की उनकी अदम्य क्षमता है। यह ऐसी ही है जैसे वह वायलिन वादन नहीं किसी दिये गये राग के बारे में भावपूर्ण व्याख्या या सिखा रहे हो, इन्हीं अनेक विशिष्टताओं से युक्त

गजानन बुवा को संगीतकारों का संगीतकार कहा गया है। वह हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में सबसे महान वायलिन वादकों में से एक थे और हमेशा रहेंगें।

रचनाकार - पं॰ गजानन बुवा जोशी[5]
(गत) राग - भटियार, ताल-तीनताल

आरोह - सा म प ध प म ऽ ग ऽ म ध सां
अवरोह - रें नि ध प म ऽ प ग रे सा ऽ

स्थाई

			सा ध प ध नि
नि ध प ध	प म प ग	रे सा ऽ ग	रे सा म ऽ
म प ध नि	ध प म प	ग रे सा ऽ	ग ऽ म ध
सां ऽ सां ऽ	नि रें सां ऽ	रें नि ध प	ऽ प ध नि
रें निध प	ऽ ध निध	प ऽ ध प	ऽ म ऽ म
नि ऽ ध प	म प ग प	ग रे सा	
×	2	0	3

अंतरा

		ग ऽ म ध	सां ऽ सां ऽ
नि रें गं रे	गं रें सां ऽ	पं गं ऽ रें	सां ऽ नि रें
गं रें सां ऽ	रें निध प	ऽ प ध नि	रें नि ध प
ऽ ध निध	प ऽ म प	ग रे सा	
×	**2**	**0**	**3**

रचनाकार - पं॰ गजानन बुवा जोशी[1]
(गत) राग - जीवनपुरी, ताल - तीनताल

स्थाई

			रे म प सां
नि	म		
ध ऽ प ऽ	म प ग ऽ	रेसा रे सा ऽ	नि़सा रे म
	नि		मं
प निध प	ऽ म प ध	ऽ सां नि रें	सांऽ गं ऽ
रें सांऽ रें	नि सां रें नि	ऽ ध ऽ प	म ऽ प सां
×	2	0	3

अंतरा

			नि
		म म प ध	ऽ ध सां ऽ
		मं	
सां ऽ नि रें	सां रें नि सां	सारिं गं रें सां	ऽ रें नि सां
		नि	म
रें नि ध प	ऽ म प सां	ध ऽ प ऽ	म प ग ऽ
रेसा रे सा ऽ	नि़ सा रे म	प निध प	ऽ ध म प
नि			
ध ऽ सां ऽ	नि रें सां ऽ	सारिं गं रें सां	ऽ रें नि सां
		म	
रें नि ध प	ऽ ध म प	ग ऽ रे सा	
×	**2**	**0**	**3**

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. पं॰ गजाननराव जोशी-आत्मचरित्र व व्हायोलिनच्या गति, सम्पादक-वा.वि. केतकर, मुद्रक-मौज प्रिंटिंग ब्यूरो खटाववाड़ी, मुम्बई
2. मालनिया गूँद लावो री, सम्पादक-डॉ॰ विकास कशालकर, संस्कार प्रकाशन, मुम्वई
3. The Last World of Hindustani Music, Kumar Prasad Mukherji, Penguin India, 2006
4. Putra Whava Aisa (Biography of Pt. Gajananrao Joshi) by Dr. Sucheta Bidkar (Daughter)
5. Violin : Tantra aur Mantra (Violin Technique & Style) by Dr. Sucheta Bidkar
6. "Bowing the Vocal Chords" by Manari Joshi Singh
7. www.gajananbuwajoshi.com

संदर्भ

1. Pandit Gajanan Bua Joshi.com
2. Bowing The Vocal Chords, Manasi Singh Joshi, page-23
3. पं॰ गजानन राव जोशी-आत्मचरित्र व व्हायोलिनाच्या गति, पृ.सं.-25-26
4. Bowing The Vocal Chords, Manasi Singh Joshi, page-22-23
5. पं॰ गजानन राव जोशी-आत्मचरित्र व व्हायोलिनाच्या गति, पृ.सं.-34
6. पं॰ गजानन राव जोशी-आत्मचरित्र व व्हायोलिनाच्या गति, पृ.सं.-84

श्रीकृष्ण जन्मोत्सव काव्य में वर्णित 'पंचशब्द' का सांगीतिक स्वरूप

डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

सार-संक्षेप

ब्रज प्रदेश की सम्पूर्ण पवित्र भूमि ललित बिहारी श्रीकृष्ण की क्रीड़ा स्थली तथा आनन्दमयी लीलास्थली है। श्रीकृष्ण ब्रजभूमि के अणु में व्याप्त है, जैसे दुग्ध में घृत। इस प्रकार ब्रज वसुन्धरा वृन्दावन बिहारी की जन्मभूमि, लीलाभूमि एवं बिहारभूमि है। ब्रज का लोकसाहित्य और लोकसंगीत यथार्थ भावनाओं का चित्रण करता हैं। लोकसंगीत का जन्म व्यक्ति के नैतिक मूल्यों, सामाजिक उत्सवों, त्यौहारों, रीति-रिवाजों एवं सामूहिक कार्यों द्वारा हुआ है। सामान्यतः लोक-जीवन में उत्सवों व मांगलिक कार्यों पर गीत-नृत्य के साथ वाद्य वादन का व्यापक प्रचलन है। कुछ वाद्य तो होली, जन्मोत्सव आदि के प्रतीक बन गये हैं इनमें डफ, मंदिलरा, पंचशब्द आदि प्रमुख हैं। ब्रज के भक्त कवियों ने इन मंगलसूचक वाद्यों का उल्लेख उसके महत्व और लोकप्रियता के ही अनुपात में पूरी रंजकता के साथ किया है। ब्रज के भक्त कवियों की एक विशेषता यह भी है कि वाद्यों की प्रकृति और अवसर की प्रासंगिकता के साथ-साथ वाद्यों की रस-निष्पत्ति का भी समुचित ध्यान रखा है। इसी प्रकार पंचशब्द जैसे विशिष्ट वाद्य का जन्मोत्सव के अतिरिक्त कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। जन्मोत्सव पर भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप का तिलक करते समय 'पंचशब्द' का वादन ब्रज व वैष्णव देवालयों में दृष्टिगोचर होता है।

उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र में अष्टछाप आदि भक्त कवियों द्वारा रचित पदों में, श्रीकृष्ण जन्मोसत्व काव्य में वर्णित वाद्यों के उल्लेख व प्रासंगिकता के साथ-साथ उसके अवसरानुकूल प्रयोग पर प्रकाश डालना ही शोध पत्र का मूल उद्देश्य है।

मुख्य शब्द *- ब्रज, श्रीकृष्ण, लोक काव्य, लोक संगीत, जन्मोत्सव, वाद्य, मंदिलरा, पंचशब्द।*

भारतीय लोकजीवन में श्रीकृष्ण सर्वाधिक जीवंत हैं। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व लोकमानस में आकर्षण का विषय रहा है। अति प्राचीनकाल से श्रीकृष्ण की कथा इस लोक में प्रचलित रही है। समस्त भारतीय लोकजीवन श्रीकृष्ण की संचेतना से ओत-प्रोत है।

कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति 'कृष' धातु के साथ नक् प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका अर्थ है, ''कर्षति सर्वान् स्वकुक्षौ प्रलय काले इतिकृष्णः।'' अर्थात् प्रलय काल में सब जीवों को अपने में लीन करे, उसका नाम कृष्ण है।

भाद्रपद कृष्ण पक्ष अष्टमी तिथि को भगवान श्रीकृष्ण का जन्म उत्सव मनाया जाता है। वैसे तो ब्रज के अलावा भी सम्पूर्ण भारतवर्ष में इस त्यौहार का आयोजन किया जाता है। किन्तु ब्रज क्षेत्र में इस उत्सव का आयोजन अत्यधिक उत्साह के साथ किया जाता है। जिस समय सिंह राशि पर सूर्य आते हैं और आकाश में मेघों का बरसना शुरू हो जाता है तब भाद्रपद मास में कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि में अर्धरात्रि के समय वृष राशि में चन्द्रमा के उदय होने पर रोहिणी नक्षत्र के योग में योगीराज श्रीकृष्ण का

असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जन्म मथुरा के कारागार में माता देवकी के गर्भ से हुआ था। लेकिन कंस के डर से पिता वासुदेव अपने पुत्र श्रीकृष्ण को अर्धरात्रि में नन्द के घर छोड़कर वहाँ से योगमाया जी को लेकर आ गये थे। इसीलिये जन्माष्टमी के दिन योगमाया जी का जन्मदिवस भी मनाया जाता है।

श्रीकृष्ण के जन्म पर चारों ओर हर्ष और आनन्द का समुद्र लहराने लगता है। सभी ब्रजवासी मुदित, प्रमुदित और प्रफुल्लित हो जाते हैं। कृष्ण जन्म की सूचना सम्पूर्ण ब्रज में सुगन्ध की भाँति फैल जाती है। हर्षोल्लास एवं परमोत्साह से अभिभूत ब्रजवासी एक साथ उमड़कर नन्दजू की पौरी पर एकत्र हो जाते हैं और नाचते-गाते हुए बधाई लेकर सामूहिक रूप से आते हैं-

''जसोदा जायो ललना मैं वेदन में सुनि आई।
मथुरा में याने जनम लियो है गोकुल में झूलै पलना।
नन्द झुलावै जसोद झुलावै सखियाँ झुलावै पलना।''[1]

ब्रज नारियाँ श्रीकृष्ण के दर्शन करके आती है तो परस्पर वार्तालाप करती है कि बालक कृष्ण मनोहारी, भोले और अनुपम है, किन्तु कुछ अधिक श्याम रंग के हैं जबकि नन्द गोरे, यशोदा गोरी, बलदाऊ भी गौर वर्ण के हैं फिर कृष्ण का रंग श्याम वर्ण का क्यों हो गया? सरल और सहज प्रवृत्ति की ब्रज नारियाँ कारण ढूँढकर गाती हैं-

''जसोदा ने कारी अंधेरी में जायो।
जासे हरि नै कारो ही रंग पायौ।''[2]

भारतवर्ष में संगीत जीवन से जुड़ा रहा है। इसका प्रयोग प्रसंगानुकूल आवश्यकता के अनुसार होता रहा है। यही कारण है कि विविध प्रसंगों के लिए भिन्न गायन-वादन की व्यवस्था रूढ़ हो गई है। अष्टछाप काव्य में भी राग-निबद्ध गायन, ऋतु-चक्र और समय-चक्र के अनुशासन का पालन किया गया है। चूँकि काव्य और संगीत दोनों भागवत अनुभूतियों को विस्तार देते हैं। इसलिए अष्टछाप काव्य में वाद्यों का अवसरानुकूल प्रयोग उचित ढंग से हुआ है। अष्टछाप भक्त कवियों ने जीवन के सभी मांगलिक अवसरों को अपने काव्य में स्थान दिया है, लेकिन वाद्य-यंत्रों का अधिकतम उल्लेख जन्मोत्सव, रास और होली प्रसंगों में ही किया है।

जन्मोत्सव के समय वर्णित वाद्यों में अष्टछाप कवियों ने सर्वाधिक महत्व वितत् (अवनद्ध) और सुषिर वर्ग के वाद्यों को ही दिया है। तत् तथा घन वाद्यों का उल्लेख यत्र-तत्र ही किया है। जन्मोत्सव के संदर्भ में अष्टछाप-काव्य में मंगल सूचक वाद्य-वृन्द के रूप में इन शब्दों का प्रासंगिक प्रयोग हुआ है, बधाई पंचशब्द और नौबत। ब्रज का लोक प्रचलित वाद्य मंदिलरा का भी प्रयोग अष्टछाप ने किया है। यह वाद्य ब्रज में केवल जन्म व फाग के समय पर ही पारम्परिक ढंग से बजाया जाता है। मंदिलरा शब्द का उल्लेख भारतीय शास्त्रीय संगीत की रचनाओं में अनेक स्थानों पर मिलता है। जैसे-राग शुद्ध कल्याण का ख्याल 'बाजो रे बाजो मंदिलरा' तथा 'दरबारी कान्हड़ा की धमार 'मदिल ढ़फ बाजन लागे री आयो फागुन मास' आदि।

पुष्टिमार्गीय कीर्तनों में भी इसका उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है यथा कृष्णदास का पद 'गिड़गिड़ तां धि तां मदिलरा बाजै' आदि-आदि। अष्टछाप काव्य में जन्मोत्सव व मांगलिक प्रसंगों पर 'पंचशब्द' का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि 'पंच शब्द' पाँच वृन्दों या वाद्यों की परम्परा है। पहली बार महावंश की वसंत्यपासनी टीका में भी पंचागिक तूर्य के निर्घोष शब्द का उल्लेख है।

''पंचागिक तुरीय निग्घोस सद्द।''[3]

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल के संदर्भ से वाण के द्वारा भी हर्ष सेना प्रयाण के समय 'पाँच वाद्यों' पटह, नान्दीक, गुंजा, काहल तथा शंख का उल्लेख है। इनमें गुंजा हाथ से बजाये जाने वाला तथा काहल फूंककर बजाये जाने वाला वाद्य है।

डॉ. निर्मला सक्सेना ने 'आईने अकबरी' में वर्णित नक्कारखाने के दमामा नगाड़ा दुहुल करना, नफीर, सींग तथा मँजीरे नामक बाजों में मध्यकालीन 'पंचशब्द' की कल्पना की है। सूरदास के एक पद में पाँच वाद्यों के नामों से स्पष्ट संकेत है-

''हौं सखि नई चाह इक पाई।
ऐसे दिननि नंद कै सुनियत उपज्यौ पूत कन्हाई।
बजत पनव निसान पंचबिध रूंज मुरज सहनाई।''[4]

इस पद में अन्यत्र कहीं भी अन्य किसी वाद्य का उल्लेख नहीं है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा

सकता है कि जन्मादि प्रसंगों पर उल्लिखित 'पंचशब्द' से इन्हीं वाद्यों का आशय है। साथ ही ये वाद्य वाण की उक्ति का भी अंशतः अनुमोदन करते हैं। अन्तर केवल वाद्यों का है, न कि वितत् (अवनद्ध) और सुषिर वाद्यों के अनुपात क्रम का। अष्टछाप ने अपने काव्य में अन्यत्र भी 'पंच शब्द' का उल्लेख किया है-

''पंच शब्द धुनि बाजत, नाचत,
गावत मंगलचार चहर के
पंच शब्द बाजे बाजत है,
गावत गीत सुहाये।
पंच शब्द बाजत है आंगन।
विप्र आदि आए सब आँगन।''[5]

यहाँ स्पष्ट है कि 'पंचशब्द' वाद्यों का सूचक है। परमानन्ददास ने भी 'पंचशब्द' का उल्लेख किया है—

''पंच सबद बाजत है घर घर तें आयो टीको।
पंच सबद सुनि बजत बधाई घर घर भेरि बखाने।''[6]

पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के मन्दिरों में जन्मोत्सव पर भगवान के स्वरूप का तिलक करते समय 'पंच शब्द बाजे' बजते हैं तथा कीर्तन में 'आज बधाई को दिन नीको, पद की 'पंचशब्द बाजे बाजत है घर-घर ते आयौ टीकौ' पंक्ति विशेष रूप से बार-बार दुहराई जाती है। 'पंचशब्द का प्राचीन स्वरूप क्या था यह ज्ञात नहीं है। आजकल इनमें शंख, झाँझ, पखावज, नगाड़ा आदि वाद्यों को बजाया जाता है।

निष्कर्ष

ब्रज के भक्त कवियों ने अपने काव्य में लौकिक परम्पराओं एवं उत्सवों के संदर्भ में व्यवहृत वाद्यों का उल्लेख किया है। अष्टछाप काव्य की एक महती विशेषता यह भी है कि अष्टछाप कवियों ने वाद्यों की प्रकृति और अवसर की प्रासंगिकता के साथ-साथ वाद्यों की रस-निष्पत्ति का भी समुचित ध्यान रखा है। अतः वाद्यों का प्रयोग कहीं भी असंगत नही लगता। इसी प्रकार मंदिलरा, पंचशब्द जैसे विशिष्ट वाद्य का क्रमशः फागोत्सव, जन्मोत्सव के अतिरिक्त कहीं उल्लेख नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य मांगलिक प्रसंगों, वेणुगान, मंगला आरती आदि दैनिक प्रसंगों तथा मथुरा गमन, गोपी-विरह कंसवध जैसे विशिष्ट अवसरों पर भी वाद्यों का यथावश्यक उल्लेख हुआ है। मुरली, शहनाई और नौबत आदि का प्रयोग प्रणय के मधुर प्रसंगों अथवा मांगलिक मधुर अवसरों पर ही अधिकांशतः हुआ है। ये वाद्य शृंगार रस के परिपाक में सहायक है। जहाँ वाद्यों की नाममाला के ही दर्शन होते है, वहाँ छन्द, काव्य, और संगीत में कहीं भी व्यवधान नहीं आता बल्कि उल्टे उसके सौन्दर्य वृद्धि में सहायक ही होते है। काव्य, राग, और रस के साथ-साथ वाद्यों का ऐसा सुन्दर समन्वय अष्टछाप के शीर्षस्थ भक्त कवियों द्वारा ही संभव था।

पाद टिप्पणियाँ

1. ब्रज सलिला वर्ष-8 अंक 1,2, मालवीय हरिमोहन पृ. 70
2. वहीं पृ.
3. अष्टछाप संगीत-एक विश्लेषण, शर्मा डॉ. नीरा पृ. 243
4. वही पृ. 244
5. वही
6. वही

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, सत्यभान, पुष्टिमार्गीय मन्दिरों की संगीत-परम्परा, प्रकाशक-राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999
2. शर्मा, डॉ. नीरा, अष्टछाप संगीत एक विश्लेषण, प्रकाशक-नवजीवन पब्लिकेशन निवाई, राजस्थान, प्रथम संस्करण 2004
3. मालवीय, हरिमोहन, ब्रज सलिला, वर्ष-8, प्रकाशन वृन्दावन शोध संस्थान, रमणरेती वृन्दावन अंक-1-2, मार्च 2011
4. अग्रवाल, डॉ. राजेन्द्र कृष्ण, ब्रज के पर्वोत्सव (एक सर्वेक्षण), प्रकाशन-वृन्दावन शोध संस्थान, रमणरेती वृन्दावन, प्रथम-संस्करण 2016-17

उत्तर भारतीय संगीत में रागों के ध्यान की परिकल्पना

डॉ. मधुमिता भटटाचार्य

संगीत की साधना नादोपासना है। नाद में मन एकाग्र रहे यही उसका लक्ष्य होता है। मन की एकाग्र वृत्ति को ही ध्यान कहते हैं। जिस भाव में पूजा व ध्यान मिले हों वह उपासना है। ध्यान उपासना का ही एक अंग है। उपासना मन से सम्बद्ध है। इसके चार अंग हैं - अर्चना, स्तुति, जप तथा ध्यान। उपासना का प्रमुख अंग ध्यान है। ध्यान का तात्पर्य है अपने मन अथवा चित्त को अपने इष्ट से तदाकार करना। अतः ध्यान को दो अर्थों में देखा जा सकता है प्रथम चित्त को समहित करने की प्रक्रिया तथा दूसरा वह साधन जिसके द्वारा ध्यान को दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। राग की मूल प्रवृत्ति के अनुसार उसकी आकृति के मानसिक विग्रह को साथ कर तादात्मय स्थापित करना ही राग ध्यान कहलाता है।

संगीत कला के विकास का मूल कारण उसके मनोवेगों की अभिव्यक्ति करना है। ''संगीत में राग भी ब्रह्म की भांति अमूर्त, अदृय तत्व है उस पर ध्यान कैसे एकाग्र करें इसी कारण रागों के ध्यान बनाये गये हैं जिनमें रागों की कल्पना देवी देवताओं के रूप में करके वही लक्षण दिये हैं जो योगशास्त्र के ग्रंथों में थे।[1]

राग स्वरों का वह समूह है जो निराकार भी है और साकार भी है। स्थूल स्वर समूह से साधना के पश्चात् जिस सरसता का बोध होता है उस राग के मूर्त रूप का आधार है।[2]

रागों में देवत्व की भावना केवल आगम-पुराण से संबंधित नहीं है वरन् भरत परम्परा से भी इसके बीज दिखाई देते हैं। रसों का देवताओं से संबंध नाट्यशास्त्र अध्याय-6 श्लोक 45-46 में उपलब्ध है जिसके अनुसार श्रृंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रथम गण, रौद्र के रूद्र, करूण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के कालवीर के महेन्द्र तथा अद्भुत के देवता ब्रह्मा बताये गये हैं। भरतभाष्य में जिन रागों के नाम उनके देवताओं सहित वर्णित है, वे सभी पुल्लिंग हैं और उनके देवता भी पुरूष हैं। एक ओर पौरूषता, गांभीर्य, प्रौढ़ता तथा दूसरी ओर कोमलता, तरलता एवं स्निग्धता आदि की अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये सूक्ष्म को स्थूल तथा अग्राह्य को ग्राह्य बनाने के लिये पुरूषत्व एवं स्त्रीत्व के सर्वग्राह्य चिरन्तन प्रतीकों का ग्रहण भारतीय संगीत परम्परा का एक विशिष्ट अंग बन गया। राग रागिनी में भी इसी परम्परा का पालन किया गया है। सुधा कलश के संगीतोपनिषद्सारोद्धार में सबसे ध्यान देने योग्य बात यह है कि रागिनी संज्ञा के स्थान पर भाषा संज्ञा का प्रयोग किया गया है ठीक उसी प्रकार चित्र परम्परा में भी सबसे पहले स्त्री राग के लिये भाषा संज्ञा का प्रयोग मिलता है।

राग के देवता से तात्पर्य है कि प्रत्येक राग एक विशेष मनोभाव का व्यंजक होता है। यही मनोभाव उस राग की प्रवृत्ति है। राग के देवी देवता इसी मनोभाव के अर्थ हैं। अतः किसी भी राग को देवता स्वरूप में ध्यान करने से राग में शक्ति आ जाती है और वह राग सजीव हो उठता है। राग ध्यान की विशेष प्रक्रिया है। सर्वप्रथम गायक या वादक को राग के रस, रूप, देवता पर शांत चित्त से ध्यान करना चाहिये तत्पश्चात् धीरे-धीरे उस राग के स्वरों में उस देवता का आवाहन करना चाहिये। भारतीय संगीत विशेष रूप से आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में पला। कहा जाता है कि मतंग के समय से तांत्रिक भाषा

*असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, का0हि0वि0वि0 वाराणसी, 221005, मो0 9335766163

की लहर उठी। इसी तांत्रिकता के प्रभाव के कारण मतंग मुनि ने तांत्रिक राग ध्यान लिखे। मतंग वृहदेशी - खंडित रूप में प्राप्त होता है। महाराणा कुंभा ने अपने ग्रंथ संगीत राज में मतंग के तांत्रिक राग ध्यानों की चर्चा की है। ''राग ध्यानों का चित्रण देव स्वरूपों में ढूंढे गये तथा ऋतु एवं दिवस के प्रहरों से इसका संबंध जोड़ा गया। राग ध्यानों के प्रमुख देव शिव, विष्णु, दुर्गा तथा काली आदि रहे हैं।[3]

राग-रागिनियों के ध्यान मूर्तियों के निरुपण करने वाले संस्कृत तथा हिंदी के कतिपय महत्वपूर्ण ग्रंथ प्राप्त होते हैं। सर्वप्रथम बृहद्देषी, संगीतरत्नाकर, संगीतमकरंद, संगीतोपनिशद्सारोद्धार, रागमाला संस्कृत के ग्रंथ हैं तथा हिंदी के राग विवेकाध्याय, राग माला, संगीत विशारद, नगमाते आसफ़ी एवं गीत गोविंद, संगीतसार महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं।

इन देवी देवताओं में उद्धत एवं सुकुमार भाव ही प्रमुख रूप से दिखायी दिये। इन दो मूल मनोवृत्तियों की प्रधानता के कारण श्रृंगार एवं वीर रस की अभिव्यक्ति की गयी। भयानक, वीभत्स एवं रौद्र रसों का प्रवेश आंशिक रूप में था क्योंकि ये रस बिना परिस्थिति विशेष के अभिव्यक्त ही नहीं किये जा सकते हैं। शिव तथा विष्णु इन दो देव स्वरूपों से राग ध्यानों में थी शैव एवं वैष्णव दो सम्प्रदायों का अविर्भाव हुआ और इसी कारण राग ध्यानों में दो सम्प्रदाय हुये और एक ही राग के दो-दो ध्यान भी कल्पित हुये।

राग-रागिनियों का संबंध देवी-देवताओ से जोड़ा गया है और प्रत्येक का काव्यमय भाषा में ध्यान और भावात्मक चित्र चित्रित किया गया है। देवत्व ध्यान, छंद ध्यान, ताल ध्यान आदि के साथ-साथ राग ध्यान की परम्परा चल पड़ी। शिव और शक्ति का संबंध विशेषतया तंत्र परम्परा से रहा है। इसी तंत्र के प्रभाव के कारण ग्रंथकारों ने राग ध्यान लिखे। भरत जातियों से निकले ग्राम रागों के निश्चित रस निर्दिष्ट किये। ध्रुवा में इन ग्राम रागों का प्रयोग होता था, ग्राम रागों से ही जिन रागों का विकास हुआ वे देशी राग कहलाये और इन देशी रागों का वर्णन नाट्य के संदर्भ में न होकर केवल संगीत के संदर्भ में हुआ और एक नयी पद्धति राग ध्यान बनी जिसे रागों का देवमय स्वरूप कहा गया। रागों के स्वर चलन वर्ज्यानुर्वज जाति आदि राग के नाद स्वरूप की सृष्टि करते हैं। जब कि शास्त्र में वर्णित रागों के भावनात्मक स्वरूप भावमय या देवतामय स्वरूप की सृष्टि करते हैं।इसके अनुसार प्रत्येक राग के पृथक-पृथक देवी-देवता हैं। वे अलौकिक जगत् में निवास करते हैं और उनका शुद्ध ध्यान करने से अवतरित होते हैं और उनकी सिद्धि होती है। ध्यान उपासना में मंत्र द्वारा देवता के आवहन के लिये ध्यान करते हैं और उस देवता का बीज मंत्र भी होता है।

शास्त्रकारों ने राग ध्यानों के शैव व वैष्णव दो सम्प्रदायों के कारण इनके दो स्वरूप भी बतायें हैं - 1. नादमयी 2. भावमयी। नादमयी स्वरूप का शरीर है तो भावमयी रूप उस शरीर में रहने वाली आत्मा या उसका देवता है। ''सोमनाथ के ग्रंथ 'राग विबोध' के पंचम विवेक में राग के नादमयी एवं देवमयी दो स्वरूप स्वीकार किये गये है।[4]

सुस्वरवर्ण विशेष रूपं रागस्यबोधकं द्विधा।
नादात्मकं च देवमयं तत्क्रमतोऽनेकेमकं तु।[5]

रागों के नादमय रूप के साथ सोमनाथ ने रागों के देवमय स्वरूपों का भी वर्णन किया है।

उक्तं रूपमंनेकं तत्तदागस्य नादमयमेवम्
अथ देवतामयमिह क्रमतः कथयेतदैकैकम्
रागविबोधः।।[6]

अतः राग ध्यान के सहारे राग के देवतामय रूपों को एक निश्चित रूप दिया गया। पं भातखंडे जी ने संगीत पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन में राग के देवात्मक स्वरूप का ध्यान करने के महत्व पर लिखा है -

''ध्यानं बिना रागसमूहमेत
गायंति रागे निपुवो जना ये।
संगीतशास्त्रोक्त फलानि रागाः
तेभ्यः प्रयच्छन्ति कदापि नैवः।[7]

अर्थात् जो लोग राग में निपुण होते हैं, ध्यान के बिना राग समूह को गाते हैं उस राग का फल कभी प्राप्त नहीं होता है। रागों के ध्यान की एक प्रक्रिया है जिस प्रकार जप के तीन रूप हैं - अजपा, उपांशु और वाचिक उसी प्रकार राग ध्यान के तीन रूप है - मानसिक, उपांशु और नादात्मक। मानसिक ध्यान में वह भीतर ही भीतर गुनगुना कर देवता का

आवाहन करता है और नादात्मक ध्यान में गायक खुले स्वरों में गा कर उस राग का स्वरूप स्पष्ट करता है।

पं. दामोदार ने अपने ग्रंथ संगीत दर्पण में राग ध्यान को अलौकिक राग ध्यान कह कर स्पष्ट किया है। राग मालव कौशिक ध्यान निम्न प्रकार किया है—

आरक्तवर्णो धृत रक्तयष्टिः।
वीरः सुवीरेषु कृतप्रवीच्यः।।
वीरेर्धृतो वैरिकपालमाला।
मालीमतो मालवकौशिकोऽयम्।।[8]

अर्थात् जिसका वर्ण लाल है, जिसने लाल छड़ी ली हुई है जिस वीर ने महान वीरों को अपने शौर्य का प्रभाव दिखलाया है और जिसे सभी वीर ध्यान देते हैं जिसने अपने शत्रुओं के मस्तक की माला धारण की हुई है इस तरह से वह राग मालव कौशिक माना जाता है।

उक्त ध्यान में लाल वर्ण लाल छड़ी एवं राग के वीर स्वरूप तथा राग के वीर रस को मूर्तिमान करता है और इन्हीं रूपों के द्वारा उस राग के ध्यान में थी सहायक होता है।

''अतः जिस प्रकार देवताओं के ध्यान निश्चित किये गये हैं ठीक उसी प्रकार से रागों के ध्यान के समय को किसी रस विशेष में उत्पन्न करने के लिये एक विशेष प्रकार के वातावरण को कल्पना की गई। जैसे वीर, करूण, श्रृंगार इत्यादि सब प्रकार के रसों के लिये अनेक रागों के रूप है उदाहरण के लिये वसन्त राग को प्रकृति के वसंतोल्लास के वातावरण में दिखाया गया है। मेघ को वर्षा के साथ रखा गया है। पूर्वी दिन की समाप्ति के दुःखमय भाव को प्रदर्शित करती है तो ललित रात्रि के उपरान्त प्रातःकाल के विछोह के दुख की ओर संकेत करती है, तोड़ी हिरन इत्यादि को वशीभूत कर लेने की ओर इंगित करती है तो मालकौंस विजयोल्लास का द्योतक है। भैरवी प्रेम के भाव को व्यक्त करती है तो मधुमाधवी उस प्रेम की संतुष्टि की ओर संकेत करती है।[9]

ध्यान के प्रकार

संगीत की दृष्टि से ध्यान निम्न प्रकार के हैं-

1. ऐच्छिक ध्यान- ऐच्छिक ध्यान उसे कहते हैं जहाँ हम अपनी इच्छा से कुछ उद्देश्य से प्रेरित होकर ध्यान देते हैं। ऐच्छिक ध्यान मनुष्य की स्वाभाविक अभिवृत्ति एवं मनोवृत्ति से प्रेरित नहीं होते। इसमें अनेक प्रकार की बाधा के होने की आशंका बनी रहती है। इसमें बाधक उत्तेजना के रहते हुये भी हमारा ध्यान निरंतर उस वस्तु पर लगा रहता है जैसे परीक्षा निकट आते ही विद्यार्थी अपना मन सब तरफ से हटाकर अध्ययन में ध्यान केंद्रित कर लेता है।

2. अनैच्छिक ध्यान- राग में आलाप करते समय जब कोई गायक या वादक छोटी-छोटी ताने, लयकारी दिखाती है तब ध्यान बरबस ही उस तरफ चला जाता है। बाह्य परिस्थिति मनुष्य को ध्यान देने पर विवश करती है चाहे वह तैयार हो या न हो, ऐसे ध्यान को अनैच्छिक ध्यान कहा जाता है।

3. स्वभाविक ध्यान- स्वभाविक ध्यान किसी प्रकार की आदत या अभ्यास के बिना होता है। स्वभाविक ध्यान ऐच्छिक और अनैच्छिक ध्यान के मध्य है।

अतः राग की उपासना की दृष्टि से आज भी ध्यान पद्धति का बहुत महत्व है। राग ध्यान परम्परा हमारी अपूर्ण निधि है। भारतीय संगीत की मौलिक विशेषता है। इसमें भारतीय दर्शन की आध्यात्मिक परम्परा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह आध्यात्मिक दैवी प्रभाव आज भी रागों में संभव हो सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. मुसलगोवकर विमला, संगीत शास्त्र का : विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी दर्शकपरक अनुशीलन पृ. 343
2. चौधरी सुभाष रानी संगीत के प्रमुख : पब्लिशर-कनिष्क पब्लिशर्स, सिद्धान्त, पृ. 134, नई दिल्ली
3. बनर्जी उषा, संगीत में राग ध्यान की : कला वसुधा (संयुक्तांक), अवधारणा - पृ. 80
4. शर्मा स्वतंत्र बाला, सौंदर्य रस एवं संगीत, पृ. 227
5. पं. सोमनाथ, राग विबोध : पंचम विवेक श्लोक, पृ. 121
6. वही पं. सोमनाथ - पृ. 168
7. डॉ. स्वतंत्रबाला शर्मा, सौंदर्य रस एवं संगीत, पृ-228
8. पं. दामोदर, संगीत दर्पण, पृ. 95 द्वितीय अध्याय
9. संगीत पत्रिका, अप्रैल 1982, पृ-6

भारत में संगीत का विकास

डॉ. रामशंकर*, अशोक कुमार**

सार

भारतीय संगीत एवं कला की उत्पत्ति अथवा विकास दिनों में या एक व्यक्ति द्वारा नहीं होता। भाषा का विकसित रूप आज जो हमारे सम्मुख है यह अनेकों आयामों से गुज़रा है। इसी प्रकार संगीत, साहित्य एवं अन्य कलाओं के उद्‌गम से उन के विकास तक कई सदियों और अनेक विद्वानों के योगदान का फल है। कला के विकास के द्वार सदैव खुले रहते हैं।

संगीत के उध्द्रव के सम्बन्ध में विश्व के विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। संगीत की उत्पत्ति वेदों से हुई। वेदों के रचयिता ब्रह्मा जी विद्या धारणी थे, उन्होंने यह विद्या शिव जी को और शिव द्वारा सरस्वती को, और सरस्वती से नारद को प्राप्त हुई। सरस्वती को वीणा पुस्तक धारणी' इसीलिए कहा जाता है। नारद जी ने स्वर्ग में देव गंधर्व, किन्नर, अप्सराओं को यह विद्या प्रदान की, वहाँ से भरत आदि ऋषि भू-लोक पर विद्या का प्रचार करने हेतु अवतरित हुए।

मुख्य शब्द–*उद्‌गम, गंधर्व, पुस्तक धारणी, अप्सराओं, योगदान*

भूमिका

एक मतानुसार नारद जी ने कई वर्ष योगसाधना की और महादेव जी ने उनकी भक्ति पर प्रसन्न होकर संगीत विद्या प्रदान की। नारद जी ने इस का भू-लोक पर प्रचार किया। पार्वती जी की शयन मुद्रा देख कर महादेव जी ने उनके अंगों-प्रत्यंगों के आधार पर 'रूद्रवीणा' बनाई और अपने पाँच मुखों से पाँच रांगों-भैरव, हिंडोल, मेघ, दीपक और श्री को उत्पन्न किया तथा कौशिक राग पार्वती जी द्वारा उत्पन्न किया गया। भारतीय संगीत पद्धति में मध्यकाल से वर्तमान काल तक मुख्य छः राग ही स्वीकार किए जाते रहे हैं। दूसरी ओर यह भी पढ़ने में आता है कि राग शब्द का प्रयोग पहली बार मतंग मुनि द्वारा लिखित बृहदेशी, ग्रन्थ में किया गया।

विभिन्न धर्मों में पृथक गाथायें इसके सम्बन्ध में पढ़ने को मिलती हैं। फारसी की एक कथा इस प्रकार है हजरत मूसा पहाड़ों पर धूमते-फिरते कुदरत के नजारे देख रहे थे। आकाशवाणी हुई1 फारसी की एक कथा के अनुसार एक समय हज़रत मूसा दरिया में नाव की सैर कर रहे थे, उन्हें एक पत्थर दिखाई दिखा और एक फरिश्ता जिस का नाम जेबरापुल था, उनके सामने प्रकट हुआ और बोला ''इस पत्थर को तुम सदा अपने पास रखना''।[2] एक दिन वह जंगल में घूम रहे थे उन्हें प्यास लगी। जंगल में पानी नहीं मिला तो उन्होंने खुदावन्द करीम प्रार्थना की। बस फिर क्या था, वर्षा होने लगी। मूसा पैगम्बर ने अपनी प्यास बुझाई। वर्षा के जल की धाराएँ बहने लगी। इन धाराओं से अलग-अलग सात ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगी जो सात स्वरों अर्थात सा, रि, गा, मा, पा, धा, नि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

कुछ कथाकारों ने अपने स्वरों की उत्पत्ति पक्षियों से जोड़ डाली। एक पक्षी जिसका नाम 'मुसीकार' है जिसे यूनान में फैनिक्स (Phoenix) कहते हैं और फ्रांस में अतिशेजन' पुकारते है 'कोहक़ाफ़' नाम

*शोध निर्देशक, असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
**शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पर्वत पर रहता हैं। इस पक्षी की संख्या केवल एक ही है और इस की आयु सहस्त्र वर्ष होती है। इसकी चोंच बाँसुरी की भाँति सात छिन्द्र होते है। जब उस पर वर्षा होती है तो प्राकृतिक रूप से उस भस्म से एक अण्डे का उद्भव होता है उस अण्डे से पुनः एक पक्षी का जन्म होता है जिसकी चोंच में सात छिन्द्र होते है। इन छिन्द्रो सात भिन्न-भिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो सात स्वर कहलाते हैं। हड़प्पा लाहौर से दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग 900 मील पर स्थित है। मोहनजोदड़ो सिन्धु प्रदेश में कराची से लगभग 200 मील उत्तर सिन्धु नदी पर स्थित है।

इन स्थानों में खुदाई से पकी मिट्टी के मुहर, बर्तन, पशुओं की प्रतिमाएँ, हथियार, नगरों, किलों इत्यादि के जो अवशेष मिले है उनसे यह सिद्ध होता है कि भारत की प्राचीन सभ्यता में भी विकास हुआ था। बलूचिस्तान के पहाड़ो की उपत्यका (तलहती) में ओर सिन्धु नदी के किनारे यह सभ्यता पनपी और पंजाब इत्यादि प्रदेशों में फैली। सुविधा के लिए इससे संक्षेप में सिन्धु सभ्यता कहते हैं। साम्प्रत काल में सौराष्ट्र-गुजरात तक में कई स्थानों में इस सभ्यता के अवशेष मिले है।

उदाहरणार्थ अहमदाबाद जिले में लोथल नामक स्थान में खुदाई करने से जो अवशेष मिले हैं उनका सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से पूर्ण साम्य है।[3]

सिन्धु सभ्यता-काल में संगीत

सिन्धु-सभ्यता आर्य थी या अनार्य, वैदिक थी या अवैदिक इस विशेष में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इस विषय में तो कोई विवाद हो नहीं सकता कि वह भारतीय थी। मोहनजोदड़ों की खुदाई में बाँसुरी, तन्त्रीयुक्त वीणा, चमड़े के कई प्रकार के वाद्य, यन्त्र, दो नर्तकियों की काँसे की मूतियाँ और एक नर्तक की पत्थर की भग्न मूर्ति इत्यादि संगीत सम्बन्धी सामग्री मिली है। इन सामग्रियों से यह पता चलता है कि 5000 वर्ष पूर्व भारतीय संगीत में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। वीणा और विभिन्न प्रकार के ताल-वाद्यों का भी निर्माण हो चुका था।

काँसे की दो नर्तकियों की मूर्तियाँ मोहनजोदड़ों में मिला हैं। पहली मूर्ति 4.25 इंच ऊँची है और अच्छी दशा में मिली है। केवल उसके पाँव भग्न हो गये हैं। सिर का जूट दाहिने कन्धे पर लटका हुआ है। बायाँ पैर सामने की ओर झुका है और दाहिना हाथ दाहिनी कमर पर रखा हुआ है। बायाँ हाथ में केवल दो चूड़ियाँ केहुनी से कुछ ऊपर हैं और दो चूड़ियाँ कलाई पर हैं।

इसी काल में बैबिलोन (बवेरू) कैल्डिया, मेसोपोटैमिया इत्यादि स्थानों अर्थात पश्चिमी एशिया में भी संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई थी। कुछ इतिहासकारों का यह विश्वास है कि मेसोपोटैमिया से हो भारत में यह संस्कृति आई। किन्तु इसमें सन्देह नहीं ईसा से लगभग 5000 वर्ष पूर्व भारती, मेसोपोटैमिया, और मिश्र में संगीत काफी उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था जिसका ज्ञान यूरोप को नहीं था।4

'ओऽम्' से संगीत की उत्पत्ति

भारतीय विद्वानों का मत है कि 'ओऽम्' जो तीन अक्षरों की सन्धि से अवतरित हुआ है। जो ओऽम् के तीन अक्षर अ+ऊम् तीन प्रमुख शक्तियों के द्योतक हैं। आकार+उकार+मकार-ब्रहमा+विष्णु+महेश (उत्पत्ति करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला) शक्तियों का पुंज 'ईश्वर' है। ग्रन्थों में कहा भी है-

आकारो विष्णु रूछिन्ट उकारास्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते बहमा प्रणावेन मयो मतः।।

अर्थात् आकार-विष्णु, उकार-महेश और मकार-ब्रह्मा का वाचक है। ओऽम् वेदों का बीज मंत्र है। इसी बीज मंत्र से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है और इसी से नाद और नाद से स्वर और स्वर से संगीत की रचना हुई।

ग्रन्थकार का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

प्रकृति की और से मानव को अन्य जीव जन्तुओं के मुकाबले एक सम्पूर्ण शरीर प्राप्त हुआ है, जिसमें सोचने, समझने, बोलने, देखने, सुनने, सूंघने, गाने, बजाने, नाचने के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की क्रियाये करने, नए-नए आविष्कार करने की कला विद्यमान है। मानव शरीर से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह उसके विभिन्न अंगों के सहयोग से उत्पन्न हो

कर सुनाई देती है। आवाज में सुरीलापन, माधुर्य, कर्कशपन, रूखापन, व्यक्ति विशेष की मांसपेशियों पर निर्भर करता है।[5] जबकि मानव कंठ अनेकों ध्वनियाँ उत्पन्न करने में सक्षम् है। मानव को पशुओं-पक्षियों द्वारा स्वर का ज्ञान हुआ।

भारतीय कलाकारों ने संगीत को कभी साध्य नहीं माना है। उन्होंने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सदैव इसे साधन-रूप में स्वीकार किया है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने यथार्थ ही कहा है- ''जीवन रूपी संगीत ही नाद, ब्रह्म या वाग्देवी की वीणा है, जिसके सप्तक में विश्व के आनंद की सप्तधाराएँ मूर्त रूप ग्रहण करती हैं। संगीत की सच्ची साधना वही है, जिसके फलस्वरूप मानव का मन उस उच्चतर सूक्ष्म नाद का अनुभव करने के योग्य बन सके।'' योगियों ने भी शक्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाने में संगीत को सहायक माना है। योगियों की भाषा में संगीत नादयोग है। मूलाधर-स्थित योनि में कुंडलिनी शक्ति की स्थिति मानी गई है। यह शक्ति जीवन की प्राण-शक्ति है कुंडलिनी आठ स्थानों पर आठ टुकड़ों में सर्प की भाँति कुंडली मारे हुए है। इन्हीं के घात-प्रतिघात से जीव सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है। इन आठ स्थानों से विकसित शक्तियों को योगी एकत्र करके जैसे-जैसे ऊर्ध्वगामी करते हैं; वैसे शक्ति नीचे के केंद्र से उठकर ऊपर के केन्द्र में चढ़ती जाती है। अततः षड्चक-भेदन होने पर शिवशक्ति का मेल हो जाता है। यही मोक्ष की स्थिति है- प्रिय-मिलन की स्थिति है। इस प्रकार यौगिक क्रियाओं से भी संगीत के द्वारा परमात्मा से संबंध स्थापित करना संभव है।

किन्तु योग से सरल एवं सुलभ मार्ग हैं भक्ति का सूर की भाषा में उद्धव के प्रति विरहविदग्धा गोपियों का उलाहना सर्वविदित है।[6] कोई भी सभ्यता, कला, भाषा, विज्ञान, गणित, किसी विशेष व्यक्ति द्वारा, किसी विशेष समय पर किसी निश्चित स्थान पर उत्पन्न नहीं होती बल्कि सहस्त्रों प्राणियों के योगदान के फलस्वरूप विकासोंन्मुख होती है। संगीत के विकास में देश, काल और परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रभाव के कारण पंजाब, हिमाचल, मथुरा, महाराष्ट्र, बंगाल, उड़ीसा, राजस्थान, मद्रास मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों की वेश-भूषा, रहन-सहन, लोकगीत, भाषा, लोक नृत्य, सामाजिक विधि विधान आदि में अन्तर है। संगीत के उदगम का स्त्रोत चाहे कुछ भी हो परन्तु मेरा विचार यह है कि संगीत उद्गम मानव जाति के साथ ही हुआ। मनुष्य के जन्म से मृत्यु काल तक संगीत उस का साथ नहीं छोड़ता बल्कि इसके बिना तो कोई भी मानव संस्कार-धार्मिक सामाजिक, सांस्कृति आदि पूर्ण ही नहीं होता। रोना, हँसना, नाचना (उच्छलना, कूदना), गाना (कंठ द्वारा ध्वनि उत्पन्न करना) मानव सहज प्रवृत्तियों हैं। मानव ने जब पत्थर के हथियार बनाए या लोहे अथवा किसी अन्य धातु से तो सभी यन्त्रों द्वारा ध्वनि उत्पन्न हुई। वृक्ष के पत्तों द्वारा शृंगार करना मानव सभ्यता में लाखों वर्षों से आज तक भी, शामिल है। आप वृक्ष का पत्ता ले और उसे दोहरा करके उसमें फूंक मारिए ध्वनि निकलेगी क्या फूंक वाले वाद्यों का उद्गम स्त्रोत यही नहीं? मुंह से सीटी बजाना शंख बजाना या कोई भी नली लोहे बांस इन्ही प्राकृतिक वस्तु यही वस्तुओं, साधनों, द्वारा ही सुषिर वाद्य बनते गए।[7]

संगीत के विकास में विभिन्न धर्मो का योगदान

हमारे सभी क्रिया-कलाप, आचार-व्यवहार, चिन्तन-मनन, धार्मिक विधानों से ही नियंत्रित होते हैं। संगीत भी इस नियम का अपवाद नहीं। समस्त भारतीय कलायें धर्म के आवश्यक अंग के रूप में अस्तित्व में आई और धार्मिक भावनाओं का आधार लेकर ही विकसित हुई। धार्मिक आचारों के मूल्यों में अन्य समाजों एवं सम्प्रदायों के प्रभाव से अंतर उपस्थित हो जाने पर भी संगीत साधना की गणना आज भी पवित्र एवं पुण्य कर्मों में होती है और यही कारण है कि गुरू नानक देव, गुरू अर्जुनदेव, गुरू तेग़बहादुर आदि सिख धर्म के गुरूओं और अन्य भक्त कवियों की रचनाऐ जो गुरू ग्रंथ साहिब में संकलित है, सब के ऊपर शीर्षक रूप में रागों के नाम अंकित है। परिस्थितियों के उलट-फेर से संगीत साधना अथवा संगीत शिक्षा ग्रहण को मध्यकालीन भारतीय समाज में हेय दृष्टि से देखे जाने पर भी भगवत वंदना सदैव की भाँति कीर्तन के माध्यम से संगीत स्वरों में होती रही और आज भी हो रही है।

शास्त्रीय संगीत से अनभिज्ञ सरल हृदय-भावक भक्त अपनी इच्छा के अनुसार उल्टी सीधी धुनों में मनमाने ढंग से गुन-गुना कर अपने भगवान को रीझा लेता है, सुनने वाले भले न रीझें अपितु उन्हें खीज भी हो तो हुआ करे। लेकिन एक संगीत साधक भक्त संगीत नियमों से अनुशासित, राग-रागनियों में बद्ध भजन कीर्तन स्वयं भी आनंदमग्न होता और श्रोताओं को भी भाव-विभोर कर देता है। अस्तु, सामाजिक दृष्टिकोण से भी ध्रुवपद, धमार, ख्याल आदि शास्त्रीय शैलियों में अथवा अर्द्ध शास्त्रीय संगीत शैलियों के आधार पर संपादित होने वाले भजन-कीर्तन का अधिक महत्व है।[8]

भारतीय संस्कृति और धर्म के घनिष्ठ संबंध की पुष्टि निम्नलिखित श्लोक द्वारा होता है, जो मतंग द्वारा रचित है और बृहदेशी ग्रन्थ में अंकित है।

न नादेन बिना गीत न नादेन बिना स्वराः।
न नादेन बिना नृत्यं तस्मानादास्थक जगत्।
ना रूपः स्मृतौ ब्रह्मा नाद रूपों जनार्दनः।
नाद रूपा परा शक्ति नाद रूपों महेश्वरः।।

अर्थात् नाद के बिना न स्वर है न गीत है न नृत्य है, यहाँ तक की सम्पूर्ण जगत् ही नाद पर अवलम्बित है। ब्रह्मा विष्णु महेश भी नाद रूप से स्मरण करते हैं और उनकी परा शक्ति भी नाद रूप है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि ही नादात्मक है। नाद को ही चैतन्य, अद्वितीय, आनंदात्मक, नाद ब्रह्मा आदि बताया गया है। एक बार नारद जी के पूछने पर भगवान विष्णु जी ने उत्तर दिया।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद् भक्तः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

अर्थात्ः मैं (विष्णु) न तो बैकुण्ठ में रहता हूँ, न मैं योगियों के हृदय में रहता हूँ। मेरे भक्त जहाँ गायन करते हैं मैं वहीं निवास करता हूँ। गुरू नानक देव जी ने सर्वप्रथम कीर्तन को अराधना तथा उपासना का एक साधना माना। आप प्रायः स्वरचित पदों का कीर्तन रूप में गान किया करते थे। आपके पदों पर शीर्षक रूप में विभिन्न रागों के नाम अंकित हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि गुरू जी प्रायः उन्हीं रागों में उन पदों का कीर्तन किया करते थे। गुरू ग्रन्थ साहिब के सम्पक् अवलोकन के पश्चात् इन रागों की संख्या उन्नीस ठहरती है, जिनके नाम इस प्रकार है।

(1) सिरी (2) मांझ (3) गउड़ी (4) आसा (5) गूजरी (6) बडहंस (7) सोरठ (8) धनासिरी (9) तिलंग (10) सूही (11) बिलावल (12) रामकली (13) मारा (14) तुखारी (15) भैरऊ (भैरव) (16) बसन्त (17) सारंग (18) मलार (19) प्रभाती ऊपरी दिये गए राग नामों में कोष्ठ में दिए गए नाम मैंने अपने अनुमान से शुद्ध करके दिए हैं। गुरू ग्रन्थ-साहिब में वही नाम है, जो कोष्ठबद्ध नहीं है। सामान्य रूपेण केवल इन्हीं 19 रागों का सम्बन्ध गुरू जी से स्थापित किया जाता है लेकिन मैंने पदों का अध्ययन करने के पश्चात् पाया कि इन 19 रागों के अतिरिक्त अन्य 16 मिश्रित रागों का भी नामोल्लेख पदों पर हुआ है। इन 16 रागों के नाम निम्नवत हैं।

(1) गौड़ी जुआरेरी (2) गौड़ी दखणी (3) गौड़ी चेति चेति (4) गौड़ी बैरागणी (5) गौड़ी पूर्व दीपकी (6) गौड़ी दीपकी (7) आसा काफी (8) बडहंस दखणी (9) काफी (10) रामकली दखणी (11) मारू दखणी (12) बसन्त-हिण्डोल (13) विभास (14) प्रभाती विभास (15) प्रभाती-दखणी (16) गाउड़ी माला।

निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह राग जिस प्रकार से आज गाए जा रहे हैं, गुरू जी के समय में भी उसी प्रकार गाऐ जाते रहे होंगे। 500 साल की अवधि में शैली बदली, भाषा में भी अन्तर स्थापित हो गया, तालों में भी उलट फेर हुए तो फिर राग स्वरों के विषय में कि गुरू जी को गउड़ी राग बहुत प्रिय था।[9]

गुरु शिष्य परम्परा

संगीत जगत् में भी ''गुरु'' को इसी रूप में आदर प्राप्त था। पुस्तकीय ज्ञान नष्ट हो सकता था। अलेक्जेंड्रिया का पुस्तकालय (300 ई. पू.) नष्ट हो जाने से ग्रीस एवं रोमन सभ्यता का अधिकांश ज्ञान नष्ट हो गया परन्तु गुरू-शिष्य परम्परा द्वारा सुरक्षित भारतीय ज्ञान, कला के थपेड़ों को सहते हुए आज भी किसी न किसी रूप में प्राप्त है। गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा सुरक्षित नाट्य एवं सांगीतिक जाने

कितने अन्य ग्रन्थों का निर्माण गुरु शिष्य परम्परा की मौखिक प्रणाली द्वारा संभव हुआ। संगीत कला के सैद्धान्तिक एवं कलात्मक दोनों ही पक्षों का सरक्षंण एवं संवर्धन इसी मौखिक परम्परा में सहस्त्रों वर्षों तक होता रहा है।

संगीत में गुरु-शिष्य परम्परा शास्त्र एवं कला का शिवमत, ब्रह्ममत, भरतमत, हनुमन्मत् इत्यादि सभी संगीत एवं नाट्य के स्वतन्त्र संप्रदाय थे, जिनकी अपनी पृथक-पृथक मान्यताएं थी। दत्तिल, कोहल, मतंग तथा अभिनव गुप्त ''भरतमत्'' के अनुयायी थे। प्राचीन प्रबन्ध-गान की शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, बेसरा एवं साधारणी गीतियाँ, ध्रुवपद की गौरहारी, डागुर, नौहार तथा खंडार बानी (वाणियाँ) तथा ख्याल के ग्वालियर, आगरा, जयपुर, किराना इत्यादि ''घरानों'' का विकास गुरु-शिष्य परम्परा की विशेषताओं के आधार पर ही हुआ।

यह वाणियाँ विभिन्न स्थानों, यथा ग्वालियर डॉग, खण्डार नौहार स्थानों में विकसित होने के कारण उनमें इन स्थानों की भाषा या बोली की भिन्नता के साथ गान शैली की भिन्नता का बोध भी संभव है। तानसेन एक ओर ध्रुवपद की 'गौरारी'' वाणी के प्रवर्तक थे, तो दूसरी ओर बीनकारों में सेनिया घराने के मूलपुरुष तानसेन के पुत्रवंश एवं पुत्री के वंशजों में ''ध्रुवपद'' एवं बीनकारों की एक सुदीर्घ परम्परा ने ''घराने'' का बीजारोपण किया गया था। वादन शैली की शिक्षा वंश या परिवार के व्यक्तियों में सीमित होती चली गयी।[10]

आधुनिक युग की आवश्यकता

19वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुए, अंग्रेजी-शासन की स्थापना के ही सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली का विस्तार प्रारम्भ हुआ। मानविकी एवं विज्ञान के साथ-साथ ललित कलाओं एवं संगीत की शिक्षा भी गुरू कुल प्रणाली के स्थान पर संस्थाओं या विद्यालयों में सामूहिक रीति से प्रारम्भ हुई। जनसामान्य में अधिकतम् प्रचार प्रसार, शिक्षण में नियम बद्धता एवं स्तरीकरण के उद्देश्य से संगीत विषय की संस्थागत सामूहिक शिक्षण विधि अपनाई जाना युग की आवश्यकता थी इसके द्वारा ही अधिकतम व्यक्ति लाभान्वित हो सकते थे। पाश्चात्य देशों में काफी पहले से ही इस विधि का व्यवहार हो रहा था तथा वहाँ संगीत शिक्षण के क्षेत्र में भी इसका प्रचलन था। अपने देश में संगीत को ''घरानों'' के संकुचित दायरे से मुक्त कराकर जनसामान्य को सुलभ कराने के प्रयास 19 वीं शताब्दी के अंतिम दशिकों में यत्र तत्र प्रारम्भ हो गये थे। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध में तानसेन के वंशज बहादुर खाँ जो प्रसिद्ध ध्रुवपदिया थे, विष्णुपुर (बंगाल) में जाकर बसे तथा वहाँ संगीत का एक विद्यालय प्रारम्भ किया जिसमें गदाधर चक्रवर्ती, रामशंकर भट्टाचार्य, निताई, नजीर, वृन्दावन नज़ीर इत्यादि प्रसिद्ध नायक तैयार हुए। रामशंकर भट्टाचार्य के शिष्यों में क्षेत्र मोहन गोस्वामी ने सन् 1871 में कलकत्ता में एक संगीत विद्यालय की स्थापना की तथा संगीत को जन सामान्य में प्रचलित करने का स्तुत्य प्रयास किया। क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने संगीत की एक पुस्तक लिखी तथा स्वर-लिपि का भी निर्माण किया।

पं. भास्कर राव बखले द्वारा पूना में 1874 में ''भारत गायन समाज'' नामक संस्था की स्थापना हुई थी। बम्बई में पारसियों द्वारा 1890 के पूर्व ही ''गायनोत्तेजक मंडल'' की स्थापना की जा चुकी थी। इसी मंडल में पं. भातखण्डे जी ने रावजीबुवा बेलबाँगकर से ध्रुवपद एवं उ. अली हुसैन खाँ से ख्याल की शिक्षा पाई थी।[11] सन् 1880 के कुछ पहले जामनगर में प. आदित्यराम ने संगीत के सामूहिक शिक्षण का प्रयास किया था।

श्री पन्नालाल गोसाई (देहान्त 1885 में) ने सितार शिक्षण का एक विद्यालय दिल्ली में चलाया था।

इस दिशा में निश्चित प्रयत्न सन् 1886 में बड़ौदा में हुआ, जहाँ श्रीमंत सयाजीराव गायकवाड़ द्वारा संगीत विद्यालय प्रारम्भ करवाया गया। यही विद्यालय बाद में ''बदौड़ा स्टेट म्यूजिक स्कूल'' कहलाया। स्व. पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर जी द्वारा गांधर्व महविद्यालय की स्थापना सन् 1901 में लाहौर में हुई।

सन् 1906 में डॉ. एनीबेसेन्ट द्वारा थिओसोफिकल विद्यालय की स्थापना बनारस में की गई, जिसमें संगीत की शिक्षा का एक विषय बनाया गया।

स्व. प. वि. ना भातखण्डे जी द्वारा सन् 1918

में ग्वालियर में 1920 में बड़ौदा में तथा सन् 1926 में लखनऊ में संगीत विद्यालय का प्रारम्भ किया गया।

सन् 1950 में वाराणसी में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत संगीत विभाग की स्थापना के परिणाम से देश के अन्य विश्वविद्यालयों में भी संगीत विभागों को प्रारम्भ करने की होड़-सी लग गई।[12]

जैसा इसके पूर्व कहा जा चुका है, आज गुरु-शिष्य परम्परा की क्षीण रेखा विद्यमान होते हुए भी संस्थागत-शिक्षण इस युग की विशेषता बन चुका है। अतः इस युग में स्थापित संगीत की अग्रणी संस्थाओं के उद्भव एवं विकास का अवलोकन करना यहाँ समीचीन होगा। इस प्रकार से हम कह सकते है कि भारत में संगीत का विकास अधिकतम विद्वानों ने किया।

निष्कर्ष

भारतीय संगीत के विकास में मानव ने लोक संगीत, आध्यत्मिक संगीत, शास्त्रीय संगीत, उपशास्त्रीय, लोक गीतों, विभिन्न प्रकार की शैलियों का विकास किया है। हमारे पर्यावरण में मानव ने संगीत का सहारा जन्म से लेकर मृत्यु तक लिया है। मानव ही नहीं दुनिया का कोई भी प्राणी, मानव, पशुओं, पक्षियों, आदि से संगीत का भारत में विकास हुआ था। निष्कर्ष के विषय में कहा जाए तो भारतीय संगीत का विकास आदि, समय से चला आ रहा है। लेकिन आज इस देश में संगीत-शिक्षण की तीन विधियाँ प्रचलित हैं। (1) प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार (2) संगीत की एकमात्र शिक्षा प्रदान करने हेतु स्थापित विद्यालयों में तथा (3) सामान्य शिक्षा संस्थाओं में विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम में एक विषय की भाँति।

जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है, गायन वादन एवं नृत्य के सभी प्रमुख घरानें आज भी विद्यमान है। आज भी उनमें से प्रतिभा सम्पन्न कलाकार उत्पन्न हो रहे हैं तथा जनमानस आज भी इस प्रकार के मानदानी संगीतज्ञों को सिर आँखों पर लेता है। परन्तु आज शिक्षण केवल घरानों में ही सीर्मित नहीं रहा। आज संगीत में माध्यम एवं साधारण वर्ण का सद्ग्रहस्थ भी सीखना चाहता है। अपने-अपने ढंग से संगीत की सेवा कर रही हैं और इससे ''बहुजन हिताथ, बहुजन सुखाय'' का हमारा उद्देश्य पूर्ण हो रहा है।

अतः हम कह सकते है कि भारत में संगीत का विकास हो रहा है।

संदर्भ सूची

1. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 1
2. भारतीय संगीत का इतिहास, सिंह डॉ. ठाकुर जयदेव, पृ. 8
3. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 13
4. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 3
5. निबन्ध संगीत, गर्ग लक्ष्मीनारायण, पृ. 69
6. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 5
7. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 27,28
8. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 27, 28
9. भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास, बावरा डॉ. योगेन्द्र सिंह, पृ. 32, 33
10. संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली, चौबे अमरेश चन्द, पृ. 6, 7
11. संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली, चौबे अमरेश चन्द, पृ. 21, 22
12. संगीत की संस्थागत शिक्षण प्रणाली, चौबे अमरेश चन्द, पृ. 21, 22

नये दौर की खुली हवा में : पंख पसारता ग़ज़ल

गौरव शुक्ल

''कल-आज-कल हो दौर कोई भी,
ग़ज़ल गरिमा न कभी कहीं खोई थी।
इस क़दर ग़ज़ल ने किया हृदय का स्पन्दन,
जागी वो आवाज़ जो बरसों से सोई थी।।''

हर चीज़ को परिभाषा में बाँधना न ज़रूरी है और न अच्छा ही। 'ग़ज़ल' एक ऐसा विषय है जो परिभाषा से परे है। अगर हम इसे बाँधने का प्रयास भी करेंगे तो कुछ चीज़े ज़रूर छूट जायेंगी। 'ग़ज़ल' अरबी साहित्य की प्रसिद्ध काव्य विधा है जो बाद में फ़ारसी, उर्दू और हिन्दी साहित्य में भी बेहद लोकप्रिय हुई। संगीत के क्षेत्र में इस विधा को गाने के लिए ईरानी और भारतीय संगीत के मिश्रण से एक अलग शैली निर्मित हुई।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में जब कहीं भी 'ग़ज़ल' का ज़िक्र आता है तो 'प्रिंस ऑफ ग़ज़ल' दुष्यन्त कुमार जी की शख्सियत सामने आ जाती है। 20वीं सदी के 'ग़ज़ल' महानायक दुष्यंत कुमार जी ने 'हिन्दी उर्दू ग़ज़ल' को लोकप्रियता की बुलंदियों तक पहुँचाया। विशेषतः नई पीढ़ी के बीच जो ग़ज़ल के प्रति दिलचस्पी देखने को मिलती है उसका श्रेय दुष्यंत जी को ही जाता है। उनकी सामाजिक, राजनीतिक भावनाओं से ओतप्रोत ग़ज़लें युवाओं में प्रेरणा, जोश और चेतना का सृजन करती हैं। बड़े-बड़े विद्वानों व साहित्यकारों ने दुष्यंत जी की ग़ज़लों को 'आम जनता की आवाज़' कहा।

'Corruption was a major theme in his writing. His poetry has become an inspiration for, whole generation of emerging poets.

मैं स्वयं उनकी कुछ ग़ज़ल पंक्तियों से बेहद प्रभावित हुआ-

1. *'हो गई है पीर पर्वत सी, पिघलनी चाहिए।*
   सिर्फ हंगामा खड़ा करना, मेरा मक़सद नहीं।।'
   'साये में धूप'
2. *'ग़ज़लों का हुनर, अपनी आँखों को सिखायेंगे।*
   रोयेंगे बहुत, लेकिन आँसू नहीं आयेंगे।।'
3. *'सर झुकाओगे तो पत्थर देवता हो जायेगा...*
   'दुष्यंत कुमार'

वक़्त के साथ परिवर्तन प्रकृति का नियम है। 20वीं सदी की ग़ज़लें भी पुराने रूढ़िवादी परम्परा को धीरे-धीरे छोड़कर अपने प्रगतिशील रूप में दिखती हैं। हिन्दी-उर्दू 'ग़ज़ल' के जनक दुष्यंत जी की प्रेरणादायी ग़ज़लें तत्कालीन ज्वलन्त विषयों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं।

दुष्यंत कुमार जी के समकालीन व पश्चात् के ग़ज़लकारों ने अपने लेखन से बदलते वक़्त और माहौल के साथ ग़ज़लों में अलग-अलग रंग भरने की कोशिश की। 20वीं व 21वीं सदी के ग़ज़लकारों में- क़ैफी आज़मी, सुदर्शन फाकरी, निदा फाज़ली, अमीर मिनाय, जावेद अख़्तर, बशीर बद्र, वसीम बेरलवी, अवधेश सिंह, गुलाम अली, श्यामल सुमन व अन्य शामिल हैं।

क़ैफी जी की ग़ज़लें भी तत्कालीन गणतंत्र, सामाजिक व सहानुभूति पूर्ण भावना का प्रतिनिधित्व करती हैं-

4. *''कर चले हम फिदा जान-ओ-तन साथियों।*
   अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों।।'

सहायक आचार्य, सितार, संगीत विभाग, जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

5. *''तुम इतना जो मुस्करा रहे हो।*
क्या ग़म है जिसको छुपा रहे हो।।''

'क़ैफी आज़मी'

आधुनिक सदी के सभी ग़ज़लकारों का मैं दिल से शुक्रिया अदा करता हूँ कि उन्होंने अपने लेखन में साधारण व सरल भाषा का उचित प्रयोग कर आम जनता के हृदय में अपनी सम्माननीय जगह बनायी। आधुनिक दौर में हिन्दी साहित्य में ग़ज़ल के उपमा-रूपक बदल गए जिससे मक़्ते, मतले, नुक्ते, बंद व नज़्मों में कही गयी बातें आम जनता तक पहुँचने लगीं व नवयुवकों के उभरते हुजूम को अपनी ओर आकर्षित किया।

आइए देखें प्रसिद्ध ग़ज़लकार वसीम बरेलवी जी ने कैसे अपनी तरन्नुम में आसान लब्जों का इस्तेमाल करके, उनसे बुलंद ख़यालातों का इज़हार किया है-

6. *''मिली हवाओं में उड़ने की वो सजा यारों।*
कि मैं ज़मीन के रिश्तों से कट गया यारों।।''
7. *''उसूलों पे जहाँ आँच आये, टकराना ज़रूरी है।*
जो ज़िन्दा हो, तो फिर ज़िन्दा नज़र आना ज़रूरी है।''

वसीम बरेलवी

आधुनिक ग़ज़ल के सम्प्रभु बशीर बद्र जी के ग़ज़ल लेखन का केन्द्र-बिन्दु प्रेम, Passion, सौन्दर्य के ईर्द-गिर्द घूमता है। इनके ग़ज़लों में विभिन्नता देखने को मिलती है-

8. *''वो महकती पलकों की ओट से कोई तारा चमका था रात में,*
मेरी बंद मुट्ठी ना खोलिए वही कोहिनूर है हाथ में।।''
9. *'अभी इस तरह ना निग़ाह कर, मैं ग़ज़ल की पलकें सँवार लूँ।*
मेरा ल़ज़-ल़ज़ हो आइना, तुझे आइने में उतार लूँ।'

'बशीर बद्र'

मुशायरों की दुनियाँ में 'ग़ज़ल' का सर्वोच्च स्थान है। आधुनिक ग़ज़लकारों ने नये उपमा व रूपकों को प्रगतिशीलता प्रदान करते हुए अपने लेखन में सामाजिक, राजनीतिक अर्थ भी शामिल किए। साथ ही साथ सामाजिक सावधानता को स्वीकार किया, जिससे आधुनिक ग़ज़लों में प्रगतिशील ग़ज़ल और हमारे पुराने प्यारे पारम्परिक ग़ज़ल सभी का मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

ग़ज़ल के इस सहज, सर्वग्राह्य नये स्वरूप की ये बड़ी उपलब्धि है कि आज ग़ज़ल प्रेमियों की संख्या में भारी बढ़त दीखती है। ग़ज़ल साहित्य के प्रति लोगों का बढ़ता रूझान ये साबित करता है कि हम सभी के हृदय में देशप्रेम, संवेदना व चेतना का उन्नयन हो रहा है। आधुनिकता के इस दौर में ग़ज़लकारों की ग़ज़लों में हमारी सभ्यता, संस्कृति, विचार व नैतिकता स्पष्ट झलकती है। आज ग़ज़ल लेखन का दायरा सीमित नहीं बल्कि विस्तृत हो गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. 'दुष्यंत कुमार रचनावली': किताब घर प्रकाशन/लेखक विजय बहादुर सिंह।
2. कैफ़ीयात् : कैफ़ीयात्-ए-कैफ़ी आज़मी (उर्दू) शैक्षिक प्रकाशन/ ISBN. 8187667788-
3. आर्टिकल्स :टाइम्स ऑफ इण्डिया।
4. पत्रिका : आजकल, वर्तमान साहित्य।
5. बायोग्राफी ऑफः ग़ज़ल राइटर्स।
6. 'धूप का चेहरा': बशीर बद्र।
7. 'मौसम अन्दर-बाहर के': वसीम बरेलवी/वाणी प्रकाशन ISBN-978-81-8143-684/2008 जनवरी

संगीत एवं मानसिक स्वास्थ्य

सोनिका कुमारी*, डॉ. सुनील कुमार तिवारी, डॉ. श्वेता पाठक*****

परिचय :-

सम्पूर्ण सृष्टि संगीतमय कड़ी से जुड़ी हुई है, गीत-वाद्य-नृत्य इन तीनों का समन्वय रूप संगीत कहलाता है। सामवेद में वर्णित 64 कलाओं में से एक कला है ललित कला, ललित कला के 5 भाग बताए गए हैं - संगीत कला, कविता, चित्रकला, मूर्तिकला, और वास्तुकला। इन सभी कलाओं में संगीत कला सर्वश्रेष्ठ कला है।

प्रत्येक कला मानव भावनाओं से जुड़ी होती है, अंतर बस इतना है कि सभी कलाओं के माध्यम अलग-अलग होते हैं, संगीत साधना से दिव्य शक्तियों की अनुभूति मनुष्य को स्वयं होने लगती है, जैसे कि:-

1. परम आनंद की प्राप्ति
2. मन को एकाग्र करने की शक्ति
3. भाव संगीत की साधना से समर्पण की भावना जागृत होती है
4. सामूहिक प्रार्थना से आत्म बल की प्राप्ति होती है
5. शास्त्रीय साधना से स्वस्थ शरीर के साथ स्वस्थ मस्तिष्क की प्राप्ति होती है
6. राष्ट्रीय गीतों की साधना से प्रेरक शक्ति मिलती है।

सात स्वरों की मधुर ध्वनि में एक विशेष प्रकार की शक्ति है जिसमें ध्यान लगाने से उसकी साधना करने से परमात्मा प्राप्ति की सुखानुभूति होती है, आदिकाल से चली आ रही गाथाओं प्रथाओं की मानें तो संगीत में ईश्वर का वास है एवं संगीत ईश्वर से ही प्राप्त है, संगीत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के धार्मिक-प्राकृतिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण हैं, सत्य यही है कि संगीत सप्त स्वरों से निकली हुई लहरें हैं जो जल की धारा की तरह सदैव प्रवाहित होती रहती है,

संगीत कला मानव के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालती है वैसे तो संगीत कई गुणों से परिपूर्ण है, संगीत दुःख में हंसना सिखाता है, जीना सिखाता है, खुशी को व्यक्त करना सिखाता है, ईश्वर में आस्था जगाने का आधार भी संगीत ही है, भक्ति मार्ग संगीत के ही माध्यम से मिलती है, कहा जाए तो हमारे जीवन की प्रत्येक कड़ी संगीत से जुड़ी हुई है, आत्मा से परमात्मा का मिलन संगीत के माध्यम से ही हो सकता है, संगीत को मोक्ष का भी माध्यम माना जाता है, संगीत का महत्व तब ज्यादा सार्थक नज़र आने लगता है जब संगीत के माध्यम से मानसिक स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है और मानसिक रूप से विक्षिप्त रोगियों का इलाज संगीत के माध्यम से भली भांति सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

अब हमारे मन में यह सवाल उठता है कि ''मानसिक स्वास्थ्य है क्या''?

''मानसिक स्वास्थ्य से तात्पर्य" सामान्यतः जब व्यक्ति किसी भी तरह की मानसिक बीमारी से मुक्त होता है तो उसे मानसिक रूप से स्वस्थ समझा जाता है और उसकी इस अवस्था को मानसिक

शोध छात्रा, वि.वि. संगीत विभाग, ति.मा.भा., विश्वविद्यालय, भागलपुर-812007
विभागाध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत विभाग ति. माँ भा., विश्वविद्यालय, भागलपुर-812007
मनोविज्ञान विभाग, टी. एन. बी. कॉलेज, ति. माँ भा., विश्वविद्यालय, भागलपुर-812007

स्वास्थ्य की संज्ञा दी जाती है।''

इस संदर्भ में स्ट्रेन्ज (Strange, 1965) ने मानसिक स्वास्थ्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि, ''मानसिक स्वास्थ्य से तात्पर्य वैसे सीखे गए व्यवहार से होता है जो सामाजिक रूप से अनुकूलि होते हैं और जो व्यक्ति को अपनी जिंदगी के साथ पर्याप्त रूप से मुकाबला करने कि अनुमति देता है।''

हारविज तथा स्किड (HORWITZ AND SCHEID, 1999) ने मानसिक स्वास्थ्य को इस प्रकार परिभाषित किया है ''मानसिक स्वास्थ्य में कई आयाम सम्मिलित होते हैं- आत्म सम्मान, अपने अन्तःशक्तियों का अनुभव सार्थक एवं उत्तम सम्बन्ध बनाये रखने की क्षमता तथा मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठता।''

मानसिक बीमारी तथा मानसिक स्वास्थ्य में नैदानिक (Clinical) मनोवैज्ञानिकों तथा मनश्चिकित्सकों का ध्यान मानसिक बीमारी के अध्ययन की ओर तुलनात्मक रूप से अधिक गया है। मानसिक स्वास्थ्य के बिगड़ जाने से उत्पन्न चिंतन, भाव एवं व्यवहार व्यक्ति के लिए दुखदायी हो जाता है, मन तथा शरीर का कोई न कोई भाग उस तरह से काम नहीं कर रहा होता है जिस तरह से उसे कार्य करना चाहिए। शोधकर्ताओं (पुरुषोत्तम शर्मा 2010, नीरज गुप्ता 2017,) का कहना है कि संगीत- डिमेंशिया (मनोभ्रंश), अस्थमा, सिर का तेज दर्द, ऑटिज्म (आत्म विमोह), चिंता, अवसाद, स्ट्रोक (मस्तिष्काघात), सिजोफ्रेनिया (विखंडित मानसिकता), अल्जाइमर (भूलने का रोग), आदि रोगों में मददगार है। मानसिक स्वास्थ्य एवं मानसिक बीमारी को कई लोग दो अलग-अलग पहलू मानते हैं, जबकि ऐसा नहीं है क्योंकि ऐसा देखा गया है कि ऐसे व्यक्ति जिसमें कोई मानसिक बीमारी नहीं होती है, कभी-कभी उसमें मानसिक विशाद, झुंझलापन, काल्पनिक बिमारियों में चिंतित रहना, बिना बात के ही क्रोधित हो जाना आदि लक्षण पाए जाते हैं, उसी तरह से ऐसे लोग जो निश्चित रूप से मानसिक बीमारी से ग्रस्त हैं उनमें कभी कभी ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न हो जाती है जो मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्तियों की मनोदशा होती है और उसमें किसी प्रकार की कोई असामान्यता का लक्षण नहीं दिखाई पड़ता है।

उदाहरण के तौर पर अगर देखा जाए- कोई व्यक्ति अगर खुश है तो उसके हाव-भाव उसकी मानसिक स्थिति खुशियों से, उमंगों से भरी होती है और अगर कोई व्यक्ति दुखी है तो उसकी मानसिक स्थिति अलग तरह की हो जाती है, चिडचिडापन, खिझलाहट, बिना किसी बात के क्रोध करना, यही उसके हाव-भाव होते हैं, संगीत इन सभी प्रकार के मानसिक स्थितियों का साथी होता है, व्यक्ति खुश होने पर भी संगीत का सहारा लेता है, दुखी होने पर भी संगीत का सहारा लेता है इसके साथ साथ मानसिक स्वास्थ्य पर भी संगीत अपना गहरा प्रभाव डालता है।

अब अगर संगीत के प्रभाव की बात करें तो सात स्वरों की मधुर ध्वनि में एक विशेष प्रकार की शक्ति है, जिसमें ध्यान लगाने से उसकी साधना करने से शरीर में कम्पन्न उत्पन्न होती है जो रक्त संचार को तीव्र कर देती है, रक्त संचार सही होने पर शरीर के विरोधी तत्व बाहर हो जाते हैं और किसी भी प्रकार के रोग से पीड़ित व्यक्ति शारीरिक हो या मानसिक वह शीघ्र ही स्वस्थ होने लगता है। रोगी व्यक्ति को यदि नियमित रूप से 20 मिनट तक उसके पसंद का संगीत सुनाया जाए तो उसे शीघ्र ही आरोग्य किया जा सकता है, संगीत में ऐसे वाद्य यंत्र मौजूद हैं जिससे मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है जैसे कि वायलिन के बजने से 15 मिनट में तेज सिर दर्द से छुटकारा पाया जा सकता है, मनोचिकित्सक डॉ नीरज गुप्ता (2017) के अनुसार दिमाग में अल्फ़ा, बीटा, डेल्टा व थीटा वेव(तरंग) सोने व जागने में मदद करती है, थीटा और डेल्टा वेव(तरंग) सोने में मदद करती है, शास्त्रीय संगीत के कई ऐसे राग हैं जिनकी फ्रिक्वेंसी थीटा और डेल्टा से मिल जाती है और नींद लाने में मदद करती है। मनोवैज्ञानिकों व मनोचिकित्सकों का यह मानना है कि संगीत का सेहत से गहरा सम्बन्ध है, संगीतकारों का कहना है कि हर राग जीवन से जुड़ा है और तन मन तो स्वतः रागों में खो जाते हैं, आदिकाल से ही संगीत का सेहत पर पड़ने वाले साकारात्मक पहलू को ही अब मनोचिकित्सकों ने संगीत थेरेपी का नाम दे दिया है। मानव पर एवं मानसिक स्वास्थ्य पर यह संगीत का बढ़ता प्रभाव

ही है कि हाल के कुछ वर्षों से 21 जून को "विश्व संगीत दिवस" के रूप में भी मनाया जाने लगा है।

हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि ''मानसिक स्वास्थ्य की प्रकृति एवं कारक क्या है''? जिनसे हमारा मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है। नैदानिक (Clinical) मनोवैज्ञानिकों ने कुछ ऐसे कारकों को बताया है जिसमें व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है;

1. शारीरिक स्वास्थ्य
2. प्रमुख आवश्यकताओं की संतुष्टि
3. परिवार के सदस्यों का मानसिक रोग से पीड़ित नहीं होना
4. असामाजिक वातावरण
5. मनोरंजन के साधन का अभाव

इन कारकों को ध्यान में रखकर मानसिक स्वास्थ्य को काफी हद तक उन्नत बनाया जा सकता है।

अब सवाल ये आता है कि ''संगीत हमारे मानसिक स्वास्थ्य को कैसे प्रभावित करता है?''

संगीत में जादू जैसा असर है, भगवान श्री कृष्ण ने अपनी बांसुरी की धुन से तीनों लोकों को मोह लिया था। संगीतज्ञ शारंगदेव (13वीं सदी) ने संगीत के सात स्वरों को शरीर के सात अंगों से जोड़ा और इसके अनुसार संगीत तैयार करने की कोशिश की, विशेषज्ञों की मानें तो संगीत अपने आप में बहुत प्रभावी है और तनाव तथा कई मानसिक रोगों से निजात दिलाने में तथा तन और मन को प्रसन्न रखने में अहम भूमिका निभाता है, संगीत का प्रभाव नकारात्मकता को सकारात्मकता में बदल देता है, संगीत एक उच्च कोटि की उत्तम कला है, इसमें बड़ी विचित्र शक्ति है, जिसकी उपासना स्वयं नारद मुनि जैसे देवर्षियों ने की, जिसकी उपासना स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने की थी, जिसका प्रवेश किसी समय चक्रवर्ती नरेशों के महलों से लेकर किसानों की कुटियों तक था, जिस कला को प्रत्येक श्रेणी के लोग अपनाते थे उस कला के अर्थ और परिभाषा का क्या कहना।

न्यूयार्क के मस्तिष्क विशेषज्ञ डॉ फ़ॉस्टर केनेडी (2000) ने प्रमाणित किया है कि तीव्र तीक्ष्ण आवाज़ का मन मस्तिष्क पर बहुत ही भयंकर प्रभाव पड़ता है सिर्फ शोर ही नहीं यदि संगीत को भी बहुत तेज आवाज़ से सुना जाये जैसे कि आजकल ओर्केस्ट्रा आदि में डेक वगैरह के द्वारा आवाज़ को कई गुना बढ़ा कर सुना जाता है तो इस प्रकार के संगीत का भी मनुष्य शरीर पर लाभकारी प्रभाव पड़ने की अपेक्षा हानिकारक प्रभाव पड़ता है, ऐसे परिणाम प्रयोगों के दौरान प्राप्त हुए हैं। संगीत से मनुष्य के शरीर में उत्तेजना पैदा होती है जो कि कई बार विकृति भी पैदा कर देती है, इसका एक उदाहरण यूं घटित हुआ कि - पेरिस का ओलंपिया म्यूजिक हॉल श्रोताओं से खचाखच भरा था, संगीत का कार्यक्रम आरम्भ हुआ, मधुर स्वर लहरी के मादक प्रभाव से श्रोतागण झूमने लगे, अचानक एक विलक्षण घटना घटी, संगीत की धुन बदली म्यूजिक कार्यक्रम में उस धुन को बजाये जाने का यह पहला अवसर था, शांतचित दर्शक जो संगीत प्रोग्राम को सुनने में तल्लीन थे उस परिवर्तित धुन को सुनकर बेचैनी का अनुभव करने लगे उनकी उत्तेजना बढ़ती ही गयी और अनियंत्रण की स्थिति में जा पहुँची, पागलों की तरह श्रोता अपनी-अपनी कुर्सियों को छोड़कर एक दूसरे से संघर्ष पर उतारू हो गए, हॉल की कुर्सियों को उन लोगों ने तोड़ फोड़ डाला और खिड़कियों में लगे शीशे को चकनाचूर कर दिया, जाँच पड़ताल के दौरान संगीत की धुन की परीक्षा की गयी तो मालूम हुआ कि सारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार वह उत्तेजक धुन थी जो पहली बार प्रयोग के तौर पर बजाई गयी थी, "रॉक एंड पॉप" के सम्मिलित स्वरुप से बनी उस संगीत धुन को बजाने पर शासन द्वारा पाबंदी लगा दी गयी थी।

अमेरिका के प्रख्यात मनोचिकित्सक डॉ जॉर्ज स्टीवेंसन (2003) एवं डॉ नोर्मन विन्सेन्ट पोल ने संगीत को स्नायविक (Neurological) मानसिक तनाव के निराकरण का अचूक औषधि कहा है, संगीत के अभ्यास और श्रवण दोनों से मन को विश्रांति ही नहीं आनंद भी प्राप्त होता है, मानसिक विकारों एवं रोगों पर संगीत के चिकित्सकीय एवं स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव को स्वीकारते हुए डॉ एस श्रीनिवासन (2006) ने अपने शोध पत्र में लिखा है- चिंता, उदासी, सिजोफ्रेनिया, मानसिक अविकसित (Mentally Undeveloped), विभिन्न प्रकार की

मानसिक अनियमितता, अतिभ्रम, दवाओं का अनुचित व्यवहार तथा समानता के लिए संगीत के साथ पूरक चिकित्सा पद्धति ही उत्तरदायी है। इसके साथ साथ संगीतज्ञ पुरुषोत्तम शर्मा (2010) के मुताबिक़ हर राग में रोग निरोधक क्षमता है, जो मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है, राग पूरियाधनाश्री अनिद्रा को दूर करता है, राग माल्कौंस तनाव से आराम देता है, राग शिवरंजिनी मन को सुखद अनुभूति देता है, राग मोहिनी आत्मविश्वास को बढाता है, राग दरबारी कान्हड़ा तनाव को दूर करता है, राग तोड़ी सिर दर्द और क्रोध से आराम दिलाता है।

वर्ष 1940-41 के समय में तानाशाह मुसोलिनी के शासन काल में इटली में रहने वाले भारतीयों ने एक बार महान संगीतकार पंडित ओमकारनाथ ठाकुर को इटली में आमंत्रित किया था, तो वहाँ के तानाशाह मुसोलिनी ने पंडित जी के सम्मान में सहभोज (डिनर) का आयोजन किया, और उन्हें भोजन पर आमंत्रित किया, भोजन के ही दौरान मुसोलिनी ने डिनर टेबल पर ही हिंदू धर्म का मजाक बनाते हुए उनसे कहा- "मैंने सुना है कि आपके देवता श्री कृष्ण जब बांसुरी बजाते थे तो तमाम गायें उनके पास दौड़कर चली जाती थी, यह कैसे सच हो सकता है? आपके हिंदू धर्म में कितना गप्प लिखा गया है?" चूंकि मुसोलिनी बहुत ही क्रूर तानाशाह था, इस वजह से उसकी ऐसी बात को सुनकर वहाँ दो मिनट के लिए सन्नाटा छा गया, थोड़ी देर बाद पंडित जी ने बेहद शान्ति के साथ मुसोलिनी से कहा, यहाँ न बांसुरी है न गायें हैं लेकिन मैं आपको अपने संगीत की थोड़ी झलक दिखाता हूँ , मुसोलिनी अनिद्रा बीमारी से पीड़ित था, पंडित जी ने डिनर टेबल पर ही तमाम कप और गिलास में पानी भरकर एक जल तरंग जैसा उपकरण बनाया और उसपे राग पूरिया बजाना शुरू किया, वातावरण में संगीत की ऐसी मीठी धुन फ़ैल गयी जिसके प्रभाव से मुसोलिनी गहरी निद्रा में चला गया और गहरी नींद में जाने की वजह से वह डायनिंग टेबल पर ही इतना जोर से गिरा कि उसका सिर टेबल से टकरा गया लगभग 10 मिनट तक वह गहरी नींद में सोता रह गया था, वहाँ पर उपस्थित सभी लोग राग के प्रभाव से मदहोशी की अवस्था में चले गए थे। फिर जैसे ही राग पूरिया बजना बंद हुआ मुसोलिनी की निद्रा खुली और वह पंडित जी से माफ़ी मांगने लगा और उसने पंडित जी से आग्रह किया की वह वहीं रोम में ही बस जाएँ और उसने पंडित जी को बड़ा पद देने की भी बात कही, परन्तु पंडित जी ने यह सब ठुकरा दिया और वापस भारत आ गए।

8 फरवरी 2020 के एक शोध में बताया गया है कि संगीत से रक्तचाप, दिल की बीमारियों में राहत, थकान, और तनाव में राहत के साथ-साथ एकाग्रता भी बढ़ती है। विशेषज्ञों का मानना है कि सुबह उठकर भजन और कर्णप्रिय संगीत सुनने से दिनचर्या की शुरुआत अच्छी होती है मन में प्रसन्नता आती है और अवसाद से राहत मिलती है, 6 जुलाई 2018 प्रज्ञा वाजपेयी द्वारा किये गए शोध के अनुसार दिमाग को चुस्त रखने के लिए निश्चित समय पर विश्राम के साथ साथ मनोरंजन भी मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण होता है, इसके अलावे 21 फरवरी 2021 एक शोध में बताया गया कि ''शास्त्रीय संगीत आरामदायक है जबकि रॉक संगीत उर्जावान है'' द इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ कोर्डियोलोजी में प्रकाशित संगीत थेरेपी और रक्तचाप पर शोध से पता चला है की संगीत चिकित्सा सिस्टोलिक रक्तचाप को कम कर सकती है जो स्ट्रोक के जोखिम को कम करता है।

मानसिक स्वास्थ्य पर संगीत के प्रभाव के क्षेत्र में डॉ जोहोंस (पूर्व जर्मनी), डॉ उर्चिसन (अमेरिका), एवं डॉ दीपक चोपड़ा (भारत), का नाम विशेष रूप से जाना जाता है, महर्षि आयुर्वेदिक अस्पताल, लंकास्टर (अमेरिका) के निदेशक डॉ दीपक चोपड़ा ने संगीत के माध्यम से चिकित्सा में सफलता पायी है, भारत में नोयडा (गौतमबुद्ध नगर) के महर्षि आरोग्यधाम, महाराष्ट्र में इंस्टिट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ और मध्यप्रदेश के ग्वालियर का मानसिक चिकित्सालय संगीत चिकित्सा के प्रयोग में लगे हुए हैं।

प्रस्तुत शीर्षक 'संगीत एवं मानसिक स्वास्थ्य' पर शोध कार्य करने के उद्देश्य एवं परिकल्पना- (OBJECTIVE AND HYPOTHESES OF THE STUDY)

उपरोक्त साहित्य सर्वेक्षण में विभिन्न पूर्व शोध परिणामों के बीच पाई गयी असंगति के आधार पर

प्रस्तुत शोध निम्नलिखित उद्देश्यों के साथ परिकल्पित किया गया-

1. संगीतज्ञ एवं गैर संगीतज्ञ के भाव विनियमन (Emotion regulation) का अध्ययन करना।
2. संगीतज्ञ एवं गैर संगीतज्ञ के सामान्य स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों का अध्ययन करना।
3. सामान्य स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों पर लैंगिक भिन्नता का अध्ययन करना।
4. भाव विनियमन (Emotion regulation) पर संगीतज्ञ एवं गैर संगीतज्ञ के लैंगिक भिन्नता का अध्ययन करना।

परिकल्पना (Hypotheses)-

1. संगीतज्ञ समूह के द्वारा भाव विनियमन (Emotion regulation) में संज्ञानात्मक पुनर्मूल्यांकन (Cognitive reappraisal) गैर संगीतज्ञ समूह के तुलना में अधिक प्रभावी होगा।
2. गैर संगीतज्ञ समूह के द्वारा भाव विनियमन (Emotion regulation) में संज्ञानात्मक अभिव्यक्ति दमन (Emotional expression suppression) संगीतज्ञ समूह के तुलना में अधिक प्रभावी होगा।
3. गैर संगीतज्ञ समूह की तुलना में संगीतज्ञ समूह का सामान्य स्वास्थ्य (General health) अधिक उत्तम पाया जायेगा।
4. महिला संगीतज्ञ की तुलना में पुरुष संगीतज्ञ के द्वारा भाव विनियमन में संज्ञानात्मक पुनर्मूल्यांकन प्रविधि (Cognitive reappraisal) का उपयोग अधिक किया जायेगा।

संदर्भ सूची :-

1. उपाध्याय देवराज। साहित्यिक शोध के सिद्धांत और समस्याएं (आगरा सरस्वती पुस्तक सदन,1967)
2. गर्ग लक्ष्मीनारायण। संगीत निबंध, उ. प्र. कार्यालय, हाथरस,1967
3. प्रो. श्रीवास्तव हरिश्चंद्र। राग परिचय भाग-2, संगीत सदन प्रकाशन, 88 साऊथ मलाका, इलाहाबाद (प्रयागराज),2015
4. बसंत। संगीत विशारद, उ. प्र. संगीत कार्यालय, हाथरस,2015
5. HORWITZ AND SCHID : APPROACHES TO MENTAL HEALTH AND ILLNESS, A HANDBOOK FOR THE STUDY OF MENTAL HEALTH, 1999, P.2
6. KARL MENNINGER : THE HUMAN MIND, 1945, P.102
7. STRANG : ABNORMAL PSYCHOLOGY, 1965, P.440

मुगलशासन काल में ध्रुवपद शैली की लोकप्रियता

रेखा कुमारी[1] एवं डॉ. किरण सिंह[2]

शोध-सार

मध्यकाल में ध्रुवपद गायन शैली के जिस स्वरूप का प्रचार तथा विकास राजदरबारों में हुआ वह संगीतज्ञों द्वारा कृत कुछ वर्षों के प्रयासों का फल न होकर भरतोक्त ध्रुवा-गीति तथा पं. शारंगदेव द्वारा वर्णित सालसमूह प्रबन्धों का ही भिन्न रूप थी। इस प्रकार शारंगदेव द्वारा 'सालगसूड़' प्रबन्धों से ही ध्रुवपद, धमार इत्यादि प्रबन्धों का जन्म हुआ और समाज में फैला।

शब्दकुंजी : *ध्रुवपद, स्थायी, अंतरा, संचारी तथा आभोग इत्यादि*

भूमिका :

मानसिंह तोमर की शैली (परम्परा) से प्रभावित संगीतज्ञों में बैजू, बख्शु, मंझू, लोहंग, बैजू शिष्य गोपाल तथा नायक पांडवी के नाम से उल्लेखनीय है। जिनकी सहायता से मानसिंह तोमर ने अनेक ध्रुपदों की रचना की तथा जिनकी शिक्षा राजा द्वारा ही अपने दरबारी गायकों (बैजू तथा बख्शू) को दी गई जिन्होंने मानसिंह द्वारा रचित तथा गेय रचनाओं को जीवन दान दिया। मानसिंह तोमर की मृत्यु के पश्चात् बख्शू विक्रमाजीत की राजसभा में रहा, लेकिन विक्रमाजीत की पराजय के पश्चात् वह कालिंजर के राजा कीर्ति सिंह के पास चला गया यहाँ से उसे गुजराज के सुल्तान बहादुरशाह (सन् 1526-1536 ई.) ने बुला लिया तोमरों का इतिहास पुस्तक में अंकित है।[1]

मानसिंह तोमर की मृत्यु के पश्चात् बख्शू और मझू ने गुजरात के प्रसिद्ध सुल्तान महमूद के यहाँ आश्रय लिया ऐसा अब्दुल फजुल का कथन है।[2]

मानसिंह तोमर की ही ध्रुवपद शैली के परंपरागत सिद्धांतों का निर्वाह बख्शू पुत्र 'हुसैन' ने गुजरात ने सुल्तान महमूद द्वितीय के मंत्री दरिया खां के आश्रय में रहकर किया तथा दूसरी ओर ग्वालियर संगीत परम्परा के गायक तानसेन जिसकी शिक्षा-दीक्षा राजा मानसिंह के दरबारी गायकों द्वारा सम्पन्न हुई। राजा रामबधेला के आश्रय में रहकर आगे बढ़ा रहे थे। तानसेन द्वारा राजा रामबधेला के राज दरबार में ध्रुवपद गायकी कलात्मक सौंदर्य की चरम सीमा पर पहुँची। 1522 ई. में तानसेन की संगीत मर्मज्ञता के चर्चे सुनकर अकबर बादशाह ने इन्हें राजा रामबधेला से मांगकर अकबरी दरबार के नवरत्नों में शामिल कर लिया। इस प्रकार अकबर के आश्रय में रहकर तानसेन ने अनेक ध्रुवपद रचे व गाए। अकबर दरबार में जिस शैली का विशेष प्रचार व प्रसार हुआ वह अन्य कोई न होकर मानसिंह द्वारा प्रवर्तित ध्रुवपद शैली के ही पद थे। इसी मत का उल्लेख अब्दुल फजुल ने भी किया है।

ऐसी भी किंवदन्ती है कि तानसेन ने स्वरचित अनेक ध्रुवपदों में रचयिता के स्थान पर अकबर का नाम डाल दिया। अकबर काल में ही ध्रुवपद शैली का प्रचार राजस्थान से बीजापुर तक बढ़ा। मानसिंह की इस परम्परा को बीजापुर तक पहुँचाने का श्रेय

1 शोधार्थी : स्नातकोत्तर संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर
2 प्रोफेसर : स्नातकोत्तर संगीत विभाग, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

बख्तर खाँ को हैं।

अकबरी दरबार के प्रमुख कलाकारों में तानसेन, रामदास, सुबहान खां, सुरज्ञान खां, मियाँ चाँद, विचित्र खां, बीरमण्डल खां, सरोद खां, मियाँ लाल, चाँद खां, और वीणा वादक शहाब खां ग्वालियर के निवासी और मानसिंह परम्परा अथवा वैजू परम्परा के अनुवर्ती थे।[3]

तोमर दरबार : विकास स्थल

प्राचीन सालगसूड़ प्रबन्धों का संशोधित रूप ही कालान्तर में ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर की प्रतिभा और विशेष लगन से 'ध्रुवपद' शैली में परिवर्तित हुआ। राजा मानसिंह का जन्मकाल 1455 ई. के आसपास अनुमानित है। भारतीय संगीत के इतिहास में मानसिंह तोमर महान संगीतज्ञ व ध्रुवपद गायन शैली के प्रवर्तक के नाम से विख्यात हैं। गुणीजनों के मतानुसार मानसिंह तोमर इस शैली के निर्माता थे। उन्होंने इस शैली के विशेष प्रचार व प्रसार में संगीत उद्धारक की भूमिका निभाई। आचार्य वृहस्पति ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि 'ध्रुवपद के जिस ढांचे में मानसिंह तोमर ने मध्यदेशीय भाषा को प्रतिष्ठित किया, वह ढांचा उसका अविष्कार न होकर कल्लिनाथ द्वारा वर्णित 'ध्रुव' की कामचार प्रधान स्थिति का परिणाम था, जिसका मूल संगीत रत्नाकर में वर्णित ध्रुव नामक सालगसूड़ प्रबन्ध के 16 भेदों से हैं।[4]

'मानसिंह और मानकुतूहल' में हरिहर द्विवेदी जी ने लिखा 'मानसिंह तोमर स्वयं संगीतज्ञ थे, ध्रुव प्रबन्ध व अन्यान्य प्रबन्धों का पूर्ण ज्ञान उन्हें था। 'मानकुतूहल' के फारसी भाषा के अनुवादक फकीरूल्ला लिखते हैं मार्गी संगीत भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक ध्रुवपद का जन्म नहीं हुआ था। राजा मानसिंह ने इसे सर्वप्रथम गाया था। इसमें चार पंक्तियाँ होती है और सारे रसों में इसे बांधा जाता है। नायक बैजू, नायक बख्शू और सिंह जैसा नाद करने वाले महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि इसके सामने पुराने गीत भी फीके पड़ गए।

इन सभी संगीतज्ञों की सहायता से ध्रुवपद के क्षेत्र में विशेष कार्य किए, जिनमें सर्वप्रथम उन्होंने संस्कृत के स्थान पर लोकभाषा को राजसभा में आश्रय देकर लोकभाषा में ही गीत रचना का प्रचार करवाया। द्वितीय स्तुति प्रधान गीतों को शास्त्रीय संगीत में स्थान दिया। इससे इन गीतों का मांगलिक अवसरों पर गान प्रचार में आया और सबसे महत्वपूर्ण कार्य संगीत को लोकजीवन के समीप लाने के लिए नायक-नायिका जैसे विषय को गीत में स्थान दिया।

राजा मानसिंह की इन्हीं प्रधान विचारधाराओं का दर्शन उसकी महान कृति 'मानकुतूहल' मे 'दृष्टिगोचर होती है। मानसिंह द्वारा रचित इस ग्रंथ की प्रति तो उपलब्ध नहीं होती, लेकिन औरंगजेब के काल में इस ग्रंथ का अनुवाद फारसी भाषा में 'फकीरूल्ला' द्वारा रागदर्पण में मिलता है। इसमें वर्णित ध्रुवपद के लक्षण इस प्रकार हैं। इसमें चार पंक्तियाँ होती हैं। इसकी भाषा देशी होती है। समस्त रसों में बांधा जाता है। स्वदेश से हमारा तात्पर्य ग्वालियर है, जो आगरा के राज्य का केन्द्र है, जिसके उत्तर में मथुरा, पूर्व में उन्नाव तक, दक्षिण में ऊँज तक तथा पश्चिम में बारा तक का क्षेत्र हैं। हिन्दुस्तान में इस भाग की भाषा सबसे अच्छी है। यह खण्ड भारत में वैसा ही है। जैसा ईरान में शीरज़ है।

संभवतः मानसिंह द्वारा रचित इस ग्रंथ की रचना ग्वालियर भाषा में हुई। इसीलिए रागदर्पणकार ने भी मानसिंह को ध्रुवपद का अविष्कारक कहा है। इसके अतिरिक्त आईने अकबरी में ध्रुवपद के जिन लक्षणों पर प्रकाश डाला है वे इस प्रकार है। 'ध्रुवपद' तीन या चार लयबद्ध पंक्तियों से निर्मित पद है। इन पंक्तियों की लम्बाई कुछ भी हो सकती है। गायन का प्रचार आगरा, ग्वालियर, वैरी तथा आस-पास के प्रदेशों में है।

मानसिंह तोमर द्वारा प्रस्तुत कराए ग्रंथों के अस्तित्व का 'आईने-अकबरी' के अतिरिक्त एक अन्य प्रमाण मीर अब्दुल वाहिद बिलग्रामी की रचना 'हकायके-हिन्दी' का उल्लेख भी मिलता है। जिसके तीन अध्यायों में अब्दुलवाहिद के अनुसार 'प्रथम अध्याय' में उन वाक्यों का अर्थ संकेत है, जिनका प्रयोग ध्रुपदों में होता है। दूसरे अध्याय में उन वाक्यों की व्याख्या है, जो विष्णुपदों में आते हैं, तथा तृतीय अध्याय में इनके अतिरिक्त (धमार, होरी)

गानों के वाक्यों की व्याख्या है।

इन ग्रंथों के आधार पर कहा जा सकता है कि मानसिंह के राज्यकाल में जिन गायन शैलियों का प्रचार हुआ वे ध्रुपद, विष्णुपद तथा धमार व होरी ही थीं। ध्रुपद गायकों के लिए विष्णुपद भक्त गायकों के लिए तथा धमार, होरी सर्वसाधारण के लिए थे।

संक्षेप में ध्रुपद की जिन विशिष्टाओं का उल्लेख इस ग्रंथ में है। वे निम्नलिखित हैं :-

(क) दो से चार धातु का व्यवहार
(ख) साहित्यिक ग्वालियर भाषा का प्रयोग
(ग) समकालीन देशी राग-रागिनियों का व्यवहार
(घ) कतिपय प्राचीन देशी तालों और नवीन नियमों में परिवर्तित एक, दो देशी तालों का प्रयोग
(ङ) रचना में स्तुति की अपेक्षा नायक की प्रशंसा धर्म की अपेक्षा प्रेम-विषयक वर्णन का प्रधान एवं राग चरित्र के अनुसार तथा भाषानुरूप भंगिमा का व्यवहार।

ध्रुवपदकारों के आश्रयदाता के रूप में विख्यात मानसिंह तोमर के काल में विष्णुपदों के विकास का क्रम साथ ही साथ बढ़ता रहा, जिनके प्रचारक स्वामी हरिदास तथा बल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों के नाम से विश्व विख्यात है। इस प्रकार मानसिंह के काल में धार्मिक विभूतियों (कृष्ण तथा विष्णु भगवान) की प्रशंसा में रचित पदों को विष्णुपद और प्रेमावस्था के चित्रण से युक्त रचनाओं को ध्रुपद कहकर पुकारा। एक तरफ से सूरदास, परमानंद दास, नंददास इत्यादि कवि संगीतज्ञों द्वारा रचित 'ध्रुवपद' रचनाओं को देखने से तथा दूसरी तरफ राजदरबारी में संगीतकारों द्वारा राजा की प्रशंसा एवं नायक-नायिका के प्रणय सम्बन्धी शृंगार रस परिपूर्ण ध्रुवपदों की रचना से इस विषय की विविधता स्पष्ट हो जाती है।

तानसेन की दृष्टि में 'ध्रुवपद'

स्वतंत्र रूप से भले ही तानसेन ने ध्रुवपद सम्बन्धी विचार प्रकट न किए हों, परन्तु उनकी पुस्तक रागमाला मे वर्णित ध्रुवपद रचनाओं में अवश्य उनकी ध्रुपद सम्बन्धी धारणा का ज्ञान होता है। ध्रुवपद की चार तुके होनी चाहिए। उसे शुद्ध अक्षरों से युक्त अच्छे गुरूओं के शिष्यों द्वारा विरचित यथावसर नवरसों में किसी भी रस से सम्पन्न प्रकृति की दृष्टि से राग एवं रस से सम्बद्ध सामजंस्यपूर्ण होना चाहिए।[5]

वेद पंडित कृत ध्रुवपद के लक्षण

शिवा जी के पिता का दूसरा नाम मकरन्द था इन्हीं के नाम पर उनके आश्रित वेद पंडित द्वारा संगीत मकरन्दं की रचना की।

'संगीत मकरन्द' में ध्रुवपद की परिभाषा इस प्रकार है 'ध्रुवपद' में उदग्राह ध्रुवक, आभोग ये तीन धातु है, जो प्रायः मध्यदेशीय भाषा में निबद्ध होते हैं। कुछ लोग ध्रुवपद को उदग्राह रचित तथा कुछ लोग इसके 'ध्रुव' नामक भाग को ही 'ध्रुवपद' कहते हैं यह भेद अन्वर्थ ध्रुव नामक धातु में निबद्ध पद हो जाता है।[6]

भाव भट्ट कृत ध्रुवपद के लक्षण

18वीं शताब्दी के भावभट्ट द्वारा अपने ग्रंथ अनुप संगीत रत्नाकर में ध्रुवपद की परिभाषा इस प्रकार दी 'ध्रुवपद' की भाषा संस्कृत या मध्यदेशीय हो सकती है। इसमें दो या चार वाक्य होते है। जिनमें नर-नारी की कथा होती है। शृंगार रस, भाव इत्यादि होते हैं। यह राग, लय और पद से युक्त होता है। इसका प्रत्येक पाद पादान्त, अनुप्रास या पादान्तयमक से युक्त होता है। इस प्रकार के चार पादाकें का अस्तित्व जहाँ हो और जिसमें उदग्राह, ध्रुवक और आभोग नामक तीन धातु हो वह ध्रुवपद कहलाता है।[7]

साहबजादा मुहम्मद अशफाक अली खां

ये नवाब हैदरअली खां के छोटे पुत्र अर्थात् धम्भव साहब के छोटे भाई का कथन है कि 'ध्रुवपद' कवित का तत्व है। यह प्रायः देशी भाषा में होता है। इसके चार भाग होते हैं अस्थाई, अंतरा, संचारी आभोग है।[8]

भातखंडे द्वारा वर्णित ध्रुवपद सम्बन्धी विचार

आधुनिक कालीन ग्रंथकारों में भातखंडे जी ने ध्रुवपद सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए लिखा कि प्रचार में अधिकतर ध्रुवपद हिंदी, ब्रज भाषा या उर्दू में ही होते हैं। ख्याल की अपेक्षा ध्रुवपद अधिक विस्तृत

होता है। स्थायी, अंतरा, संचारी, तथा आभोग इस प्रकार उसके चार भाग होते हैं। ध्रुवपद गायन को हिन्दुस्तान का मर्दाना और जोरदार गायन कहते हैं। इसमें वीर, शृंगार व शांतरस प्रधान हैं। भाषा उच्च श्रेणी की होती है। चौताल, सूलताल, झंपा, तीव्रा, ब्रह्म, रूद्र, इत्यादि तालों में ध्रुवपद गाए जाते हैं। इसमें तानों का प्रयोग नहीं होता प्रचार में आजकल इसमें दुगुन, तिगुन, चौगुन, बोलतान, गमकों इत्यादि का प्रयोग हो सकता हैं। इसके अतिरिक्त 'ध्रुवपद' गायकों को कलावंत की संज्ञा दी जाती है।[9]

स्पष्टतः जहाँगीर के दरबार में तानसेन के छोटे पुत्र बिलास खां शाहजहाँ के दरबार में बिलास खां के दामाद लाल खाँ व उनके सुपुत्र खुशहाल खां और औरंगजेब के समय में खुशहाल खां, बिसराम खां, सुखी सेन इत्यादि (कलावंत) ध्रुवपदकारों के रचित ध्रुवपद मुगलशासन काल में ध्रुवपद शैली की लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

संदर्भ-सूची :

1. एलायां प्रथमं तावत् पादत्रयं गेयम्। कल्लिनाथ की टीका, सं. र. प्रव. पृ.3
2. तोमरों का इतिहास, द्विवेदी, हरिहर निवास, पृ. 149
3. आईने अकबरी अबुल फजल पृ. 265-266
4. मुसलमान और भारतीयसंगीत आचार्य बृहस्पति पृ. 73
5. संगीत चिंतामणि, भाग 1 आचार्य बृहस्पति पृ. 57
6. भरत कोष श्री राम राम कृष्ण कवि, पृ. 693
7. वही, पृ. 699
8. ध्रुपद धमार अंक, संगीत जनवरी फरवरी, 1964 पृ. 8
9. क्रमिक पुस्तक मालिका (भाग 4) भातखंडे, पृ. 46

नवाब वाजिद अली शाह का कलकत्ता प्रवास तथा अवध के संगीत पर प्रभाव

डॉ. निष्ठा शर्मा

सारांश

अवध के नवाब वाजिद अली शाह का व्यक्तित्व भारतीय इतिहास की सर्वाधिक उलझी हुई गुत्थी है। उनके पक्ष और विपक्ष में अनेक मान्यताएं हैं किन्तु अपनी जनता के मध्य उनकी लोकप्रियता तथा संगीत के क्षेत्र में उनका योगदान निर्विवादित है। वे स्वयं एक उच्चकोटि के कलाकार एवं शास्त्रकार थे तथा संगीत के मुक्तहस्त संरक्षक के रूप में अतुलनीय हैं। उनके शासनकाल में अवध संगीत का सर्वप्रमुख केन्द्र था तथा निःसंदेह संगीत का यह वैभवशाली कालखण्ड हिन्दुस्तानी संगीत का द्वितीय स्वर्णयुग कहा जा सकता है। प्रस्तुत शोधलेख का उद्देश्य नवाब वाजिद अली शाह के सन् 1956 ई. में सत्तावसान से अवध के संगीत में उत्पन्न परिस्थितियों तथा प्रभाव का आंकलन करना है।

वाजिद अली शाह सदृश संगीत प्रेमी शासक के सत्तावसान का अवध के संगीत पर नकारात्मक प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था। ऐसे उदार संरक्षक के अभाव तथा दमनकारी औपनिवेशिक शासन की विपरीत परिस्थितियों में अवध से संगीतज्ञों के विस्थापन का निरन्तर क्रम प्रारम्भ हो गया, वहीं इसके विपरीत लोकगीतों में वाजिद अली शाह की लोकप्रियता तथा औपनिवेशिक सत्ता के प्रति जन असंतोष की भावनायें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं।

मुख्य शब्दः-*औपनिवेशिक, परिदृश्य, डाकगाड़ी, गदरोत्तर, विस्थापन, विरूदावलियों*

परिचय

वाजिद अली शाह का शासनकाल अवध में नवाबी शासन का अंतिम पृष्ठ था। दिनांक 07 फरवरी 1856 ई. को अंग्रेजों ने वाजिद अली शाह को सत्ताच्युत कर अवध को अंग्रेजी राज्य में विलय कर लिया। काल की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार वाजिद अली शाह को अपने युग के अन्य अनेक शासकों की भांति सत्तावसान के पश्चात् विस्मृत हो इतिहास के किसी उपेक्षित पन्ने में अंकित हो जाना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ और वे इतिहासकारों तथा औपनिर्वेशिक सत्ता के गलियारों में निरन्तर चर्चा का विषय बन रहे तथा लोकमानस में इनकी स्मृति आज भी अक्षुण्ण है। तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य में अवध जैसी अंतिम प्रभावशाली देशी राजसत्ता के पतन का ऐतिहासिक महत्व है। इतिहास में दर्ज होने वाली कोई भी महत्वपूर्ण घटना निरापद नहीं होती है। जब कोई घटना तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक सत्ता समीकरणों को परिवर्तित कर अस्वाभाविक बाह्य बल के द्वारा वैकल्पिक समीकरणों को स्थापित करने का प्रयत्न करेगी तो प्रतिक्रिया से मुक्त न रह सकेगी। इस घटना के मात्र एक वर्ष के अन्तराल में सन् 1857 में भारतीयों का असंतोष आग बनकर दहक उठा था। ऐतिहासिक घटनाओं की भूत एवं भविष्य की

असिसटेन्ट प्रोफेसर संगीत गायन महात्मा गांधी बालिका विद्यालय (पी.जी.) कालेज फिरोजाबाद, मो.नं. 9336188255, ई-मेल nishthasharma.swara@gmail.com

घटनाओं से सम्बद्धता पायी जाती है तथा ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। अवध के बलात् अपहरण तथा प्रथम स्वाधीनता संग्राम की छाया ने भी लम्बे समय तक भविष्य को प्रभावित किया और इनके दूरगामी परिणाम हुए। निश्चित रूप से संगीत भी इन प्रभावों से अछूता नहीं रहा।

अवध के शास्त्रीय संगीत पर प्रभाव-

अपने राज्य के अपहरण से असहमत वाजिद अली शाह ने अंग्रेजों द्वारा अवध के विलय हेतु प्रस्तुत सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया तथा अपना पक्ष रखने हेतु कलकत्ता होते हुए लन्दन जाने का निर्णय लिया और उन्होनें दिनांक 13 मार्च, 1856 ई. शनिवार रात्रि 8-9 बजे लखनऊ से कलकत्ता के लिए प्रस्थान कर दिया। (1) कहा जाता है कि वाजिद अली शाह के साथ असंख्य व्यक्ति कलकत्ता गये थे, उनमें अनेक संगीत कलाकार भी थे। पीटर मैनुएल ने वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ता जाने वाले सादिक अली खाँ सहित अवध दरबार से सम्बद्ध 108 संगीतज्ञों का उल्लेख किया है। (2) एक दूसरा मत किंवदंती की भांति प्रचलित रहा है। इस मत के अनुसार वाजिद अली शाह के साथ 361 स्त्री व पुरूष संगीत कलाकार कलकत्ता चले गये थे तथा उनके द्वारा इन कलाकारों को भुगतान की जाने वाली मासिक वेतन की राशि कुछ लेखकों के अनुसार 1,15,590 रूपये तथा कुछ लेखकों के अनुसार 11,859 रूपये थी। (3) स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में नवीन चेतना का संचार हुआ। वर्तमान इतिहासकारों ने अनेक औपनिवेशकालीन इतिहासकारों के अनेक विवरणों को नवीन खोजों अथवा तर्कपूर्ण विवेचन के आधार पर मिथ्या सिद्ध किया है।

पीटर मैनुअल के विवरण में सादिक अली खाँ के अतिरिक्त वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ता जाने वाले अवध दरबार से सम्बद्ध अन्य किसी संगीतज्ञ का नामोल्लेख नहीं है तथा उनके विवरण में 108 कलाकारों की संख्या का आधार क्या है, इंगित नहीं किया गया है। यही नहीं, यदि हम वंश परम्परा से प्राप्त सूचनाओं को विश्वस्त माने तो सादिक अली खाँ के प्रपौत्र श्री मोमिन खाँ के अनुसार सादिक अली खाँ सन् 1856 में वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ता नहीं गये थे अपितु वे सन् 1870 ई. में कलकत्ता जाकर पुनः वाजिद अली शाह से सम्पृक्त हुए थे। (4)

इस प्रसंग से सम्बन्धित दूसरे मत की 361 कलाकारों की संख्या वस्तुतः वाजिद अली शाह की पुस्तक बनी में वर्णित 23 जलसों के कुल सदस्यों की संख्या है जिनमें कुल 216 स्त्रियां जिनका मासिक वेतन 8598 रूपये तथा 154 पुरूष प्रशिक्षक, जिनका मासिक वेतन 3261 रूपये अर्थात् कुल मासिक वेतन 11859 रूपये था। (5) इस 361 की संख्या में भी सभी स्त्री व पुरूष संगीत कलाकार नहीं थे। वाजिद अली शाह द्वारा इन जलसों का निर्माण कलकत्ता प्रवासकाल में किया गया था तथा सन् 1856 ई. में वाजिद अली शाह के कलकत्ता गमन के प्रसंग से इन जलसों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

दिनांक 13 मार्च, 1856 ई. को जब वाजिद अली शाह ने कलकत्ता प्रयाण किया था, उनका उद्देश्य लन्दन जाकर अपना पक्ष रखकर न्याय प्राप्त करना था तथा उस समय स्वयं वाजिद अली शाह सहित किसी को यह कतई अनुमान नहीं था कि परिस्थितियां ऐसा मोड़ ले लेंगी कि उनका वापस लखनऊ आ सकना असम्भव हो जायेगा और उन्हें अपना शेष जीवन कलकत्ता में ही व्यतीत करना पड़ेगा। यद्यपि उस काल में शासकों की यात्राओं में अनेक संगीत कलाकारों, नर्तकियों सहित हजारों व्यक्तियों का सम्मिलित होना सामान्य चलन था किन्तु राजसत्ता के अपहरण तथा कलकत्ता प्रयाण के निमित्त अंग्रेजों की अनिच्छा तथा असहयोग के कारण वाजिद अली शाह के साथ सीमित संख्या में ही लोगों का जाना सम्भव था।

कम्पनी सरकार द्वारा कलकत्ता यात्रा में 500 व्यक्तियों से अधिक संख्या निषिद्ध कर दी गयी थी। अंग्रेज अधिकारी यह नहीं चाहते थे कि वाजिद अली शाह लन्दन जाकर अपना पक्ष रखें, अतः न केवल उनके लखनऊ से प्रस्थान में विलम्ब उत्पन्न किया गया अपितु मार्ग में भी उनके समक्ष अनेक व्यवधान खड़े किये गये थे। (6) पुनः इस सम्बन्ध में स्वयं वाजिद अली शाह द्वारा राजाज्ञा प्रसारित की जा चुकी थी। जिसके अनुसार यात्रा के समय लोगों

को अपना अनुगमन करने का निषेध कर दिया था। यद्यपि अनेक व्यक्तियों ने भावनावश उपरोक्त राजाज्ञा की उपेक्षा कर कानपुर तथा बनारस तक उनका अनुगमन किया। (7) किन्तु इस प्रकार स्वेच्छा से वाजिद अली शाह का अनुगमन करने वाले व्यक्तियों की यात्रा सीमा बनारस ही थी। दिनांक 25 अप्रैल 1856 को 'मैक्लायड' स्टीमर पर गंगा नदी के मार्ग से जब वाजिद अली शाह ने बनारस से कूच किया तब स्टीमर पर उनके साथ मात्र 110 व्यक्ति सवार थे तथा शेष कुछ लोग दूसरे दिन मलिका किश्वर तथा नवाब खास महल के साथ डाकगाड़ी से कलकत्ता रवाना हुये थे। (8) कलकत्ता गमन करने वाली कुल व्यक्ति संख्या में से भी 110 व्यक्ति वाजिद अली शाह द्वारा नियुक्त उस प्रतिनिधि मण्डल का भाग थे जो दिनांक 19 जून, 1856 को कलकत्ता से वाजिद अली शाह का पक्ष रखने हेतु 'एस.एस. बंगाल' जहाज द्वारा लन्दन चले गये। (9) क्योंकि वाजिद अली शाह का यह कार्य अंग्रेजों की इच्छा के विरूद्ध था, अतः उनके लखनऊ से प्रस्थान के दूसरे ही दिन दिनांक 14 मार्च, 1856 की कार्यवाही में मुख्य सचिव द्वारा यह निर्देश दिया जा चुका था कि कलकत्ता में वाजिद अली शाह के साथ एक 'अनामंत्रित अतिथि' की भांति व्यवहार किया जाये तथा इसके साथ ही उनकी प्रत्येक गतिविधि पर कड़ी नजर रखी जा रही थी। (10)

यह सर्वज्ञात है कि सेनिया पुत्रवंश त्रयी में सबसे कनिष्ठ, वाजिद अली शाह के संगीत गुरू तथा सुप्रसिद्ध ध्रुवपद गायक बासत खाँ वाजिद अली शाह के साथ ही कलकत्ता चले गये थे तथा लगभग डेढ वर्ष वहां उनके साथ रहे। सुप्रसिद्ध सरोद वादक न्यामतुल्लाह खाँ जो बासत खां के शिष्य थे, भी उनके साथ कलकत्ता गये और ग्यारह वर्ष तक वहां वाजिद अली शाह के आश्रय में रहे। (11) बासत खाँ के साथ उनके पुत्रों अली मुहम्मद तथा मुहम्मद अली खाँ का कलकत्ता गमन स्वाभाविक था। जाफर खाँ के पौत्र व काजिम अली खाँ के पुत्र कासिम अली खाँ का कलकत्ता जाना असंदिग्ध है। युवावस्था में पिता काजिम खाँ की मृत्यु के पश्चात् कासिम अली खाँ बासत खाँ के शिष्यत्व में थे। (12) वास्तव में वाजिद अली शाह के साथ कलकत्ता जाने वाले संगीत कलाकारों की संख्या अथवा उनसे सम्बन्धित कोई निश्चित विवरण प्राप्त नहीं होता है। ऐतिहासक घटनाक्रम तथा अनेक विवरणों कें आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वाजिद अली शाह के साथ विशाल संख्या में कलाकारों का कलकत्ता गमन मिथ्या प्रचार पर आधारित निराधार धारणा है तथा यही कारण है कि उनके साथ कलकत्ता जानेवाले कलाकारों के अधिक नाम उभर कर नहीं आते हैं।

वाजिद अली शाह के कलकत्ता प्रयाण के पश्चात् अवध में अंग्रेजों के दमन के फलस्वरूप अनेक संगीत कलाकारों के कार्य की दशायें सामान्य न होने, आर्थिक स्थिति सुदृढ़ न होने अथवा अन्य कारणों से अपने गृह नगर अथवा आश्रय की खोज में अन्यत्र पलायन प्रारम्भ हो गया। संगीत के घरानेदार तबकों में चर्चा करने पर ऐसे अनेक नाम उभर कर आते हैं यथा- शादी खाँ, मुगल खाँ, रजब अली खाँ, महबूब खाँ, कुतुब अली खाँ (कुतुबद्दौला से भिन्न), बाबू रामसहाय प्रसिद्धू - मनोहर, बरकत अली, नवाब हशमत जंग इत्यादि यद्यपि इनमें से कई के सम्बन्ध में हमें कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। (13) आश्रय की खोज में अन्यत्र पलायन करने वाले संगीतज्ञों में प्रमुख थे - सुप्रसिद्ध पखावजिया कुदऊ सिंह जो कि वाजिद अली शाह के जाने के पश्चात् झांसी चले गये थे और वहां न केवल उन्हें आश्रय प्राप्त हुआ अपितु महारानी लक्ष्मीबाई ने उनका यथेष्ट आदर सम्मान भी किया। (14) प्रख्यात सितारवादक फर्रूखाबाद के नवाव हशमतगंज लखनऊ में ही निवास करते थे तथा वाजिद अली शाह के अभिन्न मित्र थे। वाजिद अली शाह के कलकत्ता गमन के पश्चात फर्रूखाबाद के ये नामधारी रईस भी अपनी पूर्व रियासत फर्रूखाबाद चले गये। (15) सुप्रसिद्ध प्रसिद्धू - मनोहर मिश्र द्वय जिन्हें प्यार खाँ का शिष्य कहा जाता है तथा दरबारी संगीतज्ञ थे तथा उनके छोटे भाई विश्वेश्वर मिश्र जो गुलाम रज़ा के शिष्य थे अपने गृह नगर बनारस चले गये थे। गदरोत्तर काल में ये तीनों ही नेपाल दरबार का अंग भी रहे। (16) सेनिया कन्यावंश के तोराब अली विदाई देने हेतु लखनऊ से वाजिद अली शाह के साथ ही गये थे और बनारस में रूक गये। बनारस तबला घराने के प्रवर्तक रामसहाय जी ध्रुपद, ख्याल,

टप्पा गाने में भी प्रवीण थे और उस युग के श्रेष्ठ नायक थे। राम सहाय जी के सम्बन्ध में तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए लखनऊ से सम्बन्धित संगीतज्ञों की घरानेदार सूचना अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है कि रामसहाय जी वाजिद अली शाह के कलकत्ता प्रयाण के कुछ समय पश्चात् ही बनारस चले गये थे। (17) साधारणतयाः यह माना जाता है कि प्रख्यात ख्यालिया तथा ठुमरी के प्रवर्तक, वाजिद अली शाह के गुरूओं में से एक सादिक अली खाँ वाजिद अली शाह के साथ ही कलकत्ता चले गये थे किन्तु उनके प्रपौत्र मोमिन खाँ के अनुसार उनके बरेली गमन का उल्लेख किया गया है।

वाजिद अली शाह के सत्तावसान तथा 1857 की क्रान्ति की घटनाओं के प्रभाव स्वरूप संगीत कलाकारों के विस्थापन में इतनी अधिक सम्बद्धता है कि विभिन्न संगीतज्ञों के विस्थापन का एक निश्चित क्रम प्रदान करना कठिन कार्य है। उदाहरणार्थ सेनिया कन्यावंश के ताज खाँ के सम्बन्ध में इरफान खाँ तथा मोमिन खाँ के विवरण में यद्यपि एक तथ्य सामान्य है कि ताज खाँ मूलतः बरेली निवासी थे। किन्तु विस्थापन काल के सम्बन्ध में भिन्नता है। इरफान खाँ के अनुसार ताज खाँ अवध के विलय के लगभग 11 वर्ष पश्चात् अर्थात् न्यामतुल्लाह खाँ के साथ नेपाल गये थे जबकि मोमिन खाँ 1857 की क्रान्ति के तुरन्त पश्चात् ताज खाँ के नेपाल गमन का विवरण देते हैं तथा यही मत अधिकांश लेखकों द्वारा गाह्य माना जाता है। (18)

अवध का लोक संगीत-

संगीत प्रेमी शासक वाजिद अली शाह के सत्तावसान तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों का अवध के संगीत पर प्रभाव की स्वाभाविक कल्पना कठिन कार्य नहीं है। वास्तव में अवध राज्य के पतन तथा वाजिद अली शाह के कलकत्ता गमन के पश्चात् अवध में सांगीतिक गतिविधियां अवरूद्ध हो गयी थी और संगीतज्ञों के विस्थापन का क्रम लम्बे समय तक चलता रहा सन् 1857 की क्रान्ति के उत्सर्जित प्रभावों ने इस स्थिति को जटिलतर बना दिया था।

शास्त्रमत के समकक्ष दूसरा मत लोकमत है। शास्त्रीय कलायें राष्ट्र की सभ्यता के स्तर की निर्धारक होती हैं किन्तु लोक आत्मा सदृश्य जन गण मन में विराजित होता है। शास्त्रीय कलाओं के कलाकार बहुधा आश्रयजीवी होने के कारण राष्ट्र व समाज के प्रति कर्तव्य से विमुख, मात्र विवाह प्रसंगों हेतु युद्धरत किन्तु राष्ट्ररक्षा में असमर्थ स्थानीय स्तर तक शासकों के मनोरंजन तथा महिमा को बाध्य होते हैं किन्तु इस समस्त छत्तीस गजी खड्गधारक वीरों की आडम्बरपूर्ण विरूदावलियों के मध्य 'जिहि की बिटिया क्वारी देखिन, छत्रिन खींच लिहिन तलवारि' की अपनी पीड़ा लोक ही कहता है। अवध विलय के पश्चात् भी बदलती निष्ठाओं, संगीतज्ञों के विस्थापन तथा औपनिवेशिक शक्ति के दमन से अवध के संगीत में आये शून्य को लोक संगीत ही भरता है। उस काल के अवशिष्ट लोकगीतों में विदेशी शासन की अस्वीकार्यता के साथ - साथ वाजिद अली शाह की बहुतप्रचारित छवि से भिन्न लोक छवि मुखरित होती है—

राजा प्रजा मिल मिल रोवन
हिल मिल रोवा सारा संसार
है गयो परदेस को राजा
छोड़ अपना घर संसार।(19)

इतिहास के पन्नों पर वाजिद अली शाह घोर विलासी अविवेकी, निष्क्रिय एवं कुशासक आदि विशेषणों से युक्त पाये जाते हैं किन्तु अवध का शासन बिल्कुल वैसा ही होता है जैसा कि बहुप्रचारित है तो हमें पायल की झंकार के स्थान पर तलवारों की खनक सुनाई पड़ती, रमणियों के मधुर संगीत स्वरों के स्थान पर उनके चीत्कार, सुनाई पड़ते। सौहार्द के स्थान पर साम्प्रदायिकता का विकार दिखाई पड़ता और ललित कलाओं के विकास के स्थान पर अवध का सांस्कृतिक इतिहास विद्रोह का इतिहास होता तथा नवाबी शासन के पतन और वाजिद अली शाह के कलकत्ता प्रयाण के समय जनता की आंखों में अश्रु लहर न होकर हर्ष व उन्माद की लहर होती।(20)

वाजिद अली मेरा प्यारा
आप लन्दन को सिधारा।
गलियों गलियों खाक उड़त है
सड़कन पे अंधियारा
आप लन्दन को सिधारा।(21)

वाजिद अली शाह पर यह अभियोग है कि उन्होनें वीर शासक की भांति युद्ध करने की अपेक्षा अंग्रेजों के समक्ष कायरतापूर्ण सत्ता समर्पण कर दिया। वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। वास्तव में वाजिद अली शाह का सम्पूर्ण शासनकाल अंग्रेजों के विरूद्ध उनके मौन एवं कूटनीतिक प्रतिरोध की कथा है। रणनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अनेक लम्बी एवं गहरी सुरंगों के प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनका निर्माण वाजिद अली शाह की आज्ञा से उनके पूर्व सैन्य अधिकारियों द्वारा अंग्रेजों के विरूद्ध किसी भी सम्भावित घटना से निबटने हेतु अति गुप्त रूप से करवाया गया था। (22) इन सुरंगों का निर्माण, दिनांक 04 फरवरी, 1856 को अंग्रेजों की इच्छा के विरूद्ध सैन्यबल भंग तथा अंत तक सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर नहीं करना वाजिद अली शाह की कूटनीतिक रणनीति का अंग थे। तत्कालीन प्रचारतन्त्र के द्वारा उनके प्रति कायर विशेषण का प्रयोग जन भावनाओं को आहत करता था–

हजरत बिन प्यारे आज लखनपुर सूना
किनने कीन्हीं लइडयां,
कवन गढ़ लीन्हा
आज लखनपुर सूना
अरे कवन बहादुर आवा
मुगल सर कीन्हा
आज लखनपुर सूना। (23)

वाजिद अली शाह कोमल हृदय तथा लोकप्रिय शासके थे। जनकल्याण हेतु उनके द्वारा किये सुधारों के कारण अवधवासियों का जीवन अंग्रेजी राज्य एवं उसके अधीनस्थ मित्र राज्यों की जनता की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्ण एवं उल्लासमय था। भू-राजस्व आधारित अर्थव्यवस्था में सभी प्रकार की भूमि पर सिंचाई के पर्याप्त व सस्ते साधन उपलब्ध थे। सन् 1855 में अनाज के मूल्य विगत पचास वर्षो के सबसे निचले स्तर तक पहुंच गये थे। अतः वाजिद अली शाह के आर्थिक सुधारों का लाभ निर्धन वर्ग को भी प्राप्य था। (24) प्रजाहित चिन्तक शासक की सत्ता के अपहरण तथा न्याय प्राप्ति हेतु लन्दन के समाचार से जनता व्यथित थी तथा उसकी सफलता हेतु ईश्वर से प्रार्थना करती थी–

हजरत जाते हैं लन्दन
हमपे कृपा करो रघुनन्दन। (25)

अंग्रेजों ने अनेकानेक भारतीय राज्यों का विलय किया परन्तु वाजिद अली शाह की यह विशेषता रही कि अवध का राज्य अंग्रेजों को अपनी प्रतिष्ठा धूल धूसरित होने के उपरान्त ही प्राप्त हो सका। अव्यक्त और अप्रत्यक्ष रूप से उन्होनें अंग्रेजों को सदैव अपनी चतुराई से बेचैन रखा। यद्यपि अवध का विलय शान्तिपूर्ण हुआ था किन्तु अवध विलय के अपने उद्देश्य प्राप्ति के अधिक समय व्यतीत हो जाने तथा जनता में असंतोष तथा प्रतिरोध के कारण व्याग्रता व प्रति हिंसा में वाजिद अली शाह के कलकत्ता जाते ही अंग्रेजों ने दमनात्मक कार्यवाही प्रारम्भ कर दी। वाजिद अली शाह से सम्बन्धित चिन्हों, भवनों इत्यादि को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। वाजिद अली शाह की व्यक्तिगत सम्पत्ति कौड़ियों के भाव नीलाम कर दी गयी । बेगमों के आभूषण, सम्पत्ति छीनकर महलों से निकालकर उन्हें सड़कों पर भटकने को विवश कर दिया गया। बड़ी संख्या में शाही कर्मचारी ही बेरोजगार नहीं हुए, उद्योग धन्धे भी चौपट हो गये तथा लोग अन्यत्र पलायन को विवश हो गये (26)-

गलियन गलियन रैयत रोवैं
हटियन बनिया बजाज रे
महल में बैठी बेगम रोवैं
डेहरी पे रोवैं, खवास रे
मोती महल की बैठक छूटीं
छूटे हैं मीनाबाजार रे
बाग बगनिया की सैरे छूटीं
छूटे मुलुक हमार रे (27)

भारत में उस समय सती की अमानवीय प्रथा प्रचलित थी। प्रथा की उत्पत्ति का कारण कुछ भी हो परन्तु वह कार्य अमानुषिक तथा बर्बर था । इस सामाजिक अभिशाप की रोकथाम हेतु लार्ड विलियम बैंटिक ने सराहनीय कार्य किया। सन् 1829 ई. में इस प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर पहले बंगाल तथा सन् 1930 ई. में बम्बई व मद्रास प्रदेशो में भी लागू कर दिया गया। सामाजिक रूढ़ियां विश्व की सभी सभ्यताओं और समाजों में रही हैं। भारत में

सामाजिक रूढ़ियों के साथ - साथ उनके प्रतिरोध की परम्परा भी विद्यमान रही है। सम्राट अकबर द्वारा सती प्रथा निषेध के उल्लेख प्राप्त होते हैं। शासकों द्वारा सामाजिक कुप्रथाओं के विरूद्ध दायित्व निर्वहन में वाजिद अली शाह के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा भी सती प्रथा तथा कन्या शिशु हत्या के निषेध हेतु राजाज्ञा प्रसारित की गयी। (28) अंग्रेजों के सती प्रथा निषेध कानून का उल्लेख 28 वर्ष पश्चात् 1857 की क्रान्ति के संदर्भ में पाया जाता है (29) तथा इन सुधारों को क्रान्ति का एक प्रमुख कारण मानते हुए इसे अंग्रेजों के विरूद्ध रूढ़िवादी, अपरिवर्तनवादी और पुरातनवादी प्रतिक्रिया आरोपित किया जाता है। किन्तु यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि सन् 1847 ई. में वाजिद अली शाह द्वारा इन कुप्रथाओं के निषेध हेतु निर्गमित राजाज्ञाओं के विरूद्ध न तो कोई प्रतिक्रिया होती है और न ही उनकी लोकप्रियता में छटांक भर कमी आती है। लम्बे समय तक अवधवासी इनकी वापसी की प्रतीक्षा करते रहे और सावन की पहली बौछार के साथ स्त्रियां आशापूर्ण स्वर में गा उठती थीं -

हाय तुम्हरे बिन बरखा न सुहाय
ओ कलकत्ता वाले जूया, अल्लाह तुम्हें लाये
अल्लाह तुम्हे लाये,
हाय अल्लाह तुम्हे लाये। (30)

निष्कर्षः-

संगीत प्रेमी शासक नबाव वाजिद अली शाह के सत्तावसान तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों का अवध के संगीत पर प्रभाव की स्वाभाविक कल्पना कठिन कार्य नहीं है। वास्तव में अवध राज्य के पतन और वाजिद अली शाह के कलकत्ता गमन के पश्चात अवध में सांगीतिक गतिविधियां अवरूद्ध हो गयी थीं और संगीतज्ञों के विस्थापन का क्रम लम्बे समय तक चलता रहा तथा सन् 1857 की क्रान्ति के उत्सर्जित प्रभावों ने इस स्थिति को जटिलतर बना दिया। संगीत संरक्षक के रूप में नवाब वाजिद अली शाह का स्थान अतुलनीय है तथा हिन्दुस्तानी संगीत के इतिहास में उनके सदृश मुक्तहस्त आश्रयदाता का दूसरा उदाहरण उपलब्ध नहीं है। ऐसे संगीत प्रेमी आश्रयदाता के सत्तावसान एवं कलकत्ता गमन के फलस्वरूप संगीत कलाकारों की एक विशाल संख्या आश्रयविहीन हो गयी तथा रोजी-रोटी की खोज में अवध से पलायन का अनवरत क्रम प्रारम्भ हो गया। इस सम्भावना से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि रोजी-रोटी के इस संघर्ष में कई कलाकारों का अपने परम्परागत व्यवसाय को भी त्यागना पड़ा हो।

वाजिद अली शाह के सत्तावान के फलस्वरूप अन्यत्र राज्यों में विस्थापित कलाकारों के कारण संगीत में घराना परम्परा की नींव भी पड़ गयी जिसे हम उन्नसवीं सदी के उत्तार्द्ध में पल्लवित तथा बीसवीं सदी के प्रारम्भ के वर्षो में सदृढ़ होते हुए देखते हैं। कुल मिलाकर यह कालखण्ड अवध के संगीत हेतु त्रासद काल था। शास्त्रीय कलायें जहाँ शास्त्रीयता के बन्धन में अपनी सहजता खो देती हैं वहीं लोक कलाएं लोक की सहज अभिव्यक्ति होती हैं। अवध के तत्कालीन अवशिष्ट लोकगीतों में लोक में नवाब वाजिद अली शाह की लोकप्रियता तथा इसके प्रति सहानुभूति स्पष्टतः ध्वनित होती है तथा साथ ही साथ औपनिरोशिक शासन की अस्वीकार्यता तथा असंतोष में सन्निकट 1857 के प्रथम स्वातान्त्रय समर की पदचाप भी सुनाई पड़ जाती है।

सन्दर्भ सूची

1. माहेश्वरी, ज्ञानदास (1987), जान-ए-आलम वाजिद अली शाह, पृष्ठ 220-222
2. Manuel, Peter (1983) Thumri in Historical and stylistic perspective Page-68
3. मुंशी, कन्हैयालाल माणिक लाल (1958) संगीत पत्रिका मार्च, पृष्ठ 47
4. व्यक्तिगत साक्षात्कार खां, मोमिन (उ.सादिक अली खाँ के प्रपौत्र) मई, 2006
5. शाह, वाजिद अली, अनुवाद-तकी रौशन (1987), बनी, पृष्ठ-173-192
6. Rizvi, S.A.A. and Bhargava Motilal (1981) Freedom Struggle in Uttar Pradesh, Page-110
7. Bhatnagar, G.D. (1968), Awadh Under Wajid Ali Shah, Page 154.

8. वर्मा, परिपूर्णानन्द (1959) वाजिद अली शाह और अवध राज्य का पतन, पृष्ठ-240
9. पूर्वोद्धत, पृष्ठ-243
10. सहाय, जगदीश (1982), अवध में नवाबी शासन का इतिहास, पृष्ठ-192
11. Minar, Allyn, (1997) Sitar and Sarod in the 18th and 19th Centuries, Page -149.
12. राय चौधरी, वीरेन्द्र किशोर (1997), हिन्दुस्तानी संगीत में तानसेन का स्थान, पृष्ठ-67
13. व्यक्तिगत साक्षात्कार - खाँ, मोमिन, मई-2006
14. मिस्त्री, आबान ए. (1984), परवावज और तबला के घराने एवं परम्परायें, पृष्ठ-52
15. व्यक्तिगत साक्षात्कार खाँ, मोमिन, मई-2006
16. मिश्र, कामेश्वर प्रसाद (1997), काशी की संगीत परम्परा, पृष्ठ-79, पुस्तक में इनके आश्रयदाता का नाम मुगल सम्राट बहादुर शाह ज़फर लिखा है। तीनों गायक मुगल सम्राट आश्रित नहीं थे।
17. इमाम, मो. करम (1925), मआदनुलमूसिकी, उदधृत संगीत रजत जयन्ती विशेषांक, मार्च-1960, पृष्ठ-186 मिस्त्री, आबान ए. (1984), पूर्वाद्धत, पृष्ठ-154
18. व्यक्तिगत साक्षात्कार - खाँ, इरफान (उ. उमर खाँ सरोद वादक के पुत्र) सितम्बर-2006
19. Taqui, Roshan (2001), Lucknow 1857, Page-30
20. माहेश्वरी, ज्ञानदास (1987), पूर्वाद्धत-प्रस्तावना
21. व्यक्तिगत साक्षात्कार - प्रवीण, योगेश (लखनवी संस्कृति के अधिकारिक विद्वान एवं सुप्रसिद्ध लेखक), अक्टूबर-2006
22. Taqui Roshan, (2001), Ibid, page-40
23. व्यक्तिगत साक्षात्कार - प्रवीण, योगेश, अक्टूबर-2006
24. Taqui Roshan (2001), Ibid, Page-8,9
25. शाह, वाजिद अली, अनुवाद -तकी, रौशन (1987) बनी, पृष्ठ-18 (भूमिका)
26. मिश्र, अखिलेश (2007), 1857 अवध का मुक्ति संग्राम, पृष्ठ-27
27. मिश्र, अखिलेश (जुलाई 2007), समकालीन जनमत, पृष्ठ-27
28. Azhar, Mirza Ali (1982), King Wajid Ali Shah of Awadh Page-256,257.
29. Majumdar, R.C., Roychaudhury, H.C. Dutta, K. (1950) An Advanced History of India, Page-773.
30. मलिहाबादी, जोश (1970) यादों की बारात, पृष्ठ-81

+2 (इण्टर स्तर) तक विद्यालयीय सांगीतिक शिक्षण में पाठ्य निर्माण के तत्त्व : एक विश्लेषण

प्रो. पुष्पम नारायण*, निधि कुमारी**

शोध सार

स्वतंत्रता संग्राम के समय अभिव्यक्त शिक्षा संबंधित मूल्यों को स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्रीय आयोगों द्वारा मुखर करने का प्रयास किया गया। इन आयामों में माध्यमिक शिक्षा आयोग (1552-53) तथा शिक्षा आयोग (1964-66) की भूमिका उल्लेखनीय है। दोनों आयोगों ने परिवर्तित सामाजिक तथा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में महात्मा गाँधी के शिक्षा दर्शन को मुख्य बातों को आधार बनाकर राष्ट्र विकास पर जोर देते हुए इसे विस्तारित किया।

"वर्ष 1976 तक भारतीय संविधान के अंतर्गत राज्य सरकारों को स्कूली शिक्षा संबंधी सभी निर्णय लेने का अधिकार था। इसके अंतर्गत उनके अधिकार क्षेत्र में पाठ्यचर्या भी आती थी। केन्द्र केवल नीतिगत मुद्दों पर राज्यों का मार्गदर्शन कर सकता था। इन परिस्थितियों ने 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति और एन.सी.आर.टी. (राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्) द्वारा 1975 में पाठ्यचर्या रूप रेखा की रचना की गयी। 1976 में संविधान में संशोधन किया गया और शिक्षा के उत्तरदायित्व को समवर्ती सूची में लाया गया और पहली बार वर्ष 1986 में शिक्षा पर पूरे देश की एक राष्ट्रीय नीति बनी।"[1] राष्ट्रीय शिक्षा नीति के 1986 के अंतर्गत संगीत के व्यापक स्वरूप को कला शिक्षण में शामिल किया गया ताकि छात्रों में नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय चारित्रिक गुणों का विकास संगीत के विभिन्न माध्यमों द्वारा हो सके तथा संगीत तथा मनोविज्ञान में जो घनिष्ठ संबंध है उनका सर्वांगीण मनोवैज्ञानिक विकास हो सके।[2]

शब्द कुंजी *– शिक्षा, पाठ्यक्रम, शिक्षा नीति, संगीत, इण्टर*

प्रस्तावना :

विद्यालयों में भी अन्य विषयों के साथ सप्ताह में एक या दो दिन कला शिक्षण के महत्त्व को शिक्षाविदों ने आवश्यक समझा तथा उनके अनुसार आठवीं कक्षा तक सप्ताह में एक या दो घंटी (Period) चित्रकला या संगीत कतिपय विद्यालयों में सिखाया जाने लगा है। दसवीं तथा इण्टर कक्षाओं में संगीत को एक ऐच्छिक विषय के रूप में मान्यता दी गयी और धीरे-धीरे छात्र इसे प्रिय विषय के रूप में अपनाने लगे हैं।

संगीत की विशेषताओं की विशिष्टताओं की ओर जब हमारा ध्यान यह बात हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से मुखर होती है कि संगीत छोटे बालकों के संवेगों को निर्देशित करने के साथ-साथ उसके शारीरिक तथा मानसिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। बालकों की क्रियात्मक प्रवृत्ति को सही दिशा में उन्मुख कर उनमें रचनात्मक क्षमता को विकसित करने में संगीत की सकारात्मक भूमिका हो सकती है। संगीत बालकों के व्यक्तित्व के समस्त पक्षों के विकास में प्रभावपूर्ण साधन है। संगीत को छोड़कर

*शोध छात्र, ललित कला, संकाय, संगीत विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा

**शोध छात्र, ललित कला, संकाय, संगीत विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यालय, दरभंगा

शैक्षिक कार्यक्रमों की कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव में जो उत्कृष्ट तथा सर्वोच्च तत्त्व हैं उनका विकास संगीत द्वारा ही संभव है। विशेषकर संगीत बालकों के व्यक्तित्व के विकास में एक सहायक संसाधन के रूप में परिगणित है। चारित्रिक विकास एवं मूल प्रवृत्तियों को अच्छी दिशा प्रदान करने के संचालन के रूप में संगीत को मनोवैज्ञानिकों ने तथा शिक्षा शास्त्रियों ने सहज ही अपनी स्वीकार्यता प्रदान की है। संगीत को भावी जीवन के एक संसाधन के रूप में परिगणित करने के साथ-साथ संगीत को विद्यालयीय विषय के रूप में भी मान्यता दी गयी है। यह तार्किक और न्यायसंगत भी है। अपने बेकार क्षणों में या अवकाश के समय संगीत शिक्षण को एक रचनात्मक कार्य के रूप में देखा जाना चाहिए। सृजनात्मक क्रियाओं के रूप में काव्य कला, साहित्य सृजन, चित्र कला, वास्तुकला तथा लेखन के समान ही संगीत आत्माभिव्यक्ति का साधन है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि सांगीतिक पाठ्यक्रम का निर्माण अत्यंत ही सावधानीपूर्वक किया जाय।

साहित्य का सर्वेक्षण :

प्रस्तुत आलेख की तैयारी में कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अवलोकन व सर्वेक्षण किया गया है। यहाँ साहित्य सर्वेक्षण में निम्नलिखित ग्रंथों का नाम लिखा जा सकता है।

सांगीतिक पाठ्यक्रम निर्धारण प्रविधि :

प्रस्तुत शोध आलेख के लेखन में ऐतिहासिक, सामाजिक, विवरणात्मक एवं विवेचनात्मक की पद्धति को अपनाया गया है।

सामान्य तथा विद्यालयीय (+2) स्तर तक के सांगीतिक पाठ्यक्रमों का निर्धारण उन लोगों से करवाया जाता है, जो संगीत जगत के ख्यातिलब्ध व्यक्ति होते हैं। अपने - अपने क्षेत्र विशेष के यशस्वी संगीतज्ञों एवं कलाकारों को पाठ्यक्रम निर्माण के सिद्धान्तों का यथेष्ट ज्ञान प्रायः अभाव रहता है। वे प्रायः पारंपरिक रूप से पूर्व से चले आ रहे अपने घरानों के सांगीतिक तत्वों एवं शैलियों को पाठ्यक्रम में शामिल करने पर विशेष बल देते हैं। विद्यालयों में कार्यरत संगीत शिक्षकों को उन पाठ्यक्रम के निर्माताओं से दूर-दूर तक का कोई संबंध नहीं रहता है। इस तरह से पाठ्यक्रम जो बनते हैं उनमें परंपरागत पुरानी बातें होती हैं। उसके अनुसार ही कार्यरत् शिक्षकों को शिक्षण का संचालन करना पड़ता है। मात्र डिग्री प्राप्ति के उद्देश्य पर आधारित पाठ्यक्रम को दृष्टि पथ में रखते हुए संगीत की शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षकों को विवश होना पड़ता है। अतः इस कमी को दूर करने के लिए पाठ्यक्रम निर्धारण समिति में कार्यरत् विद्यालय में शिक्षकों एवं शिक्षा शास्त्रियों को जोड़ा जाय। प्रत्येक शिक्षक को पाठ्यक्रम निर्धारण को आवश्यक तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है।

+2 विद्यालयीय शिक्षा में पाठ्यक्रम निर्धारण के आवश्यक तत्त्व :

विद्यालयीय पाठ्यक्रम निर्धारण के निम्नलिखित तत्त्व परिगणित है[3]-

1. लक्ष्य या उद्देश्य : पाठ्यक्रम का निर्धारण में यह सबसे पहले और प्रमुख रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है कि पाठ्यक्रम ऐसा हो जो विभिन्न स्तरों पर संगीत के सामान्य एवं विशिष्ट उद्देश्यों को पूर्णतः लागू करने में समर्थ हो।

2. बालकों के बौद्धिक स्तर का अभिज्ञान : पाठ्यक्रम में यह ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है कि वह छात्रों के मानसिक स्तर, क्षमता, अभिरूचि, योग्यता, विकास एवं वृद्धि तथा मानसिक प्रवृत्तियों के अनुकूल हो। ऐसा नहीं होने पर संगीत छात्रों पर सांगीतिक अभिरूचि में कमी होने लगेगी और संगीत विषय को छोड़ कर अन्य विषय को अपनाने के लिए मजबूर हो जायेंगे। पाठ्यक्रम के निर्धारण में बालक और वयस्क के अपने-अपने स्तर का भी ख्याल रखना इस कारण आवश्यक हो जाता है, यह उनके व्यक्तित्व एवं आवश्यकताओं के अनुरूप होने चाहिए।

3. शिक्षण-सिद्धान्तों पर आधारित पाठ्यक्रम : संगीत के पाठ्यक्रम में भी सीखने के नियमों तथा सिद्धान्तों के अनुपालन के साथ संगीत संवेदना, संगीत का प्रत्यक्षीकरण, वंशानुक्रम तथा वातावरण से प्राप्त बालकों की सांगीतिक क्षमता आदि का

ख्याल रखना भी आवश्यक है। पाठ्यक्रम विषय-वस्तु के चयन तथा स्तर निर्धारण, (Selection and Gradation) में अधिगम के क्षेत्र में हुए मनोवैज्ञानिक अध्ययनों का समावेश भी अपेक्षित है। पाठ्यक्रम तार्किक (Logical) की जगह मनोवैज्ञानिक (Psychological) आधार पर निर्धारण करना उत्तम माना जाता है।

4. विषय-वस्तु का चयन : पाठ्यक्रम के निर्धारण में पाठ्य वस्तु को चयन करने की दो विधियाँ है- (1) खंडविधि तथा केन्द्रीय विधि।

1. खण्ड विधि : खण्ड विधि में संगीत विषय का पाठ्यक्रम भिन्न-भिन्न कक्षाओं के लिए भिन्न-भिन्न होते हैं और एक-दूसरे से मिलता-जुलता नहीं होता है अर्थात् असम्बद्ध हुआ करता है। जैसे एक कक्षा में जो पाठ होते है; उनकी पुनरावृत्ति अगली कक्षाओं में या दूसरी कक्षाओं में नहीं की जाती है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि जो राग या ताल एक कक्षा के लिए निर्धारित की जाती है तो दूसरी कक्षा के पाठ्यक्रम में उन राग एवं ताल को छोड़ दिया जाता है।

2. केन्द्रीय विधि : इस विधि में खण्ड विधि के विपरीत प्रत्येक कक्षा की विषय वस्तु अलग-अलग नहीं होती है। अपितु एक दूसरे से सम्बद्ध होती है और उसमें एक निरंतरता होती है। जैसे विषय वस्तु निचली कक्षा में अत्यंत लघुकाय एवं संक्षिप्त होती है, उसी विषय-वस्तु की सूक्ष्मताओं की व्यापकता तथा विस्तृत रूप उच्च कक्षाओं में होती है। इसे एक उदाहरण के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—सातवें वर्ग में राग यमन के कुछ गीत ही सिखाया जाता है परंतु दसवीं वर्ग में गीत के साथ राग यमन का आरोह, अवरोह, पकड़ तथा शास्त्रीय परिचय भी बतलाया जाता है।

इण्टर (+2) की कक्षाओं में यमन में तान, आलाप, नोम-तोम आदि सिखलाया जाता है। स्नातक कक्षा में इसी राग का बिलंबित रचना आदि सिखाया जाता है जबकि स्नातकोत्तर स्तर पर यमन राग पर आधारित ध्रुपद, धमार आदि का गायन सिखाया जाता है। एक ही विषय-वस्तु को क्रमिक रूप से ऊँची कक्षाओं में जटिलता के साथ विस्तार दिया जाता है।

इस प्रकार पाठ्य निर्धारण में दोनों विधियों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है।

उपर्युक्त पाठ्य निर्धारण के तत्वों को ध्यान में रखकर संगीत शिक्षा को उपयुक्त बनाया जा सकता है तथा इसके अतिरिक्त भी कुछ प्रविधियों अपनाकर उसमें गुणात्मक परिवर्तन लाये जा सकते हैं4-

1. प्रायोगिक परीक्षा के पूर्व तैयारी : क्रियात्मक अभ्यास के लिए परीक्षा तिथि के एक माह पूर्व जाँच परीक्षा (Test Examination) होनी चाहिए। इस परीक्षा के परिणाम के अनुकूल छात्रों के अभ्यास पर बल दिया जाना चाहिए ताकि परीक्षकों के सम्मुख फिसड्डी सिद्ध न हो। ऐसा होने पर न तो संस्था की छवि बिगड़ेगी और न ही शिक्षकों की छवि ही।

2. छात्र एवं छात्राओं के शिक्षण की पृथक व्यवस्था : सामूहिक शिक्षण व्यवस्था में सुयक्त रूप से संगीत की शिक्षा दी जाती है, जो छात्राओं के हित में नहीं है। छात्रों एवं छात्राओं के कंठ स्वर में भिन्नता पायी जाती है। छात्रों के कंठ की अपेक्षा छात्राओं के कंठ की आवाज अधिक सुशीली एवं मधुर होती है। दोनों के स्वरों की प्रकृति एवं सीमा भी भिन्न-भिन्न होती है। अतः छात्राओं के शिक्षण की व्यवस्था अलग की जानी चाहिए।

3. संगीत शिक्षकों का विशेष उत्तरदायित्व : इण्टर स्तरीय (+2) विद्यालयों के संगीत शिक्षकों को अपने छात्रों की योग्यता के प्रति सतत् सचेष्ट रहना चाहिए। ज्योति से ज्योति प्रज्जवलित रखने का पवित्र कार्य संगीत शिक्षक की जिम्मेदारी है। संगीत शिखक का कार्य होता है छात्रों की क्षमतानुसार उनमें सृजनशीलता की भावना को जाग्रत करना, उन्हें साधन का मार्ग बतलाना, अपने साथ कार्यक्रमों में संगीत करने की हिम्मत पैदा करना। उत्कृष्ट कलात्मकता की विशिष्टताओं को धीरे-धीरे छात्रों के समक्ष प्रस्तुत कर अवगत कराना।

4. आयु वर्ग के अनुसार संगीत शिक्षण : संगीत शिक्षण में आयु वर्ग का ध्यान देना विशेष रूप से आवश्यक है। शिशु, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ इन सभी रूचियाँ, कंठ स्वर, क्षमता, प्रकृति तथा संगीत की समझ में भिन्नता पायी जाती है। शिक्षा भी इन्हीं विविधताओं के अनुयप होनी चाहिए तथा पाठ्यक्रम निर्धारण में इसका यथेष्ट ध्यान देना

चाहिए।

औद्योगिक समाज और उसकी आकांक्षाओं के आने से शैक्षिक परिदृश्य में परिघटनात्मक परिवर्तन हुआ है। जिसमें शैक्षिक प्रबंधन में नयी शक्तियाँ और नए दबाब पैदा किए हैं। आजकल शिक्षा का प्राथमिक कार्य चरित्र निर्माण या नैतिक विकास का प्रोत्साहन नहीं रहा है बल्कि भौतिक प्रगति के लिए कुशलता, तकनीकी ज्ञान और प्रौद्योगिकी पर सारा बल दिया जा रहा है। आज बौद्धिक शक्तियों या अमूर्त प्रकार के ज्ञान के विकास तक शिक्षा का प्रयोजन नहीं है। बल्कि कुशलताओं, औद्योगिक उत्पादकता का ज्ञान, वस्तुओं और सेवाओं के सृजन के विकास इसके आयाम बन गये हैं। परंतु आज की शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य यही है कि ज्ञान को उत्पन्न और विस्तृत किया जाए, लेकिन बदलती हुई परिस्थितियों में समाज को सम्माननीय और सुखद बनाने के लिए संगीत कला की शिक्षा को अपेक्षित अंग मानकर उनका सम्मान करना आवश्यक है।5

निष्कर्ष :

अतः कहा जा सकता है, उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर पाठ्यक्रम के निर्धारण में वर्णित तत्त्वों पर बल देते हुए तदनुसार शिक्षा में संगीत अपरिहार्य हो, तो जीवनोपयोगी दोनों ही दृष्टि से सिद्ध होगा - व्यक्ति की दृष्टि से भी और समाज की दृष्टि से भी। आज फलते-फूलते संगीत उद्योग ने देश-विदेश में बड़ा बाजार बना लिया है, इसलिए यह अब अत्यंत ही आकर्षण बाजार बन गया है। यदि कोई गाना चाहता है या कोई वाद्य बजाना चाहता है, संगीत की धुन या आरकेस्ट्रा का संचालन करता है और संगीत को पूर्णकालिक कैरियर बनाना चाहता है, तो यह किसी भी तरह आसान काम नहीं है। लेकिन यह असंभव भी नहीं रह गया है। कोई भी अपनी प्रतिभा के बल पर इनमें से कोई काम करने में सफलता प्राप्त कर सकता है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. एन.सी.आर.टी. के तत्कालीन निदेशक, प्रो. एच.पी. दीक्षित के भाषण के अंश। (नेट गूगल से उपलब्ध अंश)
2. संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ. 134, ऋषितोष कुमार (डॉ.), कनिष्क पब्लिर्श, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2010
3. संगीत शिक्षण के मूल तत्त्व, पृ. 55-56, झा मोहनानंद, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2011
4. वही, पृ. 61-62
5. संगीत शिक्षा के विविध आयाम, पृ. 136-137, ऋषितोष कुमार (डॉ.), कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2010

घरानेदान शिक्षण-पद्धति एवं विद्यालयीन शिक्षण-पद्धति : एक तुलनात्मक विश्लेषण

डॉ. ममता रानी ठाकुर*, सोनम कुमारी**

सारांश

घराना वास्तव में पुरानी गुरुकुल प्रथा के अनुरूप हुआ करते हैं। जिस प्रकार आचार्य और आश्रम के प्रति शिष्यों को बड़ी आस्था प्राचीन काल में होती थी, उसी प्रकार शिष्यों की श्रद्धा एवं आस्था प्राचीन काल में होती थी, उसी प्रकार शिष्यों की श्रद्धा एवं आस्था घरानेदार संगीत-शिक्षण पद्धति में हुआ करती है। इस प्रथा की नींव तो बहुत पहले पड़ी किन्तु इसके अस्तित्व का पता सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् चला। घरानेदार शिक्षण पद्धति में गुरु कठिन से कठिन चीजों को सिखाने में प्रवीण हुआ करते है। इस पद्धति में कड़े अनुशासन का सर्वोपरि स्थान है। इस पद्धति में क्रियात्मक संगीत पर विशेष बल दिया जाता है। प्रायः शिक्षण कार्य व्यक्तिगत हुआ करता है। गुरु अपने शिष्यों से कुछ गूढ़ सामग्री को छिपा कर रखते हैं। कहीं कोई शिष्य इनसे आगे न निकल जाय, इस प्रकार का डर प्रायः गुरुओं में हुआ करता है। इसमें अन्य घराने की बंदिशों को ग्रहण करने की अनुमति नहीं होती है।

विद्यालयीन शिक्षण का प्रारंभ 1880 के आस-पास प्रारंभ हुआ। संगीत शिक्षण में दो युग पुरुष पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर एवं पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने संगीत विद्यालयों की स्थापना कर एक क्रांति ला दी। दोनों ने संगीत शिक्षण में व्यापकता प्रदान करने के उद्देश्य से अपनी-अपनी स्वर लिपि पद्धति (Notation System) का अविष्कार किया, जिसके माध्यम से संगीत सिखना सुगम हो गया। विद्यालयीन शिक्षण पद्धति के अंतर्गत मौखिक प्रणाली के साथ-साथ लेखन प्रणाली के समन्वय से संगीत शिक्षण के क्रियात्मक पक्ष और शास्त्रीय पक्ष सबल हुआ है, यह एक निर्विवाद सत्य है। परंतु षड्ज साधना, मंद्र साधना, ताल-पलटे-अलंकार में घरानेदार शिक्षण पद्धति के शिष्यों की अपेक्षा समयाभाव के कारण विद्यालयीन छात्र कमजोर हुआ करते हैं। प्रस्तुत निबंध में दोनों ही पद्धतियों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

बीज शब्द- *1. शिक्षण-पद्धति, 2. परंपरा, 3. घरानेदार, 4. विद्यालयीन, 5. गुरु, 6. शिष्य।*

भारतीय संगीत कला में 'परंपरा' को महत्वपूर्ण माना जाता है। परंपराएँ संगीत में संतुलन एवं दृढ़ता बनाये रखती हैं। जिस तत्व को हम कई पीढ़ियों से ग्रहण करते हुए आये हैं, उसे ही परंपरा के रूप में जानते हैं। संगीत जगत में परंपरा के रूप में गुरु-शिष्य की परंपरा की व्यापकता को महत्वपूर्ण माना जाता है। गुरु ने जितना अपनी साधना, तपस्या या प्रयोगों के माध्यम से ज्ञानार्जित किया वह सब अपने शिष्यों में बाँट दिया और शिष्यों ने भी जो कुछ भी अपने गुरु के माध्यम से हासिल किया, उसे अपनी दक्षता, प्रयोगों के द्वारा विकसित किया। इस प्रकार गुरु-शिष्य परंपरा सहस्त्रों वर्षों से एक परंपरा के रूप विकसित

संगीत विभाग, एम.एल.एस.एम. कॉलेज, दरभंगा

शोध-छात्र, संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

होती चली आ रही है और आज तक विद्यमान है। इसी कारण प्राचीन समय से ही भरताचार्य आदि कतिपय ऋषि-मुनियों के माध्यम से संगीत एवं नाट्य की शिक्षा दी जाने लगी। कतिपय संप्रदाय एवं मत की नींव पड़ने लगीं, जैसे- भरत संप्रदाय अथवा भरत मत, हनुमत मत, शिवमत, कल्लिनाथ मत इत्यादि। दत्तिल, कोहल, मतंग तथा अभिनवगुप्त 'भरतमत' के अनुयायी थे।

घराने वास्तव में पुरानी गुरुकुल प्रथा के अनुरूप हुआ करते हैं। जिस प्रकार आचार्य और आश्रम के प्रति शिष्यों को बड़ी आस्था प्राचीन काल में हुआ करती थी, ठीक उसी प्रकार शिष्यों की श्रद्धा एवं आस्था घराने की प्रथा में रहा करती है। यह प्रथा है तो बहुत पुरानी, परंतु इसे महत्व मिला सोलहवीं शताब्दी के बाद।[1] प्रत्येक घराना-प्रणाली की दो विशेषताएँ होती हैं- पहली तो यह कि प्रत्येक घराने का एक अपना कलात्मक अनुशासन होता है। दूसरी यह कि प्रत्येक घराना अपनी मौलिक कलात्मक क्षमता को बरकरार रखते हुए नूतन शैली को, नूतन प्रयोग को अविष्कार करते हुए विकास करता है।

घरानेदार शिक्षण-पद्धति में कड़े अनुशासन का सर्वोपरि स्थान है। गुरु की किसी भी प्रकार की आज्ञा का पालन करना शिष्य के लिए अनिवार्य होता है। संभवतः इसी अनुशासन के कारण विभिन्न घरानों की अपनी विशिष्ट पहचान आज तक बनी हुई है। प्रत्येक घराना अपने को श्रेष्ठ मानते हुए शिष्य को दूसरे घराने से किसी प्रकार का संबंध या संपर्क रखने की अनुमति नहीं देता है। शिष्यों को सार्वजनिक रूप से मंचीय प्रस्तुति के लिए गुरू की अनुमति आवश्यक माना जाता है।

घरानेदार परंपरा में गुरु को कठिन-से-कठिन चीजों को सिखाने में दक्षता हासिल है। इस पद्धति में समय तो लगता है परंतु शिष्यों की सच्ची लगन से उनकी साधना पूर्णतः सफल होती है। इस पद्धति में प्रायः शिक्षण-कार्य व्यक्तिगत होता है। साथ ही, इस पद्धति में कलाकार बनने का अनुकूल वातावरण होता है।

उपर्युक्त विशिष्टताओं के अतिरिक्त इस परंपरा के अंतर्गत कतिपय दोष भी पाये जाते हैं। इस पद्धति में शिष्य को गुरु पर आश्रित होना पड़ता है। शिष्य में दूसरे अन्य शैलियों के ज्ञान का अभाव हुआ करता है। गुरु की ही शैली को आत्मसात करना पड़ता है। घरानेदार पद्धति में नोटेशन लिखने-लिखाने की प्रथा आज तक नहीं है जिस कारण उन्हें बंदिशों को सीखने में अधिक समय लगता है। घरानेदार शिक्षण-पद्धति में क्रियात्मक संगीत पर विशेष रूप से बल दिया जाता था। इसके शास्त्रीय पक्ष से वे बिलकुल अनभिज्ञ हुआ करते थे। घरानेदार शिक्षण-पद्धति से सीखकर कलाकार मात्र अच्छे प्रदर्शक हो सकते हैं। शास्त्रज्ञ नहीं। इस परंपरा के अंतर्गत गुरु प्रायः कोई-न-कोई महत्वपूर्ण गुर अवश्य छिपा लेते हैं क्योंकि उन्हें हमेशा डर रहता है कि कहीं कोई शिष्य इनसे आगे न निकल जाय। इस प्रकार घरानेदार शिक्षण-पद्धति धीरे-धीरे लुप्त प्राय होने लगी है, कुछ ही घराने हैं, जो अपनी पहचान आज तक बनाये हुए हैं।

विद्यालयीन शिक्षण-पद्धति या संस्थागत शिक्षण पद्धति

प्रायः 19वीं सदी के अंत तक संगीत-शिक्षा गुरु-शिष्य-परंपरा के अंतर्गत ही दी जाती रही है, जिसके अंतर्गत घरानेदार शिषण-पद्धति भी आती है। यद्यपि संस्थागत शिक्षण की शुरुआत 1880 ई. के आस-पास जामनगर के प. आदित्यराम, बड़ौदा में मौलाबख्श और कलकत्ता में सुरेन्द्र मोहन टैगोर के माध्यम से हो चुकी थी।[2] वास्तव में विद्यालयीन शिक्षण-पद्धति का सूत्रपात करने वालों में दो महान संगीतज्ञों का योगदान अविस्मरणीय है, सर्वप्रथम विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जिन्होंने अपनी यात्रा के दौरान महसूस किया कि समाज में संगीतकारों की दशा काफी सोचनीय है। उच्च घराने के लोगों का संगीत से खास लगाव नहीं है और संगीतकारों को हेय समझा जाता है। इस परिस्थिति को देखकर उन्होंने संकल्प लिया जब तक संगीत का प्रचार-प्रसार व्यापक नहीं हो जाता, तब तक वह चैन से नहीं बैठेंगे। पंजाब से उन्होंने संगीतकारों का कार्यक्रम प्रारंभ किया। उन्होंने लाहौर में गंधर्व महाविद्यालय की स्थापना 5 मई, 1901 में की इसके पश्चात पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर बंबई आ गए, यहाँ भी विद्यालय की शाखा की स्थापना 1908 में

की।[3] संगीत-कला की व्यापकता की दिशा में संगीत का पाठ्यक्रम तैयार कर एक परीक्षा प्रणाली का निर्धारण कर संगीत-शिक्षक तैयार करना इनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य की पूर्ति में वे सफल भी हुए। इस विद्यालयीन शिक्षा के कारण पंडित ओंकार नाथ ठाकुर, प्रोफेसर बी.आर. देवधर, पंडित विनायक राव पटवर्धन, पंडित वामन राव आम्टे, शंकर श्रीपाद बोडस प्रभृति शिष्य एवं संगीत-शिक्षक के रूप में ख्यातिलब्ध हुए।

संगीतोद्धार के दूसरे पुरोधा के रूप में पंडित विष्णुनारायण भातखंडे का नाम आता है। पंडित भातखंडे का जन्म ही उस समय हुआ, जब संगीत की अभिजातीय परंपरा अपने मूल उद्देश्य से गिरकर बिखर गयी थी। इसका संबंध प्राचीन और मध्यकालीन संगीत-परंपरा से अलग हो गया था। ऐसे समय में भातखंडेजी एक युग-पुरुष के रूप में अवतरित हुए और अपनी अनवरत तपस्या से उन्होंने संगीत की परंपरा को न केवल सुदृढ़ बनाया बल्कि इसके स्वर-श्रुति-राग-थाट और ताल जैसे शास्त्र और क्रियात्मक पक्षों में सामंजस्य स्थापित करके वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत के मार्ग को हजारों वर्षों के लिए सुरक्षित कर दिया।[4] विद्यालयीन शिक्षा का प्रारम्भ आपने बड़ौदा स्थित संगीत-विद्यालय के जीर्णोद्धार से प्रारंभ किया। सन् 1914-15 में यह विद्यालय काफी समुन्नत था। फिर इसके पश्चात् 1918 में तानसेन की कर्मभूमि ग्वालियर में 'माधव संगीत विद्यालय' की स्थापना की। फिर उन्होंने लखनऊ में 1526 में दूसरे संगीत विद्यालय का नींव डाली। इस विद्यालय का नाम ''मेरिस कॉलेज ऑफ हिन्दुस्तानी'' संगीत रखा गया। इस प्रकार, इन्होंने कुल तीन संगीत विद्यालयों की स्थापना की। इस संबंध में प्रभाकर नारायण की उक्ति देखी जा सकती है- ''बड़ौदा शासकीय संगीत विद्यालय, ग्वालियर का माधव संगीत महाविद्यालय तथा लखनऊ का 'मैरिस कॉलेज ऑफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक'' उन प्रमुख विद्यालयों में से है, जिन्होंने पंडित भातखंडे जी से प्रेरणा पायी, पितृवत वात्सल्य पाया। उनके वर्तमान स्वरूप पंडित जी के ही घोर परिश्रम का फल है। ग्वालियर और लखनऊ के विद्यालयों को तो स्वयं पंडित जी ने ही जन्म दिया।''[5]

हमारे देश में भातखंडे और विष्णु दिगम्बर पलुस्कर की स्वरांकन पद्धति का प्रचलन है। दोनों ही संगीतकारों की अपनी-अपनी स्वरांकन पद्धति (Notation System) है।

आज बदलते सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में विद्यालयीन शिक्षा का व्यापक प्रभाव संगीत के क्षेत्र में देखा जा रहा है। संगीत के औपचारिक शिक्षण के अंतर्गत संगीत के स्वरूप, सिद्धान्त, व्याख्या, इतिहास, रचना निर्देशन, समीक्षण, संचालन, क्रिया एवं शास्त्र शामिल है, जो घरानेदार शिक्षण में दुर्लभ है। इस शिक्षण-पद्धति में एक व्यक्ति या छात्र पर केन्द्रित न होकर एक समूह की चिन्ता समग्र रूप से की जाती है। आज देश के चालीस-पचास विश्वविद्यालयों में संगीत विभाग का संचालन किया जा रहा है। कुछ में स्नातक तक की शिक्षण-व्यवस्था है और कुछ में स्नातकोत्तर तक की शिक्षण व्यवस्था है। कुछ विश्वविद्यालयों पी-एच.डी. एवं डि.लिट्. तक की शिक्षण व्यवस्था भी है। प्राचीन वैदिक काल की पवित्रता, रामाचण-महाभारत काल की सात्विकता, मुगलकाल की विलासिता, भक्तजनों की भक्ति परायणता, मराठों एवं राजपूतों की शौर्यता, राजेराजवाड़ों की रंगीली प्रवृति, अंग्रेजों की हमारे संगीत के प्रति उपेक्षा, वर्तमान काल में समानता के आधार पर शिक्षा की चेतना आदि[6] का अध्ययन एवं विश्लेषण शिक्षण पद्धति में दुर्लभ है। विद्यालयीन शिक्षा के माध्यम से लाखों संगीत-छात्र शिक्षा प्राप्त करते हैं। घरानेदार परंपरा और विद्यालयीन शिक्षण पद्धति में मौलिक अंतर यह है कि अब विद्यालयीन शिक्षण में स्वतंत्र प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर छात्रों को प्राप्त होता है जिसमें घरानों का बंधन नहीं रहता है। आवाज का लगाव, राग की सुन्दरता, राग विस्तार, लय की सूक्ष्मता आदि में सभी घराने की बंदिशों को लिया जाता है, और सभी का समवेत प्रदर्शन किया जाता है। विद्यालयीन शिक्षण के पूर्व मौखिक शिक्षण पर बल दिया जाता था किन्तु विद्यालयीन शिक्षण पद्धति में मौखिक के साथ-साथ लेखन-प्रणाली के समन्वय से क्रियात्मक पक्ष और शास्त्रीय पक्ष दोनों प्रविधि सबल हुआ है।

दूसरी ओर घरानेदार संगीतज्ञ की ओर से आरोप लगाए जाते हैं, ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ पाकर भी

विद्यालयीन शिक्षा में अखिल भारतीय स्तर के कलाकार नहीं निकल पाते। लेकिन इसका तर्कपूर्ण सुन्दर जबाब दिया जा सकता है कि जब विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग जब तुलसी, सूर आदि जैसे विश्वस्तरीय कवि नहीं पैदा कर सकते, अंग्रेजी विभाग शेक्सपीयर और बर्डसवर्थ पैदा नहीं कर सकते, गणित विभाग आर्यभट्ट और भौतिकी विभाग आइन्सटाइन नहीं पैदा कर सकते तब संगीत विभाग से अंतर्राष्ट्रीय ख्याति लब्ध संगीतज्ञ की अपेक्षा क्यों की जाती है?

हाँ, विद्यालयीन संगीत-शिक्षा के गिरते स्तर का मुख्य कारण है साल में इनका काफी दिन बंद रहना। सभी छुट्टियों को अलग कर दिया तो पूरे साल में मात्र 125-130 दिन ही शैक्षणिक कार्य विद्यालयों या विश्वविद्यालय में हुआ करता है। संगीत शिक्षण में नियमितता एक आवश्यक शर्त है, जिसे दूर करना इस शिक्षण पद्धति में असंभव-सा लगता है। एक बात आवश्यक रूप से इसे दूर करने के लिए किया जा सकता है- बड़ी-बड़ी छुट्टियों में सभी विश्वविद्यालयों की ओर से यदि राज्य स्तरीय कार्यशाला का आयोजन किया जाय तो छुट्टियों के दिनों में संगीत-छात्रों को लाभ मिल सकता है।

विद्यालयीन शिक्षण पद्धति में घरानेदार शिक्षण पद्धति की अपेक्षा स्वर साधना के प्रति उदासीनता देखने को मिलती है, जबकि संगीत-शिक्षा में स्वर-साधना ही संगीत की आधारशिला है। स्वर-साधना घरानों की शिक्षा में एक स्वतंत्र शास्त्र है। रियाज के तरीके, षड्ज-साधना, मंद्र-साधना, तान-पलटे-अलंकार तालों का अभ्यास विविध स्वर साधना के अंग हैं। आज के विश्वविद्यालयीन छात्रों के पास समयाभाव है। इस कारण से इस विद्यालयीन शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है।

आज आवश्यक है, विद्यालयीन शिक्षण-पद्धति में शिक्षकों के पास घरानेदार शिक्षण के अनुभव के साथ यथेष्ट शास्त्र का ज्ञान होना और विद्यालयीन शिक्षण-पद्धति के अंतर्गत सिखनेवाले शिक्षार्थियों में सच्ची लगन, तल्लीनता और कुछ विशेष जानने की ललक हो। शिक्षक और शिक्षार्थी में इस प्रकार का गुण यदि किसी विद्यालय या विश्वविद्यालय में है, तो निश्चित रूप से संस्थागत शिक्षण-पद्धति वहाँ अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल है।

संदर्भ-

1. मिश्र, शंभुनाथ, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की परंपरा, पृ.-2, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2002
2. कुमार, ऋषितोष, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ.-112, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2010
3. मिश्र, शंभुनाथ, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की परंपरा, पृ.-14, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2002
4. शर्मा, जया (डॉ.), पंडित भातखंडे के ग्रंथों का संगीत-शिक्षण में योगदान, पृ.-7, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2012
5. चिंचोरे, श्री प्रभाकर नारायण, संपादक : भातखंडे स्मृतिग्रंथ, 'नया मन्वंतर ग्रंथ' (आलेख : नारायण प्रभाकर), पृ.-100, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़, मध्यप्रदेश, 1966
6. कुमार, ऋषितोष, संगीत शिक्षण के विविध आयाम, पृ.-143, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2010

सफलता की कुंजी अनुशासित अभ्यास

संध्या यादव

सारांश

संगीत एक ऐसी विद्या है जो अभ्यास के बिना संभव ही नहीं है। आप किसी भी मुकाम पर पहुँच जाइए, किसी भी उम्र में पहुँच जाएँ अभ्यास आपको प्रतिदिन करना ही होगा। शुरू में ज्यादा रियाज की आवश्यकता तो होती ही है किन्तु जैसे-जैसे आप ज्यादा उम्र के होने लगते तो आप महसूस करते हैं कि आपको और ज्यादा अभ्यास की आवश्यकता है। क्योंकि तब आप संगीत की गहराई को ओर अच्छे से समझ सकते है, तब आप अभ्यास की महत्ता को समझते हैं। अभ्यास सतत् चलने वाली प्रक्रिया है और इस के बिना किसी भी संगीतज्ञ के लिए सफलता के शिखर पर पहुँचना असंभव है। संगीत एक समुद्र है और अभ्यास समुद्र में गोता लगाने के समान है, जो जितना गहराई में जाएगा वह उतने सुंदर व कीमती मोती पाएगा अर्थात् जो जितना सूझ-बूझ के साथ अधिक अभ्यास करेगा वह उतनी ही अधिक संगीत की गहराई को समझ पाएगा और उतनी ही ऊंचाइयों को पाएगा। संगीत के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति होती है उसका एक मात्र मार्ग है- अभ्यास। अभ्यास से साधना, साधना से तपस्या, तपस्या से सिद्धि और अंत में सिद्धि से मोक्ष का मार्ग ही आपको ईश्वर की प्राप्ति कराता है। परंतु यह तभी संभव है जब संगीत के प्रति, अभ्यास के प्रति ईमानदार हो।

सूचकांक शब्द (Keywords)- अभ्यास, साधना, तबला वादन, बंदिश, तपस्या, सिद्धि।

रियाज, साधना और तपस्या एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न पर्यायवाची है। रियाज उर्दू भाषा का शब्द है तथा साधना और तपस्या संस्कृत भाषा का शब्द है। यह तीनों ही शब्द भले ही अलग-अलग भाषा के हैं किन्तु इनका संबंध एक ही क्षेत्र से है और यह क्षेत्र है, संगीत। रियाज संगीत की ओर विकास और पोषण की यात्रा के लिए महत्वपूर्ण और आवश्यक तत्व है। सतत् साधना संगीत के लिए आत्मविश्वास, गर्व, अनुशासन, ध्यान और प्रेरक ऊर्जा का स्त्रोत है।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचना चाहता है। वर्तमान अर्थ युग में यह माना जाता है कि आज मनुष्य का अंतिम लक्ष्य अर्थ सम्पन्न होना है, लेकिन संगीत के क्षेत्र में यह सत्य नहीं है, क्योंकि एक सच्चे संगीतज्ञ के लिए उसका अंतिम लक्ष्य धनोपार्जन नहीं अपितु सच्चा सुर, सच्चा संगीत होता है। इसी सच्चे संगीत से वह ईश्वर की प्राप्ति करता है। संगीत के माध्यम से साक्षात ईश्वर की प्राप्ति होती है और यह प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है- अभ्यास, साधना, तपस्या, सिद्धी और अंत में मोक्ष।

जो व्यक्ति तपस्या की आग में नहीं तपता, वह कुन्दन नहीं बन सकता है। जैसा कि कहा जाता है ''हजार पंक्तियाँ पढ़ो, तब एक पंक्ति लिखो।'' उसी प्रकार संगीत साधक के जीवन में अभ्यास अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है, फिर चाहे वह प्रसिद्धि के शिखर पर ही क्यों न विराजमान हो। एक साधक के लिए आवश्यक है किसी कठिन क्रियाओं, बोल-बंदिश के कई आवर्तन करे तब उस के वादन में जो निखार, सौंदर्य, माधुर्य आदि आता

शोधार्थी, अनवद्ध वाद्य विभाग, संगीत संकाय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़-491881 (छ.ग.), मो.8477988321, ई-मेल sandhyayadavksp@gmail.com

है वह आनंद-दायक होता है।

तबला वादन के क्षेत्र में भी अभ्यास उतना ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है जितना संगीत की अन्य विधाओं में। एक अच्छा मानक हासिल करने और बनाए रखने के लिए तबला वादक को कुछ तकनीकी मानदंडों का पालन करना पड़ता हैऔर ईमानदारी के संबंध में एक पेशेवर दृष्टिकोण के साथ सकारात्मक दृष्टिकोण रखना पड़ता है। यह विशेष रूप से उन लोगों पर लागू होता है जो तबला वादन को आजीविका के रूप में लेना चाहते हैं। जो लोग इसे केवल एक शौक के रूप में लेते हैं, वे अभ्यास में अनियमित हो सकते हैं; लेकिन तब वे कला के वास्तविक सौंदर्य का स्वाद नहीं ले पाएंगे। अपनी वादन कला में कुशलता, सहजता और असर नियमित दीर्घ-कालिक साधना से ही प्राप्त किया जा सकता है। अभ्यास के लिए कोई निश्चित समय सीमा नहीं है। यह सब इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति उस उद्देश्य के लिए कितना समय निकाल सकता है, क्योंकि यह स्पष्ट है जो जितना अधिक प्रयास करेगा, लाभ उतना ही अधिक होगा।

अभ्यास करते समय कुछ विशेष बिन्दुओं का ध्यान रखना आवश्यक है, अभ्यास के लिए सर्वप्रथम एकांत स्थान का चयन अति आवश्यक है, ताकि जब आप अभ्यास ध्यानपूर्वक करें तो अपने लक्ष्य से न भटकें। संगीत साधक को एक लक्ष्य के साथ अभ्यास करना चाहिए जिसमें उसका लक्ष्य अपने वादन कला के दोषों को दूर करना होना चाहिए। वास्तविक अभ्यास का मतलब यह नहीं है जो आसानी से हाथ से निकल रहा हो सिर्फ वही बजाए बल्कि जिन चीजों को वादन करने में कठिनाई महसूस हो उसे अभ्यास और साधना से जतनपूर्वक वादन में कमी को दूर करना है।

सबसे पहले साज कैसे मिलाना है इसका अभ्यास भी बहुत जरूरी है। कितना कम समय में आप अपने साज को सुर में मिला सकते है इसका अभ्यास तब संभव जब आप को सुर का ज्ञान हो इस लिए तानपूरे को ध्यान पूर्वक सुनना चाहिए। लंबे समय तक अभ्यास करते समय आपको यह भी सुनना चाहिए कि आपका साज बेसुरा तो नहीं हो रहा है। इसका ज्ञान अत्यंत आवश्यक है क्योंकि आपके वादन में मधुरता आपकी सूझ-बूझ के साथ-साथ आपके साज पर भी निर्भर करती है। सुर और लय की परख अत्यंत सूक्ष्म है। साधक सदैव होश में रह कर अभ्यास एवं प्रस्तुति करे तभी सुर और लय की शुद्धता को बना कर रख सकता है।

एक तबला वादक के लिए आवश्यक है कि अभ्यास करते समय वह बोलों का सही निकास करें। तबला वादक के लिए अति महत्वपूर्ण यह है कि उसके द्वारा किए गए तबले पर आघात से उत्पन्न नाद की गुणवत्ता कैसी है, अर्थात् अभ्यास के समय उसका प्रयास अपने तबले में सुंदर से सुंदर नाद उत्पन्न कर उसको एक स्थान पर बनाए रखने का होना चाहिए। उसको यह सुनना चाहिए कि उसके द्वारा तबले पर किया गया आघात बहुत कठोर, रूखा अर्थात् कानों को चुभने वाला तो नहीं हो रहा है। उसके द्वारा अघात से बोलों का वजन तो गड़बड़ नहीं हो रहा है। हर प्रकार के आघात में सांगीतिकी सौंदर्य, रस व आनंदानुभूति आवश्यक है।

तबले के वर्ण आघात एवं नादोत्पत्ति के दृष्टिकोण से दो प्रकार के प्रतीत होते हैं, जिसे कोमल और वजनदार बोल अथवा मादाएवंमर्दाना बोल कह कर भी संबोधित करते है। घराना या परंपरा चाहे कोई भी हो उसमें नाद के बड़ा एवं छोटा गुण का महत्व समान रूप से होता है। कोमल व वजनदार दोनों अंग के बोलों के अभ्यास से हाथ को हर प्रकार के बोल, बन्दिशों को बजाने के लिए अनुकूल बनाया जा सकेगा। ऐसा करने से प्रत्येक हथेली के सभी भागों का अच्छे ढंग से अभ्यास हो जाता है। निम्नलिखित दर्शाये गए हथेली के हिस्सों का अलग-अलग बोलों से नियमित अभ्यास करना चाहिए ताकि उंगलियां, अर्द्ध हथेली एवं पूर्ण हथेली के हर भाग का भली-भाँति अभ्यास हो सके।जिस प्रकार गायक को प्रारम्भ में सभी स्वरों को सही ढंग से बैठना आवश्यक होता है उसी प्रकार तबला साधकों को भी भिन्न-भिन्न वर्णों एवं बोलों का अभ्यास कर हाथ में उसे सही ढंग से बिठाना अति आवश्यक होता है। इसके अभ्यास के लिए मेरे गुरु डॉ. हरिओम हरि जी (सहायक प्राध्यापक, अवनद्ध वाद्य विभाग, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़,

छ.ग.) द्वारा बताए गए कुछ बोलों के उदाहरण निम्नलिखित हैं-

उँगलियों के बोलों का अभ्यास-

- खड़ीउंगली के लिए त्रिताल के ठेके का अभ्यास एवं 'धीग धीना' बोल में धीना के विस्तार से भी खड़ी उंगली का अभ्यास सहजतापूर्वक होता है। त्रिताल के ठेके को अभ्यास करने की विधि निम्नानुसार है-

ना धिं धिं ना	ना धिं धिं ना	ना तिं तिं ना	ना धिं धिं ना
×	2	0	3

दूसरा प्रकार

धिं धिं ना धिं	ना धिं धिं ना	ना तिं तिं ना	ना धिं धिं ना
×	2	0	3

तीसरा प्रकार-

धिं धिं धिं ना	धिं ना धिं ना	ना तिं तिं ना	ना धिं धिं ना
×	2	0	3

- दो उंगली के लिए 'तिट' एवं 'धाती' इत्यादि बोलों से युक्त दिल्ली के कायदों का अभ्यास जैसे-

धाते	टेधा	तेटे	धाधा
×			
तेटे	धागे	तीना	कीना
2			
ताते	टेता	तेटे	धाधा
0			
तेटे	धागे	धीना	गीना
4			

- अनामिका उंगली का अभ्यास के लिए- धिनगिन धाड़ागिन, दिंगदिनागिना, दिनतक, घिड़नग आदि बोल से युक्त रचनाओं के अभ्यास से अनामिका उंगली का संचालन भली-भांति होता है। एक ठेके का रेला जो ष्धिनगिन धाड़ागिनष् बोल से निर्मित है, निम्नलिखित है-

धाड़ागिन	धिनगिन	धिनगिन	धाड़ागिन
×			
धाड़ागिन	धिनगिन	धिनगिन	धाड़ागिन
2			
धाड़ागिन	तिनकिन	तिनकिन	ताड़ाकिन
0			
ताड़ाकिन	धिनगिन	धिनगिन	धाड़ागिन
3			

अर्द्ध हथेली के बोलों का अभ्यास- तकिट, तकदिनतक, तकतिरकिटतक, तेटेतेटे, धेटेधेटे, दींदींआदि बोलों का अभ्यास करने से अर्द्ध हथेली का अभ्यास होता है। उदाहरण के रूप में बनारस घराने की कुछ बन्दिशें जिसमें आधे पंजे का प्रयोग होता है निम्न लिखित है-

त	कि	ट	धा
त्र	क	ति	न
त	कि	ट	धा
त्र	क	धि	न

उरोक्त बाँट में 'तकिट' बोल समूह में 'त' वर्ण चारों उँगलियों को एक साथ स्याही पर बंद आघात करने से सही ढंग से नादोत्पत्ति होती है। यह रचना भी अर्द्ध हथेली के अभ्यास के लिए अत्यंत उपयोगी है।

घिड़नग	तेटेतेटे	घिड़नग	दिनतक
×			
तेटेघिड़	नगतेटे	घिड़नग	तिनतक
2			
किड़नक	तेटेतेटे	किड़नक	तिनतक
0			
तेटेघिड़	नगतेटे	घिड़नग	दिनतक
3			

इस कायदे में 'तेटे' का निकास दो उँगलियों से नहीं किया जाएगा। पूरब बाज के अनुसार 'ते' वर्ण का निकास मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठा इन तीनों उँगलियों के संयोग से स्याही पर आघात करने से किया जाता है तथा 'टे' वर्ण का निकास तर्जनी

उंगली से स्याही पर अघात करने से किया जाता है। 'तेटे' का निकास इस अंग से करने पर ही अर्द्ध हथेली का अभ्यास होता है अन्यथा वह उंगली का अभ्यास कहलाएगा। इसी का एक उदाहरण गुरु जी द्वारा प्राप्त बनारस घराने का एक खूबसूरत व पारंपरिक कायदा निम्नलिखित है-

धा-तेटे ×	धाधातेटे	धागेदीं-	नानातेटे
धातेटेधा 2	तेटेधाधा	तींनाकिटतक	तातिरकिटतक
ता-तेटे 0	तातातेटे	ताकेदीं-	नानातेटे
धातेटेधा 3	तेटेधाधा	धींनाकिटतक	धातिरकिटतक

उपरोक्त कायदे में 'दीं' वर्ण चारों उँगलियों को एक साथ अर्द्ध चंद्राकार रूप में उँगलियों के नीचे हथेली को स्पर्श करते हुए गूंज व वजनदारी से खुला आघात कर निकास करना इसके अभ्यास का सही तरीका है।

पूर्ण हथेलीके बोलों का अभ्यास- पूर्ण हथेली के अभ्यास के लिए 'धिरधिर' के बोलों का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास के लिए गुरुजी का एक रेला निम्नलिखित है जिसकी निर्मिति 'धिरधिर' वर्ण के अभ्यास के लिए की गयी है। उनका कहना है कि कायदे एवं रेले की रचना दो तरह से की गई है पहला अभ्यास के लिए एवं दूसरा प्रस्तुति के लिए–

धा-धिर ×	धिरकिट	धिरधिर	किटधिर
धिरधिर 2	किटतक	तिरतिर	किटतक
ता-तिर 0	तिरकिट	तिरतिर	किटधिर
धिरधिर 3	किटतक	धिरधिर	किटतक

अभ्यास करते समय साधको को अपनी क्षमता से अधिक लय में बजाने से अधिक उपयोगी है पहले उन बोल, बन्दिशों को कम लय में बजा कर हाथ के निकास को महत्व दें। इसका आशय यह है कि अभ्यास के दौरान बहुत ज्यादा तैयार बजाने की आवश्यकता नहीं होती है, उसको ऐसी लय में अभ्यास करना चाहिए जहां उसका निकास स्पष्ट हो अर्थात् सफाई से बोल बज रहा हो, उसके वादन में नादात्मकता बनी रहे। ऐसे अभ्यास के लिए आवश्यक है संगीत के प्रति धैर्य, क्योंकि धैर्य के बिना यह संभव नहीं है। विभिन्न बन्दिशों के अतर्निहित सौंदर्य की समझ के बिना अभ्यास नहीं करना चाहिए अर्थात् तबला साधक को बन्दिशों के आंतरिक चरित्र और वादन तकनीक की उचित समझ के साथ ही अभ्यास करना चाहिए। यह समझ गुरु के मार्गदर्शन के बिना संभव नहीं है।

एक तबला वादक के लिए उसका लय पक्ष मजबूत होना अपरिहार्य है, इसलिए अभ्यास करते समय किसी भी साधक को लय पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उसे लय स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए, यह स्थिरता आती है पढ़ंत से। एक तबला वादक को पढ़ंत पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए, क्योंकि पढ़ंत करने से उसकी जुबान साफ होती है अर्थात् वह जितना स्पष्ट पढ़ंत करेगा उतनी स्पष्टता उसके हाथ में आएगी। जब वह किसी बोल या बंदिश को हाथ से ताली-खाली दे कर पढ़ंत करता है तो उसे से साधक की पढ़ंत तो स्पष्ट होती ही है साथ ही उसका लय पक्ष भी मजबूत होता है। जब वह लय पक्ष को समझने लगे उसके पश्चात् उसे लयकारी का अभ्यास करना चाहिए। जैसे सबसे पहले उसे बराबर लय समझनी चाहिए तत्पश्चात् एक में दो, एक में तीन, एक में चार, एक में पाँच, एक में छः, एक में सात आदि लयकारियों का अभ्यास करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर-

1. एक में दो की लयकारी अर्थात् बराबर की लयकारी-

धात	कति	नती	नाड़
तात	कधि	नधी	नाड़

2. एक में तीन की लयकारी अर्थात् तिगुन की लयकारी-

धातक	तिनती	तातक	धिनधी
धातक	तिनती	तातक	धिनधी

3. एक में चार की लयकारी अर्थात् चौगुन या बराबर की लयकारी-

धातकति	नतीनाड़	तातकधि	नधीनाड़
धातकति	नतीनाड़	तातकधि	नधीनाड़

4. एक में पाँच की लयकारी-

धातकतिन	तातकधिन	धातकतिन	तातकधिन
धातकतिन	तातकधिन	धातकतिन	तातकधिन

5. एक में छः की लयकारी-

धातकतिनती	तातकधिनधी	धातकतिनती	तातकधिनधी
धातकतिनती	तातकधिनधी	धातकतिनती	तातकधिनधी

6. एक में सात की लयकारी-

धातकतिननाड़	तातकधिननाड़	धातकतिननाड़	तातकधिननाड़
धातकतिननाड़	तातकधिननाड़	धातकतिननाड़	तातकधिननाड़

इसके अलावा एक तबला वादक के लिए आवश्यक है कि अभ्यास करते समय नाद संतुलन का विशेष रूप से ध्यान दे। दांए-बांए में नाद संतुलन, कहाँ नाद छोटा होना है, कहाँ बड़ा होना है, कहाँ नाद को अधिक खोलना है, कहाँ बल देना है, कहाँ नाद को अधिक मुलायम करना है, इससेतबला वादन में विशेष प्रभाव पड़ता है।इसी वजह से तबला वादन में आकर्षण उत्पन्न होता है। उदाहरण के रूप में बनारस घराने की सुप्रसिद्ध बाँट-

धीग × धागे 2	धीना	तिरकिट	धीना
	नाधी	गती	नाड़ा
तीग 0 धागे 3	तीना	तिरकिट	धीना
	नाधी	गधी	नाड़ा

इस रचना में दांए-बांए का सुंदर नादात्मक संतुलन देखने को मिलता है। नादात्मक संतुलन के बिना इस रचना का सौंदर्य खत्म हो जाएगा।

तबला वाद्य के लिए कहा जाता है कि तबला वादन की सुंदरता उसके बांए में होती है, इसलिए तबला वादक को दांए के साथ-साथ बांए की सुंदरता पर भी विशेष चिंतन करना चाहिए। अभ्यास के समय उसे बांए के विभिन्न अंगों जैसे- मींड़, घुमक, घिस्सा, दाब-गांस, थाप इत्यादि के प्रति समझ रखनी चाहिए। ऐसे अभ्यास के लिए बांए प्रधान बोलों जैसे- केकेकेके, घेघेघेघे, गेगेगेगे, घेतक, घेघेनग, धातिघेघेतक, धाधाघेघेनकधिन, घेघेनक दिनतक, घेतकघेतकदिंगदिनागिना, धिनगिन धातिघिनआदि का रियाज करना चाहिए।

तबला साधक को सुर के बोलों को बैठाने का अभ्यास करना चाहिए। उदाहरण स्वरूप मेरे हाथ में 'धीं' वर्ण गुरु डॉ. हरिओम हरि जी (सहायक प्राध्यापक, अवनद्ध वाद्य विभाग, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, छ.ग.) ने मेरे हाथ में 'धीं' वर्ण को सुर बिठाने लिए एक ही कायदे को सुर के आंस अथवा गूंज को ध्यान में रख कर यह कायदा तीन प्रकार से सिखाये जो निम्नानुसार है-

धीं- × गीना 2	-धा	तिरकिट	धीना
	तीं-	तीना	कीना
तीं- 0 गीना ×	-ता	तिरकिट	धीना
	धीं-	धीना	गीना

उपरोक्त प्रकार में 'धीं' को आंस के लिए 3ध्2 मात्रा का कालमान है। ठाह लय में इसे बजाने पर सुर में गूंज उत्पन्न करने का पर्याप्त समय मिलता है, जिस से गूंजयुक्त 'धीं' बजाने की स्वतः आदत बन जाती है।

धीं × गीना 2	धीना	तिरकिट	धीना
	तीं	तीना	कीना
तीं 0 गीना 3	तीना	तिरकिट	धीना
	धीं	धीना	गीना

इस बोल का अभ्यास करने से हाथ में 'धीं' के माध्यम से सुर बैठता है, यहाँ 'धीं' 1 मात्रा का कालमान लिए हुए है। सुर बैठने के बाद इस बोल

में छोटा सा परिवर्तन कर उसका निकास किया जाता है जो कि निम्नलिखित है, यह एक पारंपरिक कायदा है-

धीग × गीना 2	धीना तीग	तिरकिट तीना	धीना कीना
तीग 0	तीना	तिरकिट	धीना
गीना 3	धीग	धीना	गीना

इस छोटे से परिवर्तन से पूर्व में किए गए 'धीं' के अभ्यास के कारण 'धीग' में भी सुर के वादन से जो असर और गूँज उत्पन्न होगी वह प्रभावी होगी।

कठिन बोल समूह के अभ्यास के लिए उदाहरण निम्नलिखित हैं-

तिरकिटतकतिर × तिरकिटतकतिर 2	किटतकधिरधिर किटतकधिरधिर	धिरधिरकिटतक धिरधिरकिटतक	धिरधिरकिटतक तींनाकिटतक
तिरकिटतकतिर 0	किटतकतिरतिर	तिरतिरकिटतक	तिरतिरकिटतक
तिरकिटतकधिर 3	किटतकधिरधिर	धिरधिरकिटतक	धींनाकिटतक

इस बोल का अभ्यास कठिन बोलों को हाथ में बिठाने के लिए करते हैं बाद में इसका विस्तार भी किया जाता है।

इस प्रकार के और भी बोल समूह का अभ्यास करना चाहिए। ऐसे बोलों का अभ्यास करने से हाथ में सहूलियत आती है, कठिनाई नहीं होती है, सहजता आती है। इस प्रकार के बोलों का अभ्यास करने से बोलों को हर लय या दर्जे में बजाने में सहूलियत होती है। तबला वादन के अभ्यास से संबन्धित इस प्रपत्र में जो भी अभ्यास की तकनीक अथवा रचनाओं को उद्धृत किया गया है मुझे मेरे गुरु अदरणीय डॉ. हरिओम हरी, सहायक प्राध्यापक, अवनद्ध वाद्य विभाग, संगीत संकाय, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ (छ.ग.) से तबले की शिक्षा लेने के दौरान प्राप्त हुई है।

अभ्यास में सफाई, जरब, ऊर्जस्वरिता (प्रचुर शारीरिक या मानसिक श्रम की अपेक्षा वाले काम को लंबे समय तक करने की क्षमता अर्थात् Stamina), चिंतन-मनन आदि का अभ्यास अत्यावश्यक है।

कोई कलाकार शीर्ष पर बैठा क्यों न हो, अगर वह साधना से विमुख हो जाता है तो प्रकृति प्रदत्त प्रतिभा भी उसका साथ छोड़ देती है। फलतः उसकी महत्ता, ऊंचाई घटती चली जाती है। इसलिए निरंतर साधनारत रहना आवश्यक है। क्यों कि प्रत्येक साधक यह जानता है कि उसे जो प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, उसके पीछे वह सिद्धि है, जो साधना का परिणाम है। जो साधना से विमुख होगा सिद्धि उसका साथ छोड़ देगी और सिद्धि का साथ छोड़ते ही प्रसिद्धि का महल ताश के पत्तों की तरह गिर जाएगा। 'अनभ्या से विषम् विद्या' इस बात को प्रमाणित करती है।

संदर्भ सूची-

1. Saxena, Sudhir Kumar, The Art of Tabla Rhythm Essentials,Tradition and Creativity, 2008, Second Edition, New Delhi : Sangeet Natak Akademi.
2. मिश्र, श्यामदास, 'संगीत-साधना : कुछ सुझाव', संगीत (अभ्यास अंक), जनवरी-फरवरी, 1984, हाथरस : संगीत कार्यालय
3. https://hindi.webdunia.com/religious&article
4. https://www.hariomgroup.org/hariombooks_satsang_hindi/SadhanaMeinSafalata.htm
5. https://wwwf.acebook.com/ShrimadBhagvad Gita/photos

संगीत कला एवं सौंदर्य तत्त्व

दिपेश थोड़ी[1] प्रो. गौरांग भावसार[2] प्रो. दर्शन एस. पुरोहित[3]

शोधसार

प्रस्तुत शोधलेख में शोधार्थी ने संगीत कला में सौंदर्य को उजागर करने वाले सौंदर्य तत्वों का स्थान एवं उनकी कार्य प्रणाली का संक्षेपात्मक वर्णन का प्रयास किया है। यह तत्व सभी कलाओं में तदनुसार उपयोगी होते ही है। संगीत में इनका संयोजन भली प्रकार से होता है। संगीत साधना में विभिन्न रचानाओं को सिद्ध करने के लिए इन्हीं सौंदर्यतत्वों को अपनाया जाता है और यही सांगीतिक प्रस्तुतिकरण में मूल में भी अंतर्निहित होते है।

बीज शब्दः *संगीत सौंदर्य, कला सौंदर्य, सौंदर्य तत्त्व, संगीत कला तत्त्व*

संगीत कला एवं सौंदर्य तत्वः

कला और सौंदर्य दोनों ऐसे है कि एक को जानों तो दूसरा अपने आप समझ में आने लगता है। कला को जानने के लिए सौंदर्य को जानना जरूरी है और सौंदर्य को जानने के लिए कला को। किसी भी सुंदर वस्तु या विषय में सौंदर्य होने का मुख्य कारण है, उस वस्तु में निहित सौंदर्य उजागर करने वाले तत्व। ये विभिन्न तत्व ही वस्तु के सुंदरत्व का मूल कारण होते हैं। ईश्वर द्वारा रचित प्रकृति में यह सौंदर्य तत्व स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते हैं और मनुष्य जब अपनी कला की रचना करता है, तब वह इन्ही सौंदर्य तत्वों का संयोजन अपनी कला में करता है। कला कोई भी हो जाने अनजाने में यह सभी तत्व उसमें जब तक विकसित नहीं होते, वह कृति सुंदर नहीं होती। संगीत कला सभी ललित कला में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह ऐसी कला है कि वह प्राणिमात्र के जीवन के साथ जुड़ी है। यह कला प्रकृति को भी प्रभावित करती है। ऐसी अनुपम संगीत कला में यह सौंदर्य तत्व किस प्रकार अंतर्निहित है। इस पर शोधार्थी ने कुछ अपने विचार रखें हैं। कला में सौंदर्य उत्पन्न करने वाले यह तत्व है।

1) विचार/कल्पना 2) साधन (माध्यम) 3) रूप (आकार) 4) अनुपात 5) गठन 6) सामंजस्य 7) नवीनता 8)विविधता 9) भाव 10) दिव्यता

Note: विषयोचित प्राप्त सामग्री, विविध ग्रंथों, पुस्तकों, शोधपत्रों एवं विद्वानों के मन्तव्यों के गहन अध्ययन एवं विचार विमर्श के पश्चात सौंदर्य उत्पन्न करने वाले तत्वों को शोधार्थी द्वारा प्राप्त परिणामलक्षी तारणों की अनुभूति के पश्चात सौन्दर्यतत्वों को प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है।

1) विचार/कल्पना : किसी क्रिया के बाह्यरूपांतर के पूर्व उसका विचार मानस में आता है। उसे प्रकट

1. Research Scholar, Department of Tabla, Faculty of Performing Arts, The MaharajaSayajirao University of Baroda, Vadodara
2. Research Guide, Department of Tabla, Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara
3. Corresponding Author, Department of Dramatics, Faculty of Performing Arts, The Maharaja Sayajirao University of Baroda, Vadodara

स्वरुप देने हेतु भिन्न-भिन्न माध्यमों का उपयोग होता है। कोई भी कला हो कलाकार को अपने मस्तिष्क में क्या बनाना है, यह विचार अथवा उसका प्रत्यय स्पष्ट रूप से लाना होता है।(1) कलाकार रचना को बाह्य स्वरुप देने से पूर्व वह रचना की पूर्वसंकल्पनाओं को अपने मानस मे रचता है और इन वैचारिक संकल्पनाओं के माध्यम से कला को अलग स्वरुप प्रदान करता है। इस मानसिक कला निर्माण की प्रक्रिया में कलाकार एकाग्र चित्त होता है और रचना की पूर्णता होने के बाद भी उसका बारम्बार मनन-चिंतन उसे आनंदानुभूति कराता है।

संगीत कला में गुरु से प्राप्त विद्या का अभ्यास करते समय शिष्य द्वारा शारीरिक अभ्यास क्रिया के साथ अपने बौद्धिक विचार एवं कल्पना का संयोजन भी आवश्यक है। अन्यथा देखे सुने संगीत अथवा गुरु से प्राप्त विद्या की मात्र अनुकृति ही होगी। इससे प्रस्तुतिकरण में नवीनता का अभाव हो सकता है। और यदि कला में नवीनता न हो तो उसमे सौंदर्य तत्व की अनुभूति शेष रह जाती है। इसलिए गुरू से प्राप्त बन्दिशों (रचना) में निहित विभिन्न सौंदर्यतत्वों पर विचार कर उन्हें हस्तगत करनी चाहिए। शिष्य को अपनी कला में किये गए नवीन विचारों का गुरु से अनुमोदन प्राप्त कर ही उसका अन्यत्र प्रस्तुतीकरण करना चाहिए। ऐसे कलाकार की अपनी एक नई सोच उसके प्रस्तुतीकरण की पहचान बनती है। उसकी प्रस्तुति नित्य नवीनता से पूर्ण रहती है। जो उनके सांगीतिक सौंदर्य के स्तर को निरंतर बढ़ाती रहती है।

2) साधन (माध्यम) : प्रत्येक कला की निर्मिति के लिए सर्व प्रथम साधन (row material) वस्तु, सामग्री आवश्यक है। बिना वस्तु सामग्री के कोई भी निर्माण कार्य नहीं हो सकता। संगीत कला निर्माण में मुख्य साधन है 'नाद'।

इदानीं सम्प्रवक्ष्यामि नादलक्षणमुत्तमं।
न नादेन विना गीतं न नादेन विना॥16॥
न नादेन विना नृतम् तस्मात् नादत्मका जगतः।
नादरूपो स्मृतो ब्रह्मा नादरुपो जनार्दनः॥१७॥
- बृहद्देशी(2)

इस प्रकार नाद के बिना संगीत की उत्पत्ति नहीं हो सकती। नाद से निर्मित संगीतोपयोगी ध्वनि का उपयोग किया जाता है। इन संगीतोपयोगी परिष्कृत्य ध्वनियों के कुल 22 प्रकार हैं, जिन्हें श्रुति के रुप में जाना जाता है। इन श्रुतियों से 12 स्वर निश्चित किए गए हैं, जिससे भारतीय संगीत में राग और पाश्चात्य संगीत में स्केल का निर्माण किया गया है। स्वर-राग के साथ लय-ताल संगीत के लिए महत्वपूर्ण साधन है। यह लय संगीत में गति प्रदान करतीं है और ताल संगीत को निश्चित आवर्तन में रखता है। इसलिए स्वर, राग एवं लय-ताल के बिना संगीत क्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। पं. सुरेश तलवलकरजी के अनुसार "भारतीय संगीत साम्राज्याची दोन बीजतत्व म्हणजे स्वर आणि लय 'श्रुतिर्माता लयः पिता' असं वचनच आपल्याकडे आहे. दोन अत्यंत विजातीय आणि भिन्नधर्मी तत्वांच्या मिलाफातूनच ही संगीताची न्यारी सृष्टी वसवली गेली आहे।" अर्थात् भारतीय संगीत साम्राज्य के दो बीजतत्त्व है स्वर और लय' 'श्रुतिर्माता लयः पिता' ऐसा वचन ही हमारे पास है। दो अत्यंत विजातीय और भिन्न धर्मी तत्त्वों के मिलन से ही संगीत की न्यारी सृष्टि बसायी गई है।(3) इन सभी के अतिरिक्त संगीत क्रिया के लिए गायन हेतु कण्ठ, वादन हेतु वाद्य एवं नृत्य हेतु शारीरिक मुद्राओं की आवश्यकता होती है।

विभिन्न वाद्यों में नाद उत्पत्ति का माध्यम अलग-अलग होता है। इन अलग-अलग माध्यमों को अनुलक्षित करके ही वाद्यों का वर्गीकरण किया है। उदा. तार से बजने वाले वाद्य तत कहलाए जैसे सितार, संतूर, वीणा आदि। इनमें भी तार पर बो द्वारा घिसकर बजने वाले वाद्य वितत कहलाए उदा सारंगी, वायलिन। दूसरी श्रेणी में हवा से बजने वाले वाद्य सुषिर वाद्य है, जैसे बांसुरी, हरमोनियम, शहनाई, क्लेरोनेट आदि। तीसरी श्रेणी में घन वाद्य आते है, जेसे मंजीरा, कड़ताल, आदि। चौथी श्रेणी है अवनद्य वाद्यों की, जैसे पखवाज, मृदंग, तबला, ढोलक, ढोल आदि। इस प्रकार मात्र माध्यम बदलने से नाद विविधताओं के दर्शन होते हैं। यह नाद वैविध्य के कारण ही संगीत का सौंदर्य और भी समृद्ध होता है। इन सभी वाद्यों का अदभुत सौंदर्य सदियों से हम सभी को लाभान्वित करता आया है।

3) रूप (आकार) : किसी भी सुंदर वस्तु का

सर्वप्रथम हमे बाह्य रूप ही तो आकर्षित करता है। किसी व्यक्ति की सुंदर मुखाकृति मन को मोह लेती है, किसी सुंदर मंदिर एवं मूर्ति की बाह्य आकृति ही सर्व प्रथम हमे आकर्षित करती है। संगीत में भी नादाकृतियाँ कानों पर पड़ते ही आनंद की अनुभूति होती है और कई कल्पनाएं हमारे भीतर आकार लेने लगती हैं।

प्राप्त वस्तु सामग्री को उचित मात्रा में आकार प्रदान कर उसे आकर्षक एवं सौन्दर्य पूर्ण रूप प्रदान करना ही कला है। किसी भी वस्तु को सुंदर बनाने के लिए उस वस्तु के हर एक भाग की लंबाई-चौड़ाई, पतला मोटापन को सही मात्रा में तराशा जाता है। जिस प्रकार हमारा शरीर एक निश्चित आकार में ही सुंदर लगता है, न ज्यादा मोटा, न ज्यादा पतला, न ज्यादा लम्बा, न ज्यादा ठिंगना। एक सुडौल उचित बांध वाला शरीर ही हमे सुंदर लगता है। इस प्रकार संगीत में प्राप्त साधन ध्वनि को भी आकार प्रदान किया जाता है। ध्वनि को कितनी मात्रा में ऊंचा, नीचा पतला मोटा रखना यह आवश्यक होता है। संगीत में यह निश्चित करने के लिए 22 श्रुति के साथ 12 स्वरों का विधान है। स्वरों के विन्यास से संगीत में रूप का भान होता है। निश्चय ही यह रूप द्रश्य न होकर श्रव्य होता है। संगीत में स्वर सामंजस्य के कारण एक स्वर दूसरे स्वर पर निर्बल प्रभाव न डालकर सबल बनाता है। स्वरों के समानुपात के साथ जब स्वरैक्य ऐसा हो कि प्रत्येक स्वर सम्पूर्ण स्वर-संदोह को माधुर्यपूरित कर दें, तब संगीत में उसे 'रूप' की संज्ञा देते हैं।(4) संगीतकला में बंदिश के माध्यम से राग 'आकार' ग्रहण करता है। बंदिश के स्वरूपों से आकार की विविधता का बोध होता है। बंदिश की ताल, स्वरों का अंतःचलन, गमक, मींड खटका, मुर्की आदि से उसकी 'बनावट' का बोध होता है।(5) गायन प्रकार के अनुसार ध्वनि के आकार को उचित मात्रा में रचना भी उतना ही आवश्यक है, जितना किसी शिल्प अथवा मूर्ति कला में मूर्ति को आकार प्रदान करना।

4) **अनुपातः** जिस प्रकार किसी सब्जी या दाल मे मसालों का अनुपात उचित मात्रा में न हो, तो उस खाने में स्वाद की कल्पना नहीं की जा सकती। उसी प्रकार संगीत में स्वर, ताल, लय आदि घटकों में उचित अनुपात न हो तो वहाँ संगीत की कल्पना नहीं की जा सकती। संगीत की तीनों विधाओं में विविध नादबंधो एवं नृत्य की मुद्राओं में उचित अनुपात स्थापित किया जाता है। 12 स्वरों एवं 22 श्रुतियाँ भी निश्चित अनुपात में ही निगठित होती है। भारतीय राग अधारित संगीत में विभिन्न रागों में इन स्वरो का आनुपातिक गठन ही रागों को जन्म देता है। राग में प्रयुक्त होने वाले स्वरों का प्रमाण होता है, जो अल्पत्व, बहुत्व द्वारा निभाया जाता है। स्वर प्रमाण को बदलने से राग भी बदल जाते है। जैसे मारवा तथा पूरिया।(6) संगीत में ताल दर्शाने के लिए विभिन्न मात्रा, खंड, बोल आदि का अनुपातिक गठन आवश्यक है। इसी प्रकार वाद्यों में ताल वाद्य एवं स्वर वाद्य में भी अनुपात भिन-भिन प्रकार से है। अवनद्य वाद्यों में अलग-अलग नादाक्षरों के मेल से भाषा का निर्माण होता है। हर एक रचना के वादन में नादबन्धों के बीच का अनुपात उस रचना के अनुसार होता है। जैसे कि, नादाक्षरों का कम-ज्यादा होना, नाद में गति, लय-लयकारी आदि का बंदिश के अनुसार अनुपातिक प्रयोग बंदिश को सौंदर्यपूर्ण बनाता है। वाद्यों में नाद आघातों में अनुपात ही सौंदर्य का निर्माण करता है। तीनताल ठेके में सम पर बजने वाला 'धा' और अन्य स्थान पर बजने वाला 'धा' का आघातिक अनुपात ही ठेके में सौंदर्य का निर्माण करता है। संगीत में विभिन्न लयकारी भी अनुपात के सिद्धांत के बिना संभव नही। ठाह लय के अनुपात में ही दुगुन, तुगुन, आड़, बिआड़, कुआड़ आदि लयकारियों को धारण किया जाता है।

5) **गठन :** कला में परिष्कृत सामग्री का योग्य स्थान निश्चित किया जाता है। यदि साधन सामग्री के गठन की कोई व्यवस्था न हो तो वह कला पूर्णता को प्राप्त होने से पूर्व ही धराशायी हो जाएगी। किसी इमारत में ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी चूना आदि का आनुपातिक मिश्रण होने कर उचित गठन की व्यवस्था न हो तो क्या हो? खिड़की की जगह दरवाजा, स्तम्भों की जगह दीवार रखे या नींव की जगह छत हो तो क्या यह गठन प्रकार इमारत को खड़ा रख पाएगा। एक उचित क्रमानुसार गठन ही स्थायित्व का द्योतक है। इसी प्रकार संगीत कला में भी सभी घटकों का उचित गठन कलाकारों एवं

विद्वानों ने किया है। संगीत में हर एक विधा की प्रत्येक कृति में स्वर, राग, लय ताल, भाषा, साहित्य, आदि तत्वों का ऐसा सामंजस्य पूर्ण गठन किया जाता है, कि वह निरंतर उत्स्फूर्त नवीन एवं दिव्य प्रतीत होती है। रचनाकार जब एकाध बंदिश बनाता है, तब यद्यपि तबले के उत्तमोत्तम नादाक्षरों से वह बनाई गयी हो, फिर भी वे शब्दक्षर एक निश्चित आकार में, गठन में निबद्ध किये होते हैं। अगर रचनाकार द्वारा निर्मित इन गठनों का हम सूक्ष्मता से अध्ययन करेंगे, तो उसमें निहित सौन्दर्य के दर्शन हमें हो सकते हैं।(7) प्रत्येक सांगीतिक बंदिशों में विभिन्न स्वर, राग एवं लय ताल में सांगीतिक भाषा का उपयोग कर उनमें निहित शब्दों एवं वाक्यों से बंदिशों का निर्माण करते है। जिसमें राग आधारित स्वरों को लय एवं ताल के अनुसार उचित गठन अत्यंत आवश्यक होता है। साथ ही इसके साहित्यिक शब्दों का समावेश भी उचित व्यवस्थापन के ज्ञान भी बिना सम्भव नहीं। संगीत में रचनाकार जिसे बंदिशकार भी कहते है, उनमें यह गठन अर्थात व्यवस्थापन का गुण पाया जाता है।

संगीत की तीनों विधाओं में प्रस्तुतिकरण में रचानाओं की क्रमानुसार प्रस्तुत करने की प्राचीन परंपरा रही है। इन परंपराओं को संजोकर रखने का श्रेय घराना परंपरा को जाता है। गायन में जिस राग में प्रस्तुतिकरण करना है, सर्व प्रथम उसका आलाप किया जाता है। तत्पश्चात अलग-अलग लयानुसार ताल ठेके में निबद्ध बंदिशों की शुरुवात होती है। जिसमे बड़ा ख्याल, छोटा ख्याल, तराना आदि का क्रम रहता है। वादन एवं नृत्य के भी निश्चित क्रम गठित किए गए है।

6) **सामंजस्य (Co-ordination)**: सामंजस्य का गुण प्रत्येक कार्य को सरल बनाता है। अपूर्ण को पूर्ण करता है। संगीत की मुख्य तीन विधाएं है- गायन, वादन एवं नृत्य यह तीनों विधाएं एक दूसरे के बिना अधूरी है। इन तीनों का साथ ही संगीत को पूर्ण करता है। तीनों ही विधाओं में ऐसा सामंजस्य है, कि वह संगीत कला को पूर्ण करता है। वृंद गायन-वादन मूल आधार तत्व 'सामंजस्य' ही तो है। सामंजस्य का यह गुण साथ-संगत में भी अंतर्निहित है। जैसे गायन, वादन, एवं नृत्य इन तीनो में से यदि कोई एक मुख्य प्रस्तुतीकरण के स्थान पर हो तो अन्य उसके अनुरूप साथ अथवा संगत करते हैं। मुख्य धारा को सहाय रूप हो जाते हैं। गायन के प्रस्तुतीकरण में संगत हेतु ताल वाद्य एवं स्वर वाद्य भी दृष्टिगत होते है। यहां गायन के अनुरूप सारंगी अथवा हरमोनियम वादक साथ-साथ चलता है एवं ताल वाद्य वादक संगत के अनुरूप ताल दर्शाते हुए ठेका भरता है। कई बार प्रस्तुतीकरण में कलाकारों के बीच ऐसा मानसिक सामंजस्य स्थापित हो जाती है, कि अगली क्रिया किस प्रकार होगी उसकी अनुभूति दोनों पक्षों को भासित होने लगती है। यही कारण है कि कई बार गायन एवं वादन की क्रिया एक जैसी प्रतीत होती है। यह मानसिक संबंध प्रस्तुतीकरण के स्तर को बहुत ऊंचा कर सौंदर्यनुभूति को उच्चस्तर पर पहुंचाता है।

7) नवीनताःदिने-दिने नवं-नवं नमामि नन्दसम्भवम्॥

- कृष्णाष्टकम् श्लोक क्र. 5

नित्य नवीनता उत्सफूर्तता एवं आनंद का द्योतक है। कला में यह गुण मनुष्य को कला की ओर बार-बार आकर्षित करते हैं। हम भगवान का दर्शन रोज करते हैं और हमें हर दिन एक नवीन आनंद एवं सुख की अनुभूति होती है। किसी प्राकृतिक सौंदर्य का चित्र हमे बारंबार मोह लेता है। भगवन नाम का नित्य जप-कीर्तन हमें नित्य नवीन सूख प्रदान करता है।

कलाकार अपनी प्रत्येक प्रस्तुति में निश्चित किए हुए राग में नए नए स्वर संयोजन से उस राग को सजाता है। प्रत्येक प्रस्तुतीकरण में उपज अंग (जो पूर्व निर्धारित न हो) से श्रोताओं में जिज्ञासा को बनाए रखता है, जिससे श्रोताओं और कलाकार दोनों में नित्य नवीन सौंदर्य की अनुभूति होती रहती है। हमें एक ही राग बार-बार सुनने पर हर बार कुछ नया और अलग लगता है। गायक कलाकार भी एक ही राग को हर बार नवीनता से गाता है। एक ही राग अथवा बंदिश भी अलग-अलग कलाकरों के प्रस्तुतीकरण में भिन्नता एवं नवीनता का अनुभव कराते हैं। यही स्वर एवं ताल वाद्य में भी अनुभव होता है। एक ही वाद्य पर एक ही प्रकार की बंदिश

के प्रस्तुतीकरण में अलग-अलग कलाकरों में भिन्नता एवं नवीनता दिखाई देती है। इससे बढ़कर एक की वाद्य पर एक ही बदिश एक ही कलाकार के प्रस्तुतीकरण में हर समय नवीन प्रतीत होती है।

8) **विविधताः** विविधता का गुण किसी भी कला में आकर्षण को बनाए रखता है और आकर्षण के बिना कला में सौंदर्य की कल्पना कठिन है। कला में विविधता की कमी हो तो आस्वादक में उपभोग की रुचि कम होने लगती है। कलाकार भी अपनी कला में विविधता का सर्जन करते रहते हैं। संगीत कला की तीनों विधाओं में विविध प्रकार की शैलियां है। जैसे गायन में प्रबंध, ध्रुपद धमार, ख्याल, छोटा ख्याल, तराना, ठुमरी, कजरी चैती, टप्पा, ग़ज़ल, लोकसंगीत, फिल्मसंगीत आदि प्रकार है। इन सभी में शास्त्रीय गायन के अनुसार आलाप, तान, बोलतान, गमक, खटका, मुर्की जैसे विविध तत्व अंतर्निहित है। वादन में भी विविध प्रकार के वाद्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियां है, इनका प्रयोग कलाकार अपनी क्षमता अनुसार करता है। इसी प्रकार स्वर एवं ताल वाद्यों के विभिन्न प्रकार है इनमे मुख्य 4 प्रकार हैं- तत (तत, वितत), सुषिर, घन, अवनद्य। इन सभी का नाद वैविध्य संगीत को विविधता के गुण से संपन्न करता है। ये सभी संगीत कला में एक दूसरे के पूरक बनते है। नाद विविधता से पूर्ण यह वाद्य रूपी पुष्प गुच्छ संगीतकला को सौंदर्य से परिपूर्ण करता है। नृत्य में भी कत्थक, भरतनाट्यम, ओडिसी, कथकली आदि प्रकार पाए जाते हैं। इन प्रकारों में भी भिन्न-भिन्न शैलियों में नृत्य का प्रावधान है। इन सबके अतिरिक्त कलाकार के प्रस्तुतीकरण के भिन्न विचार भी संगीत में विविधता को उत्पन्न करते है।

9) **भावः** संगीत भाव संप्रेक्षण का सबसे अधिक प्रभावशाली माध्यम है। संगीत से भाव जाग्रत होते है और भावों से रस निष्पत्ति होती है। यह ऐसा तत्त्व है कि उपरोक्त सभी तत्त्व किसी कला में हो परन्तु यदि भावतत्व ना हो तो वह कला निष्प्राण (चेतनाहीन) है। प्रत्येक कलाकार एवं श्रोता का संगीत के साथ जुड़ाव का मुख्य कारण भावों की अभिव्यक्ति ही है। वैसे तो सभी कलाएं भाव के बिना अपूर्ण है। परंतु संगीत के साथ मनुष्य का बंधन इसलिए भी अधिक है, क्यूंकि संगीत उनके भावों को उजागर कर संप्रेषित करने का सबसे त्वरित और सुलभ साधन है। इसीलिए ही संगीत हमारे दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों एवं जीवन के प्रत्येक प्रसंग में इस प्रकार अंतर्निहित है, जैसे शरीर में प्राण।

10) **दिव्यताः** संगीत की साधना करते—गायक अथवा वादक के स्वर निखरने लगते है, जैसे खदान से हीरे का टुकड़ा निकालकर जैसे-जैसे उसे तरासते है, वैसे-वैसे उसकी चमक बढ़ती जाती है। यही प्रक्रिया अवनद्य वाद्यों की भी है। उनके नाद में ओज विकसित होने लगता है। संगीत में गायन, वादन में यही चमक, ओज को हम दिव्यता कह सकते है। यह संगीत की दिव्यता सबके भीतर नहीं पाई जाती। स्वर,ताल द्वारा संगीत की साधना करते हुए जब साधक उस परम नादब्रह्म में डूबने लगता है उतना ही उसका संगीत दिव्य है। यह गुण मुख्यतः उन सात्विक प्रकृति के लोगों में पाया जाता है, जो संगीत को ईश्वर की तरह पूजते हैं अथवा ईश्वर प्रीतिअर्थ संगीत करते हैं। उनका संगीत धनोपार्जन के लिए अधिक न होकर ईश्वर के लिए होता है। जैसे स्वामी हरिदासजी, मीराबाई, नरसिंह मेहता, कबीरजी, चैतन्य महाप्रभु आदि।

निष्कर्षः प्रत्येक कलाकार एवं कला के मध्य वह प्रक्रिया अर्थात साधना का महत्त्व अधिक है। यह कला-साधना ही कलाकार को अपने साध्य शुद्ध संगीतक्रिया करने में सफल बनाती है। इस संगीत कला की साधना में कलाकार उपरोक्त विभिन्न सौंदर्य तत्वों को सिद्ध करता है। इसी संपूर्ण प्रक्रिया को अभ्यास अथवा रियाज़ कहते हैं। एक दीर्घकाल के सही अभ्यास से संगीतकार अपनी संगीत की प्रत्येक रचना की प्रस्तुति में सौंदर्य निर्माण करता है। जिससे वह खुद भी आनंदित होता है एवं श्रोताओं को भी आनंदनुभूति कराता है।

संगीत कला में भाव एवं तकनीकी संयोजन आवश्यक है। सभी तकनीकी तत्वों का मूल उद्देश्य यही है कि प्रस्तुतिकरण से भाव जागृति, रंजकता को उत्पन्न करे। अभ्यास द्वारा यह सभी तत्व इतने अंतस्थ हो जाते है कि फिर कलाकार में सिर्फ भाव उदय हो, तो वैसे ही सारे सौंदर्य तत्व उसे सुंदर बनाने हेतु तथा उस भाव को अपनी कला में रूपांतरित हेतु तकनीकी रूप से सहायरूप होते हैं। कला में

गुरु से प्राप्त विद्या का अभ्यास करते समय शिष्य शारीरिक क्रिया के साथ अपने बौद्धिक विचार एवं कल्पना का संयोजन इसीलिए आवश्यक है। बौद्धिक विचार एवं कल्पना का से तात्पर्य यही है कि अपनी कला में रंजकता, आकर्षण कैसे निर्माण करें। यही संगीतकला में सौन्दर्यतत्वों की भूमिका है। इन सभी तत्वों के संयोग-वियोग, भाव-विभाव, विचार और क्रिया से सौन्दर्य की आह्लादक अभिव्यक्ति की निर्मिति होती है।

संदर्भः

1. संगीत दर्शन, जैन विजय लक्ष्मी जैन, पृ. 26
2. बृहद्देशी
3. आवर्तन, तलवलकर पं.सुरेश, पृ 5
4. संगीत और सौंदर्य (लेख), संगीत, सितम्बर 1966
5. भारतीय संगीत का सौंदर्य विधान, मधुरलता भटनागर, पृ. 43
6. संगीत दर्शन, जैन विजय लक्ष्मी, पृ. 25
7. तबला वादन में निहित सौन्दर्य, माइनकर पं सुधीर, पृ. 56

संदर्भ ग्रंथः

1. भटनागर मधुरलता/भारतीय संगीत सौंदर्य विधान/एडिशनः1994/हिंदी माध्यम कार्यान्वय, निदेशालय, दिल्ली यूनिवर्सिटी
2. जैन विजय लक्ष्मी/संगीत दर्शन/प्रथम संस्करण 1989/राजस्थानी ग्रन्थागार सोजती गेट के बाहर जोधपुर
3. कालरा श्रुति/ सौंदर्यशास्त्र के मूलाधार/प्रथम संस्करण 2011/कनिष्क प्लब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली 110002/ISBN: 978-81-8457-282-7
4. टंडन पूरनचंद/ सौंदर्य विमर्ष/
5. नागेन्द्र/भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका/प्रथम संस्करण 1974/नेशनल पब्लिकेशिंग हाउस दिल्ली
6. तलवलकर सुरेशजी/आवर्तन/ ISBN: 978-81-7434-784-8
7. तबला वादन में निहित सौन्दर्य/सरस्वती पब्लिकेशन

संगीत एवं आध्यात्म की समन्वयता

नीतू तिवारी

शोध सारांश

भारतीय जीवन-दर्शन की मूलभित्ति सदैव आध्यात्मिकता रही है। परमतत्व के अनुसंधान की चेष्टा हमारे सभी प्रयासों को चिरकला से निरन्तर अनुप्राणित करती रही है। आध्यात्म के रंग में रंगकर हमारे मनीषियों ने प्रत्येक रूप में सर्वत्र दिव्यसत्ता (आध्यात्मिकता) का साक्षात्कार किया है। भारतीय मनीषियों की अन्तर्भावना ने भी समस्त प्रक्रियाओं में अध्यात्म को खोजने का प्रयास किया है, पुरातन समय की यज्ञ-परम्परा के पीछे यही निगूढ़ तत्व निहित है। यज्ञों के अन्तर्गत सामगान का भी यही उद्देश्य रहा होगा। पुरातन जन संगीत की धुनों की आध्यात्मिक साधना के लिए प्रयोग वैदिक संगीत का वैशिष्ट्य माना जा सकता है। नाद की विविध विधियों का रहस्य परमानन्द में विलीन होने में है। आहत नाद से लेकर अनाहत नाद की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया योगमार्ग के नादानुसंधान तथा लययोग की विशिष्ट साधना है। इस प्रकार संगीत की साधना स्वर ब्रह्म की साधना है जो कि आत्मनिमज्जन की साधना है, जिसमें साधक अनिवर्चनीय आनन्दावस्था में पहुँच जाता है। संगीत अंततः मानव की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक होता है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप तो संगीत शान्त मस्तिष्क हेतु केवल मनोविनोद का साधन नहीं, वरन् ईश्वर के अनुसंधान में परम मंगल का विधायक है।

शब्द कुंजी *- संगीत, नाद, भक्ति, आध्यात्म, ईश्वर।*

भूमिका-

संगीत कला का विकासगत स्वरूप भले ही मानव की सहज भावनाओं एवं अदम्य प्रेरणाओं के अभ्यन्तर हुआ परन्तु उसका मूल उत्स अध्यात्मिकता के पुट में ही हुआ प्रतीत होता है। आध्यात्मिक अभिव्यंजना भारतीय संगीत की स्तम्भभूमि रही है। यद्यपि भारतीय संगीत का आत्मतत्व आध्यात्मिकता है और आध्यात्मिकता ही भारतीय सांगीतिक आत्मा का अलौकिक शृंगार है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि संगीत साधना से आध्यात्मिक विकास के द्वारा ही ईश्वर को प्राप्त करते थे। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से संगीतकला सर्वोच्च है। आध्यात्मिकता का मूल एकाग्रता में है। संगीत को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि का साधन माना गया है। भारतीय संगीत में भावनात्मक एकता के तत्व भी दृष्टिगत हैं जो आध्यात्मिक इकाई के पूरक अंश हैं। संगीत को कहीं ईश्वर प्राप्ति का मार्ग तो कहीं उसे साक्षात् ईश्वर का पर्याय। इसी कारण संगीत को आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का साधन मानकर उसकी भी उपासना की गई है। संगीत विभिन्न धर्मों के भक्ति मार्गों को अन्तिम लक्ष्य की ओर ले जाने में सहायक है। संगीत द्वारा साध्य तथा साधक दोनों ही परम सुख प्राप्त करते हैं। अन्य कलाओं के समान संगीत कला का भी प्रथम लक्ष्य है आत्मसन्तोष अथवा आत्मतृप्ति भारतीय दर्शन में भी कलाओं का अन्तिम लक्ष्य चरम आनन्द और पूर्व पार्थिव अवस्था की अनुभूति करना है। संगीत कला मानव के धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं कलात्मक पक्षों की सजीव अनुभूति कराने में सक्षम है। जहां संगीत द्वारा आत्मिक विकास होता है, वहीं उससे उत्पन्न

शोध छात्र, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

नाद ऊर्जा द्वारा मानव शरीर, मन तथा आत्मा सभी एक सूत्र में पिरो दिये जाते हैं। प्राचीनकाल से ही भारतीय संगीत प्रत्यक्षतः धर्म आध्यात्म से और अप्रत्यक्षतः दर्शन से जुड़ा हुआ है, क्योंकि सभी का चरम-लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। यही आध्यात्म, दर्शन तथा भिन्न-भिन्न कलाओं का भी लक्ष्य है। यही कारण है कि हम अपनी आध्यात्मिक सत्ता और विश्व की विराट व्यवस्था में सत्य के साथ सुन्दर और शिव से प्रत्यक्ष होते हैं और जीवन जीने योग्य बन पाता है। कला का मूल्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' समस्त मूल्यों का सारभूत स्रोत है। भारतीय दृष्टिकोण में परम सुख-रसानुभूति = सद्यः परनिवृत्ति = ब्रह्मनन्द सहोदर यह सब कला, विशेषकर संगीत के माध्यम से सम्भव है।

संगीत कला वास्तव में मन एवं वाणी से परे अनुभव और आनन्द का विषय है। स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा परमात्मा का स्वरूप यानी नादब्रह्म का रसमय प्रवाह ही अन्तिम सत्य है। संगीत नादब्रह्म रूप में उपासना एवं आध्यात्मिक साधना है तथा सत्यं शिवं सुन्दरम् का मूल भी। इस तरह वह भक्ति तथा मुक्ति का साधन है।

विभिन्न दार्शनिक विद्वानों ने अध्यात्म शब्द का अत्यन्त रहस्यात्मक तथा तर्कपूर्ण विवेचन किया है और उसे आत्मा से सम्बन्धित माना है। अध्यात्म शब्द 'ओध' उपसर्ग तथा आत्मन् शब्द से मिलकर बना है। अधि उपसर्ग अधिकार व कारक को सूचित करता है अर्थात् आत्मा से सम्बन्धित विषय अथवा वाद अध्यात्म माने गये हैं।[1]

हिन्दी मानक कोश में अध्यात्म का यह अर्थ दिया गया है कि परमात्मा, आत्मा, आत्मा तथा परमात्मा के गुणों एवं उसके पारस्परिक विषयों के सम्बन्ध में किए जाने वाला दार्शनिक चिन्तन, निरूपण या विवेचन।[2]

अध्यात्म से सम्बन्धित आस्थाएं अथवा मूल्य इस प्रकार निश्चित किए जा सकते हैं- धार्मिक मूल्य, नैतिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य या रहस्यात्मक मूल्य। ये सभी मूल्य मानव को सच्चा सुख या मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक है। जहां साधारण मानव भौतिक मूल्यों, स्थूल उपकरणों के द्वारा शारीरिक सुख, समृद्धि प्राप्त करता है, वहीं दार्शनिक और चिन्तक, ऋषि-मुनि, साधु-सन्त तथा कलाकार आध्यात्मिक मूल्यों के द्वारा सूक्ष्म उपकरणों से परमानन्द का अनुभव करते हैं। यह आनन्द चिरस्थायी, आत्मिक, अनश्वर एवं असीम होता है, जबकि भौतिक सुख क्षणिक, अस्थायी तथा नश्वर होता है। इसीलिए हमारे मनीषियों ने भौतिक सुखों को त्याज्य तथा आध्यात्मिक मूल्यों को स्वीकार्य माना है। भारतीय दर्शन में संगीतादि कलाओं के माध्यम से अलौकिक आनन्द का अनुभव किया जा सकता है और यही कला का अध्यात्म है। वस्तुतः संगीत कला तथा आत्मा एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होते हैं क्योंकि संगीत कला का मुख्य लक्ष्य जनरंजन ही नहीं, भव-रंजन करना भी है जो सांसारिक क्रियाकलापों में दूर परमात्मा से एकाकार कराता है। संगीत साधक या संगीतज्ञ भक्ति के भिन्न-भिन्न अवयवों से परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करता है। वे सांगीतिक अवयवों में अलौकिक दिव्यता एवं आध्यात्मिकता का अनुभव करते हैं।

डा. राधाकृष्णन के अनुसार- संगीत किसी भी संस्कृति एवं सभ्यता की आत्मा है।[3] सुसंस्कृत व्यक्ति के रूप में संगीत की कुछ दीक्षा लेना परम आवश्यक है। लोगों को यह समझना चाहिए कि संगीत आत्मविकास के लिए है। हमारा समाज एवं संस्कृति सदैव धर्म प्रधान रही है। हम अपनी संस्कृति के किसी भी पक्ष का अध्ययन करें तो उसमें अनेक धर्मों के अंश पायेंगे। भारतीय संस्कृति के समान ही संगीत का यह आध्यात्मिक स्वरूप भी सर्वत्र प्रवाहमान है। भारतीय संगीत की उत्कृष्टता एवं अन्तिम उद्देश्य संगीत के इसी रूप में दक्षता प्राप्त करना है। संगीत साधकों ने संगीत की सारगर्भिता एवं उसमें निहित तदाकारता के गुण तथा चिंतन का अनुभव करके ही संगीत को दार्शनिकता एवं आध्यात्मिकता से युक्त माना है। संगीत एवं आध्यात्मिक उत्कृष्टता के सन्दर्भ में डा. लक्ष्मीनारायण गर्ग का कथन है कि 'भारतीय शास्त्रीय संगीत भौतिक विज्ञान न होकर अध्यात्मवाद की संवेदनशीलता है। इसका आनन्द भौतिक संसार से थोड़ा बचकर ही आ सकता है।'4 भारतीय संगीत एवं धर्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। जैसे कि ईश्वरोपासना हेतु अलग संगीत से अच्छा माध्यम और क्या हो सकता है।

प्रार्थना, स्तुति, आराधना सभी संगीत के रूप में सामने आए इसीलिए संगीत का आधार धर्म माना जाता है। संगीत के सप्त स्वरादि ओंकार के ही अन्तर्विभाग है। वैदिक काल में आर्य लोग अपने देवताओं की उपासना संगीत के माध्यम से ही करते थे। यजुर्वेद में उन मंत्रों का संकलन है जिनका गायन यज्ञादि के अवसर पर कर्मकाण्डादि के लिए होता था। सामवेद तो पूरा ही संगीतमय है। मूलरूप से वैदिक काल में संगीत का आध्यात्मिक रूप ही प्रखर था।

संगीत में ईश्वरीय साक्षात्कार कराने की असीम शक्ति निहित है जिसका अनुभव हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों और योगियों ने किया है। संगीत के स्वर तथा लय मन को एकाग्र करके इतना अधिक तन्मय एवं तल्लीन तथा स्थिर कर देते हैं कि हृदय की अन्य समस्त चंचल वृत्तियां तिरोभूत होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। संगीत आत्मा की सात्विक खुराक मानी जा सकती है। संगीतात्मक नाद मानव मन की पुकार है जो स्वयं अविकारी होने के साथ-साथ विकारों का नाशक भी है। भारतीय संगीत का परम मन्तव्य ही है कि मन का मोचन इस तरह करना कि वह लौकिक बंधनों से मुक्त होकर उस सात्विक स्थिति का अनुभव करे जहां चंचलता स्वयं व्यक्त हो, अडिग ध्यानावस्था आ जाए और ध्यानस्थ मन आत्मा के अमृत वैभव का साक्षात्कार करे। हमारे अखिल अस्तित्व का अनुरणन, अनुगुंजन और स्पन्दन नाद संगीत है जिससे हमारे चेतन-अचेतन, तन-मन बुद्धि के प्रत्येक पक्ष में शान्ति के आनन्दमय स्रोत फूटते हैं। नाद की मधुरता में ऐसी शक्ति है कि वह एक दृढ़ रज्जु के समान है जो भक्त के हृदय को ईश्वर के साथ इस प्रकार बांध देती है कि वह अपने साधनाकाल में बाह्य भोगों की ओर ध्यान हीं नहीं दे पाता और अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ तादात्म्य करके आत्मिक आनन्दानुभूति का रसास्वादन करता है। यद्यपि भक्तिपरक गीतों द्वारा आहत नाद की सिद्धि होकर अनाहत की उपलब्धि भी सहज ही हो जाती है। परम आह्लाद के साथ परम तृप्ति का भी अनुभव है भक्ति संगीत। भक्ति की निर्गुण विधा में भक्त ईश्वर के स्वरूप का ध्यान न करते हुए केवल उसकी सत्ता का चिन्तन करता है। तथापि इसका आधार ओम या प्रणव की ध्वनि ही है जिसकी उपासना प्रणवोपासना कहलाती है।

संगीत जैसी भावमययुक्त कला में आत्मा के अनुभाव ही सौन्दर्य के रूपों में साकार होते हैं। भावों के वैभव के साथ-साथ भावमयी कला में सौन्दर्य भी उत्कृष्ट रूपों में निखरता है। रूप सौन्दर्य को अत्यधिक महत्व देने वाले कलाकार भाव को गौण मानते रहते हैं। परन्तु उत्कृष्ट रचनाएं वे ही ठहरती हैं जिनमें शिव और शक्ति के साम्य की तरह भाव और रूप का उच्चतम् साम्य होता है। संगीत में भाव और रूप का साम्य उसकी श्रेष्ठता को सर्वोपरि बनाता है। संगीत का मुख्य या शुद्ध स्वरूप स्वर विधान ही है परन्तु साथ ही उसमें भाव और स्वर का समृद्ध समन्वय भी है। ख्याल, ठुमरी, गीत, गज़ल, भजन आदि रूपों में स्वर संयोजन की भिन्न-भिन्न भंगिमाओं के द्वारा भाव के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति ही प्रधान है। श्रुति, स्वर, ताल, राग, वाद्य प्रवृत्ति से देवी-देवताओं के सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं। नारदीय शिक्षा में स्वरों के देवता और वर्णादि के नाम दिये गये हैं। प्रतिशाख्यों में भी संगीत के वर्णन में देवताओं का नामोल्लेख मिलता है। भगवान शंकर के डमरू की ध्वनि से जहां पाणिनी के चौदह माहेश्वर सूत्रों का सूत्रपात हुआ, वहां समस्त संगीत का भी प्रादुर्भाव हुआ। यह भी सर्वविदित है कि तांडव और लास्य के आदिगुरु भगवान शंकर और पार्वती हैं। भगवान श्रीकृष्ण तो मानों संगीत के साक्षात् अवतार ही हुए आज भी यदि संगीत कला से श्रीकृष्ण को अलग कर दिया जाये तो पात-पुष्पविहीन शुष्क वृक्ष के समान कला का स्वरूप शेष रह जायेगा। राधाकृष्ण लीला सम्बन्धी अनेकानेक रचनाओं ने भक्ति संगीत का सृजन किया है। वल्लभाचार्य और उनका अष्टछाप सम्प्रदाय अपने कीर्तन-संगीत के लिए प्रसिद्ध है। इस अष्टछाप सम्प्रदाय का साहित्य संगीत की अनेकों राग-रागनियों का अमूल्य कोष है।

निष्कर्ष-

इस प्रकार यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वस्तुतः संगीत कला तथा आत्मा एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होते हैं क्योंकि संगीत कला का मुख्य

लक्ष्य मन रंजन ही नहीं बल्कि भवरंजन करना भी है जो सांसारिक क्रियाकलापों में दूर परमात्मा से एकाकार कराता है। संगीत के द्वारा परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है बशर्ते कला का प्रयोजन आत्मानुभूति हो, संगीत में ये असीम सामर्थ्य है। संगीत द्वारा न केवल परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, वरन् परमात्मस्वरूप को भी प्राप्त किया जा सकता है।

अन्त टिप्पणी-

1. शर्मा, डॉ. सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास, दिल्ली, संस्करण 2010, पृ. 19
2. वही, पृ. 19
3. वही, पृ. 25
4. संगीत मासिक पत्रिका, दिसम्बर 1965, पृ. 59-60

सन्दर्भ सूची-

1. परांजपे शरच्चन्द्र, भारतीय संगीत का इतिहास, संस्करण 1994, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी।
2. मुसलगांवकर डा. विमला, भारतीय संगीतशास्त्र का दर्शनपरक अनुशीलन, संस्करण 1995, संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता।
3. शर्मा डॉ. सुनीता, भारतीय संगीत का इतिहास, संस्करण 2010, संजय प्रकाशन, दिल्ली।
4. वर्मा डॉ. राजीव एवं पारीक डॉ. नीलम, भारतीय संगीत का आध्यात्मिक स्वरूप, संस्करण 2004, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन, दिल्ली।
5. सचदेव डॉ. रेनू, धार्मिक परम्पराएं एवं हिन्दुस्तानी संगीत, संस्करण 1999, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
6. श्रीवास्तव, डॉ. संगीता, उत्तर भारत की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में संगीत, संस्करण 2014, समवेत रामबाग, कानपुर।
7. शास्त्री ईना, संगीत प्रवाह भाग 2, संस्करण 2018, नवजीवन पब्लिकेशन, टोंक, राजस्थान।
8. गुप्ता डॉ. रूचि, भारतीय संस्कृति, संस्करण 2006, कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

संगीत के द्वारा आपराधिक मनोवृत्ति पर नियंत्रण

प्रो. पुष्पम नारायण*, नीतिश रंजन**

सारांश

संगीत जिसे पृथ्वी पर ईश्वर का वरदान माना गया है, एक ऐसी विद्या है जिससे मनुष्य एवं अन्य जीव-जंतु भी कई प्रकार से प्रभावित होकर लाभान्वित होते रहे हैं। जन्म-मृत्यु एवं जीवन के हरेक पड़ाव पर संगीत का महत्व प्राचीन काल से ही देखा जा रहा है। यह सिर्फ मनोरंजन का ही स्रोत नहीं अपितु मनुष्य के हरेक संस्कार में उपयोग में लाया जाता है, इसका मूल उदाहरण गाँव के संस्कार गीतों में मिलता है। संस्कार गीतों ने हमारे संस्कार को हमेशा सकारात्मकता के रूप में दर्शाया है जो हमें संस्कारित करता है, परंतु अपराधी और अपराध उतने ही प्राचीन है जितना कि स्वयं मानव समाज। हमारा समाज आज पूरी तरह से अपराध की चपेट में है। अब आर्थिक क्षेत्र के अन्य गतिविधि की तरह ही आपराधिक गतिविधि का भी व्यवसायीकरण ग्लोबलाइजेशन हो गया है और अपराध करने के नए-नए तरीके भी इजाद हो रहे हैं। उसी प्रकार अपराधों पर नियंत्रण पाने के लिए विधि विज्ञान विधिवत् अपने संस्थानों में फॉरेंसिक साइंस पर रिसर्च व ट्रेनिंग कोर्सेज चला रही है। जिनमे नवयुवक ट्रेनिंग पाकर आपराधिक नियंत्रण एजेंसियों, पुलिस, सीबीआई में अपने कैरियर बनाने के अवसर पा सकते हैं। यह सभी बातें तो अपराध पर नियंत्रण के हैं वो भी एक दंड प्रणाली के द्वारा। परंतु प्रस्तुत शोध प्रपत्र का उद्देश्य संगीत के द्वारा आपराधिक मनोवृति पर नियंत्रण से है, जिसे बाल अपराध के साथ जोड़कर प्रस्तुत करना एक प्रयास हैं।

मुख्य बिंदु : *आपराधिक, मनोवृति, संगीत, शिक्षा, अपराध, बाल*

प्राचीन काल से आज तक संगीत का महत्व समाज में उच्च स्थान पर रहा है। इसकी ध्वनियों में वह ताकत है जिससे वह किसी के भी मन बुद्धि आत्मा को झकझोर कर उसमें चैतन्यता व शुद्धता ला सकती है। परंतु जब इसे सीखने व करने की बात आती है तो लोगों की मानसिकताओं में विभिन्न प्रकार की विविधता देखने को मिलती है। कुछ लोग इसे मनोरंजन का साधन मानते हैं, कुछ लोग इसके चिकित्सा प्रभाव से लाभान्वित होते हैं और कुछ लोगों के लिए यह एक व्यर्थ एवं ऐसी बेकार विधा है जिसका कोई उपयोग हमारे समाज में नहीं है। जहां इस तरह के विविधता के बीच संगीत जूझ रहा है वहीं बुद्धिजीवी वर्ग इससे लाभ पाने के अनेकों आयाम ढूंढ रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में इसे विषय के रूप में रखकर वैसे विद्यार्थियों को लाभ दिया जा रहा है जो मन एवं आत्मा से शुद्ध एवं संस्कारित हैं। आज इसकी पढ़ाई एम-एए पी.एच.डी. इत्यादि तक पहुंच चुकी है और इसके अनेकों शोध करके तरह-तरह से मनुष्यों एवं अन्य जीवो को लाभान्वित किया जा रहा है। कहते हैं कि—देश में कोई बड़ा बदलाव करना हो तो सबसे पहले उसकी शिक्षा नीति को बदलना चाहिए। इसलिए भारत में 34 वर्षों के बाद

* शोध निर्देशिका, (विभागाध्यक्ष), संगीत एवं नाट्य विभागए ललित कला संकाय, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय दरभंगा, बिहार 846004, मो. 9430063265, E-mail: npushpamji@gmail.com

** शोध छात्र संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित कला संकाय, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय दरभंगा, बिहार-846004, मो. 8130871619, E-mail: nitish19caranjan@gmail.com

नई शिक्षा नीति की घोषणा हुई है। अब तक भारत में शिक्षा व्यवस्था 10+2 के फॉर्मेट पर चलती थी परंतु अब इसे 5+3+3+4 के फॉर्मेट में बदल दिया गया है। संगीत विधा से जुड़े इसके उपासकों के अथक परिश्रम द्वारा इसे सरकार ने अपनी नई शिक्षा नीति में मुख्य विषय बनाकर एक विशेष दर्जा दिया है, जो अत्यंत सराहनीय है। नई शिक्षा नीति में संगीत को एक स्वतंत्र विषय के रूप में रखा गया है, जिससे विज्ञान, वाणिज्य और कला के विद्यार्थी भी संगीत को एक मुख्य विषय के तौर पर अपना सकेंगे। आने वाले समय में स्कूली स्तर पर भी संगीत के विभिन्न विधाएं पढ़ाई जाएंगी व 4 साल का B.Ed कोर्स भी होगा। इसका परिणाम यह होगा कि इस क्षेत्र में नौकरी का अवसर बढ़ जाएगा। संगीत एक प्रदर्शन कला है इसलिए नई शिक्षा नीति में इसे विभिन्न अंगों में बाटकर वृहद तरीके से पढ़ाने का विचार किया गया है। जैसे—संगीत के शास्त्र पक्ष, म्यूजिकोलॉजी, शोध व संगीत का संबंध अन्य विषयों जैसे— भौतिक विज्ञान, दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान इन सब के साथ जोड़कर पढ़ाया जाएगा। वैसे अभी भी इसकी पढ़ाई इन सभी विषयों से जोड़कर होती है पर उतनी वृहद तरीके से नहीं होती। इसलिए नई शिक्षा नीति में बहुत विस्तृत तरीके से इसे पढ़ाया जाएगा, जिसके लिए पाठ्यक्रम तैयार किया जा रहा है। संगीत में कई कार्य हैं जो व्यवसाय के रूप में भी अपनाए, जा सकते हैं और अपनाए, भी जाते हैं। परंतु नई शिक्षा नीति लागू होने के बाद इसे एक वैधता प्रदान होगी, जिससे छात्र की संख्या इसके अनेक आयामों में बढ़ जाएगी जैसे—आजकल इस विधा में रिसर्च भी हो रही है एवं साउंड रिकॉर्डिंग भी, जिससे विद्यार्थी इसे सीखकर व्यवसाय हेतु अपने चैनल व रिकॉर्डिंग स्टूडियो बनाकर कमा सकते हैं। संगीत चिकित्सा भी एक बहुत बड़ा आयाम के रूप में सामने आ रही है। जिससे आज बहुत सारे बड़े-बड़े हॉस्पिटलों में संगीत द्वारा चिकित्सा उपलब्ध कराई जा रही है और इसका बहुत ही सफल प्रयोग साबित होता दिख रहा है। इस प्रकार नई शिक्षा नीति में एक क्रांतिकारी बदलाव देखने को मिली है। जिसका लाभ निश्चित रूप से संगीत के विद्यार्थियों को मिलेगा। वोकेशनल ट्रेनिंग के अंतर्गत इवेंट मैनेजमेंट, हस्त कौशल, शास्त्रीय, उप शास्त्रीय, क्षेत्रीय व लोक संगीत, लोक कलाकार, लोक परंपरा को भी प्रधानता दी गई है। अन्य विषयों के समान जीडीपी के 6.30% संगीत शिक्षा पर खर्च होगी व छात्रवृत्ति की संख्या बढ़ाई जाएगी। उच्च विद्यालय, विश्वविद्यालयों में संगीत को मुख्य चार विषयों में जोड़ा जाएगा इस प्रकार संगीत, नृत्य, नाटक, चित्रकला मुख्य विषय बन जाएंगे। भारतीय संगीत भारत की संस्कृति का एक प्रमुख अंग माना जाता है। नई शिक्षा नीति ने इसे मुख्य विषय बनाकर अनाथ होने से बचा लिया। जिस प्रकार शरीर मरता है, आत्मा नहीं उसी प्रकार संगीत जन्म लेती है मरती नहीं। यह पौराणिक काल से आधुनिक काल तक चराचर में व्याप्त है और रहेगी। यह एक अनंत क्रिया है जो ज्योत के समान पूरे सृष्टि में अलख जगाते चल रही हैं।[1]

यहाँ हमारा विषय है आपराधिक मनोवृत्ति पर नियंत्रण जिसे मैं बाल अपराध के साथ जोड़कर प्रस्तुत करना चाहता हूं।

अपराध एक अनुवांशिक अपराध है बाल अपराध एक अनुवांशिक अपराध है, जोकि मनुष्य के शरीर में रोगों की भांति पूर्वजों से प्राप्त होती है जिसके कारण जन्म के साथ ही बच्चा अपराधिक वृत्ति का होता है।

भारत में 7 वर्ष से लेकर 17 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों द्वारा किए गए समाज विरोधी कार्य को बाल अपराध कहते हैं। बालक की परिभाषा का संबंध विशेष आयु से है। आयु एक देश से दूसरे देश में भिन्न भिन्न है। भारत, पाकिस्तान, मायन्मार और श्रीलंका में 7 वर्ष से कम आयु के बच्चों द्वारा किया गया कोई भी समाज विरोधी कार्य बाल अपराध की सीमा में नहीं आता है।[2]

आयु तथा अपराध का चक्र

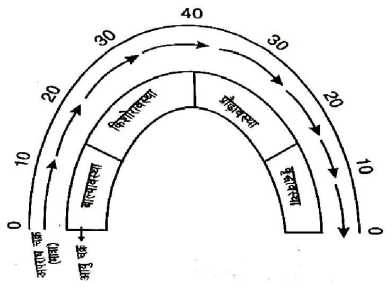

प्रत्येक बालक में लड़कपन होता है नटखटपन होता है, यह उसका प्राकृतिक स्वभाव है। किंतु किसी-किसी बालक में नटखटपन, उधमबाजी करना, दूसरे की वस्तु का नाश करने के अवगुण अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाता है तब यह नटखटपन, उधमबाजी कानून का उल्लंघन करता है या जनकल्याण में बाधा उत्पन्न करता है तो इसे ही बाल अपराध के नाम से जाना जाता है।[3]

प्रकाशन विभाग, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'सेज़ल वेलफेयर' नामक पत्रिका में बाल-अपराध के कारणों के लिए निम्न तालिका प्रस्तुत की गई है–

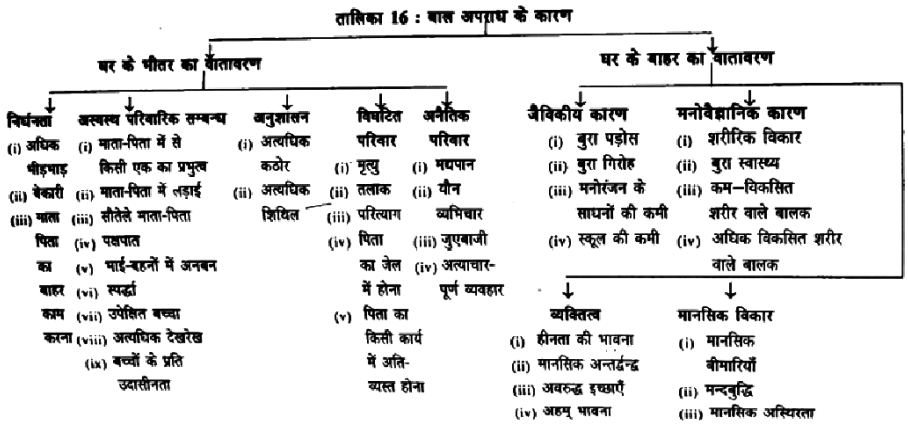

बाल अपराध के सामान्य लक्षण के अलावा भी बाल अपराधियों में कुछ अन्य विशेषताएं भी पाई जाती हैं जिनका अपराध से संबंध है इन विशेषताओं में दुर्व्यवहार, चोरी, आलसीपन, लड़ाकू, आक्रमणकारी, अत्यधिक स्वार्थी, विध्वंसकारी, निर्दयी, पहनावे की अधिक परवाह, आदतन अनाज्ञाकारी, मूडी, भययुक्त, बेईमानी, डिंग मारना, विरोधी, घृणा से पूर्ण आदि मुख्य है और यह सारी बुराइयां बच्चों में केवल उसके परिवार एवं समाज के द्वारा उपेक्षा करने के कारण ही पनपती है जो उसे अपराध की ओर धकेलती है।[4]

कानून का उल्लंघन आधुनिक समाज की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। कानूनों का उल्लंघन तब होता है जब समाज में तीव्रता से परिवर्तन होती है, साथ ही सामाजिक विघटन विशाल पैमाने पर होता है। आधुनिक समाज में निम्नलिखित कारणों से कानून का उल्लंघन होता है और अपराधों की संख्या में वृद्धि होती है–

1) जनसंख्या की वृद्धि
2) कानूनों की विविधता
3) कानून लागू करने वाले साधनों का विस्तार
4) रहन-सहन के जीवन में परिवर्तन
5) कानून के पुराने स्वरूपों की अपर्याप्तता और
6) सामाजिक परिवर्तन तथा समाज की जटिलता।

उपर्युक्त तत्वों के कारण समाज में कानूनों का उल्लंघन होता है। यह कानूनों का उल्लंघन दो प्रकार का होता है-

1) जागरूक अवस्था और
2) अजागरूक अवस्था में।[5]

कानूनों का उल्लंघन चाहे वह जागरूक अवस्था में हो या अजागरूक अवस्था में इससे समाज का नुकसान होता है। कभी-कभी कानून की जटिलता और गति की अज्ञानता के कारण भी कानूनों का उल्लंघन होता है किंतु बाल अपराध वह समाज विरोधी क्रिया है जो जागरूक अवस्था में इरादे के साथ की जाती हैं। आजकल बालक व बालिकाओं में एक ऐसी आदत का विकास होता जा रहा है जिससे कानून का उल्लंघन करने में उन्हें आनंद का अनुभव होता है।[6]

कहा गया है–''संगत से गुण होत है संगत से गुण जात'' अर्थात संगति कैसा (समाज, दोस्त, परिवार) इत्यादि कैसा है उससे मनुष्य के व्यक्तित्व

पर बहुत असर पड़ता है और यही बात बालको बच्चों पर भी असर पड़ता है।

संगति के आधार पर आवारा बालकों को तीन भागों में बांटा है–

1. वे आवारा बालक जिनकी कोई निश्चित संगति नहीं है
2. वे आवारा बालक जो अंशतरू गैंगों से संबंधित हैं
3. क्रियाशील गैंग जीवन व्यतीत करने वाले आवारा बालक। इसके अतिरिक्त व्यस्को के गैंग में भी बालक का महत्वपूर्ण स्थान रहता है।[7]

बाल आवारापन को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि बालकों के लिए स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था होनी चाहिए उन्हें वीर महापुरुषों की कहानियां एवं ऐतिहासिक घटनाओं के संबंध में जानकारी करानी चाहिए। क्योंकि बालकों में जिज्ञासा की प्रवृति विलक्षण होती है, जो कार्य कारण जानने को प्रेरित करती है। इसके फलस्वरूप नैतिक भावना का संचार होता है और व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति सचेत जागरूक होता है। बालकों का स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए उन्हें खेलों की ओर प्रोत्साहित करना चाहिए।

अभिभावक को ध्यान देना चाहिए कि गलत साथियों संगत में उनका बच्चा लिप्त ना हो। परिवार का स्नेहपूर्ण प्यार स्वस्थ मनोरंजन और अच्छे साथी ही आवारा बालकों को सही रास्ते पर लाने में सहायक हो सकते हैं। 1979 को अंतरराष्ट्रीय बाल दिवस के रूप में मनाया गया जिसमें बालकों के सर्वोत्तम विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई तथा जिसके लिए बच्चों की मुस्कान राष्ट्र की शान[8] हैप्पी चाइल्ड नेशन प्राइड का नारा दिया गया बालक बच्चा राष्ट्र की धुरी होती है इसलिए यह कहा जाता है कि 'चाइल्ड इज द फादर ऑफ मैन'।[9]

निष्कर्षत

भारत में बाल अपराधों की संख्या में वृद्धि हो रही है जिससे अनेक समस्याओं का जन्म हो रहा है। आज का बालक कल के देश का कर्णधार होता है। उसके कंधे पर परिवार समुदाय और राष्ट्रों का भार होता है। यदि वह पहले से गलत रास्ते पर चलना सीख जाएगा तो देश का उद्धार असंभव हो जाएगा। इसलिए बदलते भारत की परिस्थितियों में बाल अपराध को सामाजिक समस्या के रूप में स्वीकार करना होगा और इसी रूप में इसका निदान भी करना होगा।

समाज के लोगों के काफी प्रयास के बाद भी इन वृतियो पर नियंत्रण नहीं हो पाता और बच्चा सुधार गृह में भेज दिया जाता है। सुधार गृह में कई प्रकार के उपचार एवं प्रवचन से उन्हें सही रास्ते पर लाने का प्रयास किया जाता है पर आंकड़ा उठाकर देखा जाए तो इसकी गति अत्यंत धीमी होती है। अतः इस प्रकार से निराशा पाने के बाद ऐसे बच्चों को संगीत से जोड़कर उनकी मनोवृति में सुधार लाने का प्रयास एक ऐसा मार्ग है जिसे हम दैवीय उपचार का नाम दे सकते हैं। दैवीय इसलिए क्योंकि बाल अपराध जोकि बच्चों से जुड़ा क्षेत्र है, इसे ईश्वरीय चमत्कार से ही सुधार करवा पाना एक सही रास्ता होगा और वही दैवीय शक्ति है संगीत।

भारतीय संगीत की आत्मा, उसकी राग रागिनियां केवल बाह्य रूप से ही नहीं बल्कि व्यक्ति में अंतर्निहित सूक्ष्मताओ और वैशिष्ट्यो को, उसके ह्रदय के प्रत्येक तार को झंकृत करती हुई शरीर और मन के प्रत्येक अणु को अपने स्वर में समाहित कर लेती है। राग विविध मनोदशाओं के द्योतक होते हैं और इसी कारण वे अपनी भावदशा के अनुरूप व्यक्ति के आचरण, क्रिया और थकान पर प्रभाव डालते हैं। सामवेद के मंत्रों के गायन द्वारा असाध्य रोगों का उपचार भी किया जाता था।

संगीत के चरम सिद्धि ने रागों की प्रभावशीलता को इतनी अलौकिक सामर्थ से संप्रकृत कर दिया था कि रागों के द्वारा दीप प्रज्वलित करने तथा वर्षा को बुलाने की संभावनाओं के क्षितिज मनुष्य ने छू लिए थे। इसलिए धीरे-धीरे आज के वैज्ञानिक भी इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि संगीत के माध्यम से मनुष्य और प्रकृति को वशीभूत किया जा सकता है।[11]

न्यूयॉर्क के डॉक्टर एडवर्ड पोरेलास्की और इंग्लैंड के डॉक्टर मित्रों ने अपने अनुभवों के आधार पर बतलाया है कि संगीत के स्वर शरीर में एक विशेष

प्रकार का कंपन पैदा करते हैं जिससे रक्त संचरण तीव्र हो जाता है फलस्वरूप विषैले एवं विजातीय तत्व विचलित होकर निसर्ग मार्गो से निकल जाते हैं जिससे रोगी को स्वस्थ होते देर नहीं लगती।

डॉक्टर विंसेंट पिल ने संगीत को सभी मानसिक तनाव के निराकरण की अचूक औषधि कहा है। उनका कहना है कि संगीताभ्यास के समय चित्त को विश्रांति ही नहीं अपितु आत्म प्रसार भी उपलब्ध होता हैं।

संगीत के प्रभाव को स्वीकार करते हुए श्री उपेंद्र चंद्र सिंह ने 'what is music' में लिखा है—To summarise what is music one can safely say it is a kind of yoga system which acts upon the human organism and awaken and develop their proper functions to the extent of self realisation.[12]

प्लूटो ने कहा है आत्मा के लिए संगीत उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार शरीर के लिए व्यायाम।[13]

संगीत से दुःख, प्रसन्नता, वीरता आदि की भावनाएं प्रभावित होते हैं जो क्षण भर में मनुष्य को रुला और हंसा सकता है। संगीत सुनकर प्रत्येक प्रकार के भाव उत्पन्न किये जा सकतें हैं। जैसे— राष्ट्रगान से हृदय में देश प्रेम की ज्वाला धधक उठती है युद्ध के ढोल नगाड़े, विवाह स्थल पर शहनाई की मधुर गूंज सब मानसिक भावों को उत्तेजित करती है।[14]

संगीत में उपयोगी सातों स्वरों में से कुछ स्वरों का प्रभाव मनःचिकित्सा के लिए किया जाता है, जो मस्तिष्क से नकारात्मक भावनाएं जैसे अकेलापन इत्यादि को दूर करती हैं। इन स्वरों के गायन पश्चात कुछ इस प्रकार एक कंपन, रोगी में पाए जाते हैं जिससे पहले कुछ क्षणों के लिए, फिर कुछ मिनटों के लिए और बाद में वह रोगी पूर्ण रूप से लाभान्वित हो जाता है। हालांकि यह प्रक्रिया बहुत लंबी होती है, परंतु शुरू के कुछ दिनों पश्चात ही रोगी की वृत्तियां सात्विक होने लगती है। इस प्रभाव के बाद उपचार करने वाला उत्साहित होकर अपना प्रयास बढ़ा देता है और अंततः फल की प्राप्ति हो ही जाती है।

देश के कई क्षेत्रों में जहां भी बाल सुधार गृह है, वे संगीतज्ञो से संबंध स्थापित कर उन्हें पारिश्रमिकी देकर इस उपचार हेतु निबंधित करते हैं। इस प्रकार संगीतज्ञो के लिए यह भी एक प्रकार का कार्य क्षेत्र बन गया है।

आज संगीत विद्यार्थियों को कई पायदान ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनको वे अपने जीविकोपार्जन का साधन बना सकते हैं। फिर भी कुछ ऐसे भी संगीतज्ञ हैं जिनकी कला दो वक्त का भोजन भी बड़ी कठिनाई से अर्जित कर पाते हैं। उनके हित में यह कार्य (बाल सुधार पर संगीत एक प्रयोग) काफी हितकारी है, जो उनको रोटी भी दे सकता है और दो वक्त का रियाज भी।

निष्कर्ष

बच्चा समाज की वह अमूल्य धरोहर है जिसके कंधे पर समाज और राष्ट्र का भार होता हैं। बच्चों को यदि समाज की नींव का पत्थर माना जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। बच्चा वह कोमल कली है जिसका यदि ठीक से संरक्षण न किया जाए तो वह फूल बनने से पहले ही मुरझा जाएगी। इसके साथ ही हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि यदि प्रारंभ से सक्षम उपाय न किए गए तो कालांतर में चाहे कितना भी प्रयास किया जाए उसे सार्थक परिणाम प्राप्त नहीं होंगे। अतः समाज का यह मौलिक कर्तव्य है कि बच्चों के पालन पोषण और संरक्षण पर समुचित ध्यान दिया जाए।

बच्चों में किसी भी कला के प्रति अगर रुझान बढ़ा दी जाए तो बच्चों में कलात्मक विकास होने से उनमें व्यर्थ बातों का संचार कम होगा और बच्चे एकाग्रता की ओर बढ़ेंगे जिससे वे समाज के सुधार व समाज के निर्माण में अपना सफल योगदान देकर इसे अपराध मुक्त बना सकते हैं और संगीत कला तो है ही देवीय कला जो अपने अंदर सभी बुराइयों को समाहित कर एक पवित्र व पावन व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहयोग करती है।

संदर्भ

1. प्रो. डॉ. स्वतंत्र शर्मा के द्वारा इन्टरनेट के माध्यम से, नई शिक्षा नीति में भारतीय संगीत विषय पर दिए

गए वक्तव्य के विडियो के आधार पर।
2. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 190
3. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 191
4. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 200
5. बघेल डॉ.डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 226
6. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 227
7. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 175
8. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 179
9. बघेल डॉ. डी.एस. अपराधशास्त्र, विवेक प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2021, पृष्ठ संख्या 180
10. शर्मा प्रो. डॉ. स्वतंत्र, सौंदर्य, रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2005, पृष्ठ संख्या 203
11. शर्मा प्रो. डॉ. स्वतंत्र, सौंदर्य, रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2005, पृष्ठ संख्या 204
12. शर्मा प्रो. डॉ. स्वतंत्र, सौंदर्य, रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2005, पृष्ठ संख्या 204
13. शर्मा प्रो. डॉ. स्वतंत्र, सौंदर्य, रस एवं संगीत, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली 110007, संस्करण 2005, पृष्ठ संख्या 214

संगीत में अभ्यास का महत्व

डॉ. माधुरी पोद्दार

ललित कलाओं का मुख्य लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है। जिस कला का माध्यम जितना सूक्ष्म होगा, आनन्द का स्तर उतना ही ऊँचा होगा। संगीत कला का माध्यम है ध्वनि अथवा नाद। इस कला का निरूपण कलाकार नाद द्वारा करता है, चाहे वह कंठ संगीत हो, अथवा वाद्य संगीत। पाँचों ललित कलाओं में से केवल गीत ही एक ऐसी कला है, जिसे किसी बाहरी साधनों एवं उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती। संगीत का माध्यम नाद सर्वाधिक सूक्ष्म है, जिस कारण इससे प्राप्त आनन्द सबसे उच्चस्तरीय होता है। संगीतकला का मानव जीवन के साथ गहरा संबंध है। प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय तक मानव जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ गहरा संगीत जुड़ा हुआ है। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ-साथ संगीतकला का भी विकास हुआ।

संगीत जहाँ एक ओर कला है वही दूसरी ओर वह एक विज्ञान भी है। संगीत की प्रदर्शन विधि को कला कहते है और उनके सिद्धांत को विज्ञान कहते हैं। कला अभ्यास की वस्तु है और विज्ञान अध्ययन की वस्तु है। अतः संगीत के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है। संगीत का मूलभूत आधार नाद माना जाता है। यह नादकण्ठ की तन्त्रियों से वायु के आघात के द्वारा उत्पन्न होता है। भिन्न-भिन्न गायकों के कण्ठ की क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। अतः उनकी कण्ठ तन्त्रियों से जो नाद उत्पन्न होते है उनकी आन्दोलन संख्याएँ भिन्न-भिन्न होती है। यही कारण है कि कोई संगीतज्ञ हारमोनियम के पहले काले से कोई दूसरे, कोई तीसरे से अपना स्वरित मानकर संगीत का अभ्यास प्रारम्भ करता है। अभ्यास के द्वारा नाद में घनत्व, आकर्षक तथा माधुर्य आदि गुण उत्पन्न किये जाते हैं।

गायकी में स्वर अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किस राग में किस स्वर के साथ किस दूसरे स्वर की योजना अत्यन्त मधुर, आकर्षक तथा रंजक होती है, इस सभी बातों का विचार स्वर अभ्यास के अन्तर्गत किया जाता है। कुछ संगीतज्ञ स्वर, लय और ताल में गेय पदों को सफलतापूर्वक प्रदर्शित कर संगीत की सर्वोच्च परीक्षा को पास कर अपने को महान् संगीतज्ञ मानकर संगीत का निजी अभ्यास छोड़ देते है। ऐसा करने से उनकी गायकी सीमित हो जाती है। अतः उन्हें चाहिए कि वे जीवन-पर्यन्त प्रतिदिन अनवरत स्वर-अभ्यास करते रहें। अनवरत स्वर-अभ्यास से स्वरों में घनत्व और आकर्षण उत्पन्न होता है। इससे गले की तैयारी में वृद्धि होती है जिससे गायकी अच्छी हो जाती है। बिना स्वर अभ्यास के तीनों सप्तकों के स्वरों का उच्चारण संभव नहीं होता। श्रेष्ठ गायकी के लिए आलाप या तान तीनों सप्तकों के स्वरों में लेना आवश्यक है। तीनों सप्तकों के स्वरों का उच्चारण तभी संभव होता जब संगीतज्ञ अनवरत स्वर-अभ्यास में प्रयत्नशील रहे।

गायन में गीत-रचना का सर्वप्रथम तत्व है स्वर का पूर्ण ज्ञान तथा अभ्यास। शुद्ध-विकृत स्वरों का अभ्यास से गले की तैयारी बढ़ जाती है। गले की तैयारी से गीत-रचना में कण, मींड तथा खटका आदि का प्रयोग सरलता तथा सुविधा के साथ किया जा सकता है। गीत-रचना करते समय गायक सबसे पहले स्वरों में गुन-गुनाता है। जो स्वर-समूह उसे अधिक प्रिय लगता है, उसी स्वर समूह में वह गीत

पटना, मगध वि.वि., बोधगया की अंगीभूत इकाई

के पदों को स्वर- बद्ध करता है। किन्तु यह तभी संभव है, जब गायक अभ्यास द्वारा स्वर पर एकाधिकार प्राप्त कर लेता है।

स्वर, लय और ताल को संगीत का आधार माना जाता है। भाव संगीत में भी यदि भाव के अनुरूप स्वर न लगाया जाय तो भाव उभरता नहीं फीका रह जाता है। गीत में करूणा के भाव हो और उस स्थान पर गाने में कर्कश कठोर स्वर का प्रयोग किया जाय तो वह एक तमाशा ही बनकर रह जायेगा। इसी प्रकार हर गीत की एक स्वाभाविक लय होती है, उसी के आधार पर उसकी धुन या स्वर रचना बनती है। यह लय गीत में अक्षरों की संख्या, मात्राओं या शब्दों के गठन से बदलती रहती है-भाव भले ही वही हों या भिन्न हो। गीत को ताल बद्ध कर देने से स्वर और लय में और भी अधिक निखार आ जाता है। इसलिये भाव संगीत में भी शास्त्रीय संगीत के इन आधारों का उपयोग भावों को उभारने के लिए बड़ी सावधानी किया जाता है। गाने और बजाने दोनों ही अभ्यासों को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है-

(1) स्वर अभ्यास (2) लय अभ्यास।

संगीत में गाने के लिए स्वरों का अभ्यास किया जाना आवश्यक है। पहले शुद्ध स्वरों के सप्तक पर स्वर साधे जायें, फिर अलंकारों का अभ्यास किया जाय। फिर विभिन्न थाटों और उनके अलंकारों का अभ्यास किया जाय। किन्तु इन सामान्य नियमों की बारीकियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। जैसे-

'षडज' स्वर के अभ्यास को रोज काफी समय देना चाहिए। इसके लिए तानपूरे पर 'स' स्वर का अभ्यास शुरू करना चाहिए। यह अभ्यास देर तक करें क्योंकि प्रारम्भ में तो स्वर मिल जाता है पर बाद में धीरे-धीरे कंठ स्वर ऊँचा नीचा होना लगता है। 'षडज' स्वरों सभी का आधार है, इस पर कंठ स्वर स्थिर हो जाने से आगे के अभ्यास भली प्रकार होने लगते हैं।

प्रारम्भ में स्वरों को शुद्ध बोलने पर ध्यान दिया जाय। अरोह और अवरोह में जब तक एक स्वर साफ न निकलने लगे अगले स्वर पर नहीं जाना चाहिए। प्रारम्भिक छात्र मुँह से तो सा, रे, ग, म आदि बोलते रहते हैं, किन्तु स्वर की ऊँचाई नीचाई पर उनका ध्यान ही नहीं जाता। इसके लिए मुँह से सा, रे, ग आदि के स्थान पर केवल 'अ' का उच्चारण करते हुए कंठ को सा, रे, ग आदि स्वरों की ऊँचाई पर ले जाने का अभ्यास किया जाता है।

इसके बाद इसी ढ़ंग से अलंकारों का अभ्यास करना चाहिए। पहले सुगम अलंकार का तथा बाद में कठिन अलंकारों का अभ्यास होना चाहिए। इसी प्रकार पहले शुद्ध स्वरों का अलंकार तथा बाद में विभिन्न थाटों के अलंकारों पर स्वर साधने चाहिए। स्वरों को पहचानने और उनसे कंठ स्वर मिलाने का अभ्यास करना चाहिए। पहले यह अभ्यास पास के स्वरों पर किया जाय तथा बाद में दूर के स्वरों पर जैसे-पहले सा-रे-ग म-प म- ध, आदि। फिर क्रमशः दूरी बढ़ायी जाय जैसे- स-ध नि -ग। इससे अपने स्वर पर अधिकार बढ़ता है। यह अभ्यास प्रारम्भ में शुद्ध स्वरों पर तथा बाद में कोमल एवं तीव्र पर भी किया जाय।

स्वर अभ्यास मध्य सप्तक पर किया जाता है। किन्तु अपने स्वर को मंद्र सप्तक के प तक उतारने और तार सप्तक के ग या म तक चढ़ाने का भी अभ्यास करना चाहिए। सभी अभ्यासों में पहले गति धीमी रखी जाय ओर बाद में क्रमशः तेजी लायी जाये। कण्ठ स्वर को जल्दी-जल्दी एक स्वर से दूसरे स्वर पर ले जाने का अभ्यास कर लेने पर कठिन धुनों को गाया जाना संभव होता है।

गाने और बजाने में जब प्रारम्भिक सप्तकों के स्वरों पर अभ्यास हो जाय तो उन्हें लय में बाँधना चाहिए। हर स्वर को समान समय तक ही बोला या बजाया जाय। सा, रे, ग आदि हर स्वर को समान समय दिया जाय, इसके लिए गाते या बजाते समय ताली की संगीत देना ठीक रहता है। लय के अभ्यास में किसी शिक्षक अथवा शिक्षार्थी का ही सहयोग लेना अधिक सुविधाजनक तथा लाभप्रद होता है।

प्रारम्भ में धीमी लय (ठाह) में अभ्यास किया जाना चाहिए। जब ठाह में अभ्यास ठीक हो जाय तो दुगुन लय का अभ्यास किया जाना चाहिए। दुगुन में हर स्वर को 'ठाह' की उपेक्षा ठीक आधा समय दिया जाता है, अथवा यों कहें कि दुगुन में ठाह की अपेक्षा ठीक दूनी गति होती है। इसी प्रकार चौगुन में चौगुनी गति होती है अथवा हर स्वर की

चौथाई मात्रा दी जाती है।

ताल के बिना लय का प्रभाव अपूर्ण रह जाता हैं लय का महत्व ताल के कारण ही है। जिस प्रकार वर्ष महीने और दिनों के न रहने पर व्यवहारिक समय का कोई अर्थ नहीं रह जाता ठीक उसी प्रकार ताल के अभाव में लय की उपयोगिता भी नष्ट हो जाती है। ताल का सम्बन्ध काल से है, और वह लय को निश्चित तथा सुव्यवस्थित करता है। इसलिए हम ताल को लय का जनक भी कह सकते हैं। ताल और लय का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, इसलिए, दोनों को समान रूप से समझना और उनका अभ्यास करना हमारे लिए बहुत आवश्यक है।

संदर्भः-

(1) संगीत विशारद-वसंत
(2) संगीत शास्त्र दर्पण– प्रवणी, पाठक जगदीश नारायण
(3) रागपरिचय–श्रीवास्तव हरिश्चन्द्र

बाँसुरी वादन में सौंदर्य बोध

रोहन तारा

सारांश

वर्तमान भारतीय अतोद्य वर्ग में बाँसुरी आज एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय संगीत ही नहीं, बल्कि सभी संगीत की हर विधा इस वाद्य पर आज सकुशल बजायी जा रही है। तरह-तरह के प्रयोग इस वाद्य पर अभी भी किए जा रहे हैं, ताकि यह संगीत जगत में और भी अधिक संपूर्ण एवं संपन्न वाद्य के रूप में उभर कर आ सके। इन सब के बीच यह आवश्यक है कि बाँसुरीवादक सिर्फ तकनीकी ही नहीं, अपितु इसके सौंदर्य पक्ष पर भी ध्यान दें। संगीत कला में सौंदर्य ही, अन्य आयामों की तुलना में सबसे अधिक अपेक्षित है। सभी नियमों के पालन होने पर भी अगर वादन प्रस्तुति में सौंदर्य का अभाव हो, तो सारे सांगीतिक प्रयोजन निरर्थक और निष्फल हो जाते हैं। अतः किसी भी वाद्य के वादन में सौंदर्य की निरंतरता बनी रहे, इस दिशा में चिंतन एवं प्रयास संगीतकारों का एक अहम दायित्व बनता है।

सूचक शब्द : *बाँसुरी, सौंदर्य, सौंदर्यशास्त्र, भारतीय संगीत, कला*

जब किसी वस्तु का गुण, इंद्रियों द्वारा ग्रहण किए जाने पर मन में आनंद उद्दीप्त करता है, तब उस वस्तु को सुंदर कहा जाता है। पाश्चात्य जगत में विचारकों का ध्यान सौंदर्य की तरफ 18वीं शताब्दी में गया। इक्कीस वर्षीय बौमगार्टन ने 1735 ई. में सर्वप्रथम 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रयोग किया। किंतु भारत में सौंदर्य पर चिंतन इस से कई शताब्दियों पहले से ही रही है। इस सिद्धांत ही भारतीय सौंदर्यशास्त्र की आधारशिला है। नाट्यशास्त्र में भारत ने रसों के नाम उद्धृत किए हैं। भारतीय वांगमय में रस शब्द भरतकाल या संभवतः उससे पूर्व से ही होती आ रही है। रस वह तत्त्व है जिसके आस्वादन से हृदय में भाव उत्पन्न होते हैं। कलाकृति जिस रस से युक्त होगी, द्रष्टा अथवा श्रोता के हृदय में वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं। कलाकृति जिस रस से युक्त होगी, द्रष्टा अथवा श्रोता के हृदय में वैसे ही भाव उत्पन्न होंगे। सौंदर्य बस एक विचार मात्र ही नहीं है। इसके पीछे एक गहरा मनोविज्ञान है। रचना के अवयवों में जब सही संतुलन होता है तब उस से सुंदरता स्वतः ही भासित होती है।

सौंदर्य एक बहुआयामी विषय है, किंतु जब हम सांगीतिक परिप्रेक्ष्य में सौंदर्य की बात करते हैं, तो तात्पर्य स्रोत से आ रही ध्वनि की मधुरता, रचना में निहित कलात्मकता तथा उसके प्रस्तुतीकरण में निपुणता से होता है। नाट्य, में निहित कलात्मकता तथा उसके प्रस्तुतीकरण में निपुणता से होता है। नाट्य, काव्य, मूर्तिकला आदि विधाओं में रचना का सुंदर होना अनिवार्य नहीं। वे रौद्र, अथवा वीभत्स भी हो सकते हैं। किंतु संगीत में सौंदर्य ही सर्वोपरि है। संगीत स्वरों से बनता है, और लक्षण ग्रंथकारों ने स्वर की परिभाषा ही दी है 'स्वयं रंजति', अर्थात जो स्वयं ही रंजन करने में सक्षम हो। कोई भी ध्वनि तभी रंजन कर सकती है जब वह सुंदर हो, उसमें माधुर्य हो।

संगीत विधाओं में नृत्य सबसे स्थूल, गायन उससे सूक्ष्म तथा वादन सबसे सूक्ष्म होता है, क्योंकि

रीसर्च स्कॉलर (जे.आर.एफ), संगीतशास्त्र विभाग, रबींद्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकाता।

वादन में केवल नादात्मक ध्वनियों का ही प्रयोग होता है, शब्दों, शारीरिक मुद्राओं एवं भंगिमाओं का यहाँ कोई उपयोग नहीं होता। अतः वादन में सुंदरता लाने के लिए कलात्मक दृष्टि को थोड़ा और सूक्ष्म करने की आवश्यकता होती है। भारतीय सुषिर वाद्यों में बाँसुरी सबसे प्राचीन होते हुए भी सबसे प्रमुख वाद्य है। बाँसुरी एक ऐसा वाद्य है, जिसने सदा से मनुष्य को मोहित किया है। यहीं कारण है कि इसे विश्व के हर प्रांत में, हर प्रकार के संगीत में सम्मिलित किया गया। किंतु बाँसुरी वादन में सुंदरता इतनी सरलता से प्राप्त नहीं होती। इसके लिए साधना एवं चिंतन, दोनों चाहिए। सर्वप्रथम, किसी भी वाद्य के वादक को संगीत के शास्त्र का ज्ञान गुरु के सानिध्य में रहकर, परंपरा से प्राप्त करना चाहिए। लक्षण के उचित ज्ञान से ही उचित लक्ष्य की प्राप्ति होती है। स्वर, लय, ताल, राग आदि का यथोचित ज्ञान होने पर ही कोई भी व्यक्ति सुंदर संगीत का सृजन कर सकता है। तत्पश्चात वादक को चाहिए कि वह नियमित अभ्यास के द्वारा वाद्य को अपने अधिकार में कर ले। बाँसुरी को ठीक ढंग से पकड़ना, उसे ठीक से ले कर बैठना, अँगुली स्थापना की उचित विधि, फूँक की उचित विधि, ये सब सुंदर वादन के लिए मूलभूत बातें हैं। ध्यान रहे कि संतुलन में ही सौंदर्य निहित है। फूँक में संतुलन, वाद्य पर संतुलन, मन में स्वर-सृजन और वाद्य पर उनकी स्वराभिव्यक्ति के बीच संतुलन, रागों के बरतने में संतुलन, लय और ताल में संतुलन! संतुलन न हो तो संगीत कला में सौंदर्य का उद्‌भव संभव नहीं।

लक्षण ग्रंथों का अध्ययन बाँसुरी वादकों के लिए बहुत सहायक हो सकता है। संगीतरत्नाकार में वांशिकों तथा फूत्कार के गुण-दोषों पर चर्चा की गई है। नाट्यशास्त्र में सौंदर्य के महत्त्व की ओर इंगित करते हुए भरत ने कहा है कि जब कंठ, वीना और वेणु के स्वर एकीभाव से सवारित होते हैं, तब वह संगीत रंजक होता है, और इस कारण ही उसकी प्रशंसा होती है।[1] संगीतरत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने स्निग्धता, ध्वनि प्रचुरता, लालित्य, ध्वनि अनुरणन, त्रिस्थानत्व इत्यादि फूँक के बारह गुण बताए हैं, तथा यमल, स्तोक, कृश, स्खलित, अव्यवस्थित व तारन्यूनता जैसे दोषों की चर्चा की है। साथ ही वांशिकों के गुणों की चर्चा में अंगुलि चालन का अभ्यास, वेग से आरोह-अवरोह करने की क्षमता, अच्छी रागाभिव्यक्ति आदि को गिनाया है।[2] इन बातों पर ध्यान दे कर बाँसुरी वादक अपने वादन को और परिष्कृत कर सकते हैं।

वादन कितना भी अच्छा हो लेकिन अगर वाद्य में ही दोष हो, तो सारे प्रयास विफल हो जाते हैं। जिन वंशियों की ध्वनि में रंजकता एवं मधुरता नहीं थी, शार्ङ्गदेव ने उन वंशियों को स्वीकार नहीं किया है।[3] इसलिए यह जरूरी है कि वाद्य किसी कुशल कारीगर द्वारा निर्मित तथा उच्च कोटि का हो, ताकि वादन में मधुरता की कमी ना होने पाए। वाद्य का रख-रखाव भी बहुत अहमियत रखता है। समय-समय पर बाँसुरी को साफ करना, भीतर से तेल लगा कर उसे तापमान के उतार-चढ़ाव से बचा कर रखना, उसे उचित स्थान पर रखना— इन बातों से बाँसुरी की आवाज मीठी और गूँजदार बनी रहती है। वादक को वादन से पहले समय, स्थान तथा श्रोता की मनःस्थिति की समीक्षा कर लेनी चाहिए। इससे वादन और अधिक प्रभावशाली हो जाता है। पूर्वकाल में भी किस परिवेश में कैसे वंशी वादन किया जाना चाहिए, इस पर चर्चा की गई है। मतंग को उद्धृत करते हुए शार्ङ्गदेव लिखते हैं कि शोक की स्थिति में वंशी पर कोमल स्वर मध्य लय में, शृंगार में रम्य ध्वनि वाली वंशी का द्रुत लय में, तथा क्रोध एवं अभिमान में कंपित तथा स्फुरित ध्वनि से युक्त वंशी का द्रुत लय में प्रयोग किया जाना चाहिए।[4]

वादन में सौंदर्य वृद्धि के लिए सौंदर्य बोध में भी वृद्धि होती रहनी चाहिए। कलाकार चाहे जिस विधा का भी हो, उसे अन्य विधाओं के प्रति भी आस्थानवित रहना चाहिए। धम्मपद में गौतम बुद्ध ने कहा है :

यावजीवम्पि चे बालो, पण्डितं पयिरूपासति
न सो धम्मं विजानाति, दब्बी सूपरसं यथा।
मुहुत्तमपि चे विञ्ञू, पण्डितं पयिरूपासति
खिप्पं धम्मं विजानाति, जिह्वा सूपरसं यथा।[5]

भावार्थ यह है कि संवेदनशीलता ही ग्रहणशीलता को जन्म देती है। कलछी सूप में डूबे रहने पर भी

उसके स्वाद को नहीं जान पाती। एक सुग्राही जिह्वा ही उसका रसास्वादन कर सकती है। चाहे आस्वादन सत्य अथवा ज्ञान का हो, या सौंदर्य का, संवेदनशीलता परमावश्यक है। प्रख्यात सौंदर्यवादी कवि जॉन कीट्स ने लिखा–''ब्यूटी इज़ ट्रूथ, ट्रूथ ब्यूटी'',– सौंदर्य ही सत्य है, और सत्य ही सौंदर्य।[6] स्वर, लय एवं ताल में परस्पर सामंजस्य तो सांगीतिक सौंदर्य की पृष्ठभूमि है, परंतु उसमें आकर्षण पैदा करने के लिए व्यक्ति का ग्रहणशील एवं संवेदनशील होना आवश्यक है। जब एस्थेटिक्स की चर्चा होती है तो 'टेस्ट' ;ज्ेंजमद्ध उसका एक अहम बिंदु होता है। टेस्ट से अभिप्राय है किसी व्यक्ति की वह बौद्धिक अवस्था जिससे वह यह निर्णय कर सके कि कोई भी वस्तु सुंदर है या नहीं। कला से जुड़े व्यक्तियों में इस बौद्धिक अवस्था की प्राप्ति के लिए उनमें कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए। उन्हें इस प्रकार गिनाया गया है–कुशाग्र बुद्धि, प्रेरणा, कल्पनाशक्ति, संगत समागम तथा मानसिक एवं सामाजिक दशा।[7] सभी कलाएँ किसी ना किसी रूप में एक दूसरे से संबंधित रहती हैं। मम्मट ने काव्यकला में सृजनशीलता की वृद्धि के लिए छंद, अन्य कलाएँ, चारों पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष), और साथ ही अन्य प्राणियों के चरित्रों के अध्ययन का सुझाव दिया है।[8] बाँसुरी वादकों को जब भी अवसर मिले, उन्हें गायन, अभिनय, नृत्य, काव्य, चित्रकला एवं मूर्तिकला आदि को भी और करीब से देखने तथा समझने का प्रयास करना चाहिए।

आज के युग में संगीत की प्रस्तुति में ध्वनि विज्ञान की जानकारी भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो गई है। यह अपने आप में एक अलग ही विषय है, किंतु श्रोताओं तक उपकरणों (माइक्रोफ़ोन, मॉनीटर आदि) द्वारा वांछित ध्वनि पहुँच रही है या नहीं, इसका भी ध्यान रखना कलाकार का ही दायित्व है। इस हेतु ध्वनि विज्ञान से अछूता रहना बाँसुरी वादकों के लिए लाभकर नहीं। रीवर्ब, एको, बैलेंस, गेन, फीड्बैक, ध्वनि की ड्राईनेस या ध्वनि का मेटालिक होना, वाद्य के अनुरूप माइक्रोफोन का चयन, ईक्वलाईजर, इन सब तकनीकी आयामों से भी कलाकारों को परिचित रहना चाहिए।

निष्कर्ष :

बाँसुरी वादन में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए केवल यांत्रिक साधना ही पर्याप्त नहीं है। भिन्न प्रकार की कलाओं में सौंदर्य ही तादात्मय बनाए रखता है। अन्य कलाओं से परिचय, वाद्य में दक्षता, समसामयिक तकनीकी आयामों का ज्ञान, मनोविज्ञान का बोध, शास्त्रों का अध्ययन, गुणी व्यक्तियों का साहचर्य, गुरुओं से परंपरागत शिक्षा, प्रकृति से लगाव, उत्तम वाद्ययंत्र का चयन तथा व्यक्तिविशेष के खुद के संस्कार वो घटक हैं, जिन पर अवलोकन एवं अनुशीलन से वादन में सौंदर्य के विकास की संभावना बनी रहनी चाहिए।

संदर्भ :

1. शुक्ल, श्रीबाबूलाल (संपा), हिंदी नाट्यशास्त्र, चतुर्थ खंड, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1985, पृं. 107.
2. चौधरी, शुभद्रा, शार्ङ्गदेवकृत संगीतरत्नाकर, तृतीय खंड, राधा पिब्लके शंस, नई दिल्ली, 2006, पृ. 402-407.
3. वही, पृ. 388
4. वही, पृ. 402.
5. कौसल्यायन, भदन्त आनंद, धम्मपदं, नारायण प्रेस, शाहगंज (इलाहाबाद), 1946, पृ. 29
6. स्कडर, ई. हॉरिस, द कम्प्लीट पोएटिकल वर्क्स एंड लेटर्स ऑफ़ ऑफ़ जॉन कीट्स, द रिवरसाइड प्रेस, केम्ब्रिज, 1899, पृ. 135.
7. महाजन, डॉ. अनुपम, भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं सौंदर्यशास्त्र, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, 1993, पृ. 66-68.
8. शर्मा, प्रो. प्रेमलता, इंडीयन एस्थेटिक्स एंड म्यूज़िकॉलोजी, आमनाय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 383.

संगीत के प्रचार-प्रसार में वैज्ञानिक उपकरणों का योगदान

प्रो. पुष्पम नारायग*, हेमलता कुमारी**

शोध-सार

संगीत मानव के जीवन में मोतियों की वह लड़ी है जिसके बिना इसका जीवन सत् और चित् का भाग होकर भी ये सदा आनंद रहित रहता है जिसके कारण मनुष्य को हमेशा नीरस प्रतीत होता है। संगीत में एक ऐसी दिव्य शक्ति है कि उसके गीत के अर्थ और शब्दों के भाव को समझे बिना भी प्रत्येक व्यक्ति इससे जुड़कर गहरा सम्बन्ध महसूस करता है। "संगीत" एक चित्ताकर्षक विद्या है जो मनुष्य के मन को ही नहीं बल्कि चराचर जगत के सम्पूर्ण जड़-चेतन को आकर्षित करती है[1]। शास्त्रीय संगीत तो राग-आधारित संगीत है जिसमें श्रोता सिर्फ राग के स्वरों का ही आनन्द लेते हैं परन्तु आधुनिक समय में दैनिक जीवन में भी ऐसा देखने को मिलता है कि सुगम एवं लोक संगीत में भी श्रोताओं को गीत के शब्द न समझ पाने पर भी यदि उन्हें धुन पसंद आ जाए तो लोग अधिकतर उसी गीत का गायन करते हैं, क्योंकि भारतीय संगीत-कला भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है जो प्राचीनकाल से ही चलता आ रहा है जो भारत के निवासियों की जीवनशैली का एक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

"संगीत" मानव समाज की कलात्मक उपलब्धियों और सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तमान प्रतीक है। यह आदिकाल से ही जनजीवन के लिये आत्मिक उल्लास और सुखानुभूतियों की ललित अभिव्यक्ति का मधुरतम माध्यम रहा है। परिवर्तन संसार का नियम है जो प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और इसी के कारण आज हमें संगीत का शुद्धतम् रूप देखने-सुनने को मिलता है। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत परिवर्तन शीलता एवं विकास का अनुपम उदाहरण रहा है[2]। परिवर्तनों में स्वयं को समाहित करने की इस कला में अद्वितीय शक्ति रही है जो सदा ही देखने को मिलता है लेकिन विकास के इस क्रम में नवीन प्रयोग हुए हैं परंतु इसके विकास की धारा कहीं टूटी नहीं है। जिस तरह जब कोई फल पकता है तो उसका बीज उसी के अन्दर रहता है ठीक उसी तरह शास्त्रीय संगीत की विभिन्न विधाओं के मूल का भी कभी विच्छेद नहीं हुआ, परन्तु डार्विन के सिद्धान्त "सरवाईवल ऑफ फिटेस" या योग्यतम् की अतिजीवितता के अनुसार परिवर्तन होना समय की माँग है[3]। यदि हम देखे आजादी के समय के आस-पास जो संगीत का स्वरूप था उसमें और आज के संगीत के स्वरूप में जमीन-आसमान का अन्तर है लेकिन यदि राग में प्रयोग होनेवाले स्वरों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। वर्तमान समय में संगीत के साधकों की संख्या अधिक होती जा रही है जिसके कारण एक ही राग के अलग-अलग साधकों के द्वारा प्रस्तुति करने पर उसमें भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है। संगीत में स्वयं को समष्टि में पचा लेने की शक्ति के आधार पर हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत नवविन्यास ग्रहण करता गया। भारत के इतिहास में कलाओं की दृष्टि से युगों-युगों के अन्त होने पर उसमें परिवर्तन होते रहे है। साहित्य, संगीत, चित्रकला जैसी संवेदन शील कलाएं युग की समाप्ति तक अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिये विभिन्न विधाओं में बँटती चली गयीं। आज के इस वैज्ञानिक युग में विज्ञान का प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र

* शोध निर्देशक : वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.भि.वि.वि., दरभंगा

** शोध निर्देशक : वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.भि.वि.वि., दरभंगा

में दृष्टिगोचर हो रहा है। आधुनिकतम वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से आज हम अपनी इस पारम्परिक सांगीतिक धरोहर को सुरक्षित रख पाने में सफल व सक्षम हो सके हैं। नवीन आविष्कारों जिनमें संचार अर्थात् तथ्य को फैलाने की शक्ति ने समाज में व्यापक प्रभाव डालकर संगीत क्षेत्र को जन-जन में जीवन का आवश्यक अंग बना दिया।

आजकल सुबह से शाम तक व कभी-कभी चौबीसों घंटे नवरत् संगीत की गूंज हमारे कानों में अनेक रूपों में सुनाई देती रहती है। इस गूंज के सुनाई देने के हमारे पास बहुत से माध्यम हैं, जैसे-रेडियो, टेपरिकॉर्डर, ग्रामोफोन, टीवी, सिनेमा इत्यादि। आज कोई भी स्थान हो या कोई भी सामाजिक अथवा लौकिक कार्यक्रम हो, प्रत्येक जगह आकाश की धुन्ध की भाँति संगीत का प्रसार होता रहता है। आज रेडियों और टेलीविजन पर सौन्दर्य-प्रसाधन के जितने भी विज्ञापनों का प्रसारण किया जाता है प्रत्येक में संगीत का प्रयोग बहुतायत तरह से किया जाता है या मै यह कह सकती हूँ कि संगीत के बिना यह सम्पन्न नहीं होता है। इन्हीं माध्यमों के द्वारा संगीत का विकास आज के युग में तेजी से हो रहा है। आज बदलते सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में संगीत की नई संभावनाएँ सामने आयी हैं। जिस संगीत का जन्म ऋषि-मुंनियों के द्वारा मंत्रोच्चार के साथ जंगलों और गुँफाओं में हुआ और उसका धीरे-धीरे विकास होते-होते महर्षि के आश्रमों से वह मंदिरों में और वहाँ से फिर राजदरबारों, हवेलियों, रईसों की उमरावों के महलों तक पहुँचा और फिर उन राज-दरबारों एवं रईसों के महलों से निकलकर आज संगीत शिक्षण संस्थाओं तथा संगीत सम्मेलनों के रूप में सामान्य समाज के बीच प्रतिष्ठित हो गया। आज सामान्य श्रोताओं से इसका सीधा सम्बन्ध होने के कारण संगीतज्ञों के लिये इसकी गुणवत्ता के साथ लोकप्रियता की दृष्टि से सन्तुलन बनाए रखना भी आवश्यक हो गया[1]। परिवहन तथा संचार सुविधाओं से प्राप्त सहजता एवं गतिशीलता, आकाश वाणी, दूरदर्शन आदि प्रचार-माध्यमों के कारण घराने-विशेष की भौगोलिक अथवा शैलीगत सीमा में विशुद्ध रूप बनाए रखना अव्यावहारिक हो गया। जहाँ जो भी श्रेष्ठ अनुकूल है, उसे आत्मसात् करने की प्रवृत्ति आज प्रबलनी हुई है।

शब्द कुँजी :- *संगीत, उपकरण, आधुनिककाल, वर्तमान-समय, अनुकूल, प्रसारण, राजशाही, दरबार*

मुख्य बिन्दु

बीसवीं शताब्दी को संगीत में परिवर्तन का युग कहा गया है क्योंकि इस शताब्दी में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बड़ी ही तीव्रता से परिवर्तन के साथ-साथ संगीत के क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही महाराष्ट्र के दो विष्णुओं (पंडित बिष्णु नारायण भातखंडे और पंडित विष्णु दिगम्बर पलुष्कर) ने संगीत में स्वर लिपि पद्धति की खोज करके राजशाही संगीत को स्कूल और शिक्षण-संस्थानों तक पहुँचा दिया। उसके बाद स्वतंत्रता के कारण राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक शैक्षिक गतिविधियों में भी अनेक परिवर्तन हुये हैं जिसमें वैज्ञानिक उपकरणों के क्षेत्र में अविश्वसनीय परिवर्तन हुए इसलिए वैज्ञानिक परिवर्तनों को इस सदी की महान उपलब्धि कहा जायेगा। वैज्ञानिकता ने जैसे ही मनुष्य जीवन के सभी सामान्य पक्षों को प्रभावित किया है वही भारतीय संस्कृति कला एवं संगीत पर भी बहुतायत से प्रभाव पड़ा है। संगीत के क्षेत्र में संचार माध्यमों का प्रभाव पड़ने के कारण इसके प्रचार-प्रसार के साधन सुलभ हो गये जिसके कारण संगीत कला की शिक्षा प्रदर्शन और सभी चीजों में परिवर्तन हुआ और संगीत घरानों के सीमित दायरे से निकलकर जनसाधारण तक सुगमतापूर्वक पहुँच सकी। भारत में ब्रिटिश सत्ता के स्थापित हो जाने पर हिन्दुस्तानी संगीत-कला को सबसे अधिक हानि हुई और यह संगीत सिर्फ देशी रजवाडों में आश्रय प्राप्त था अर्थात ये कलायें केवल किलों में कैद होकर रह गई थी। संगीत शिक्षा जनसाधारण तक सुगमतापूर्वक पहुँच सके इसलिये बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों ने इस कला को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से प्रारम्भ होकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध तक का समय सामूहिक शिक्षण संस्थाओं की नींव मजबूत करने समाज के अन्तर्गत संगीत शिक्षा के प्रतिजागृत होने संगीत की प्रतिष्ठा बनने का अवसर प्राप्त हुआ है। प्रचार-प्रसार

के माध्यमों में इलेक्ट्रानिक उपकरण के साथ पुस्तकों के प्रकाशन ने भी संगीत जगत में एक क्रान्ति पैदा की अभी तक केवल गुरू मुख द्वारा ही यह विद्या प्रदान की जाती रही। इसके पहले संगीत में कोई स्वर लिपि प्रचलित नहीं थी। मौला बक्श घिग्घे खां ने स्टाफ नोटेशन परिचय के पश्चात हिन्दुस्तानी संगीत में भी स्वर लेखन के कार्य को कार्यान्वित किया तथा संगीत को स्वरलिपि बद्ध करके पुस्तक में बांधने का कार्य भी किया[5]। प्रचार-प्रसार के माध्यमों में तकनीकी उपकरणों के साथ पुस्तकों की छपाई प्रिंटिग प्रेस की सुविधा से संगीत जगत में एक नई दिशा को जन्म दिया जिससे संगीत जनमानस तक सुगमतापूर्वक पहुँच पाया। क्योंकि कालान्तर में संगीत शास्त्र का ज्ञान केवल पाण्डुलिपियों कें माध्यम से प्राप्त होता रहा है इस ज्ञान को प्रकाशन की सुविधा प्राप्त होते ही विविध संगीत ग्रन्थों का पुस्तको का पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ जिससे संगीत जगत में नई क्रान्ति पैदा हुई प्रिंट मीडिया के द्वारा ही किसी कार्यक्रम की सफल मंच प्रस्तुतिकरण का संयोजन किया जाता है कि कार्यक्रम में कलाकार ने क्या गाया क्या बजाया आप उस कार्यक्रम में उपस्थित रहे या न रहे उस कार्यक्रम की सारी रूपरेखा रिर्पोटिंग द्वारा आपके सम्मुख होती है।

20वीं शताब्दी के पूर्वाद्व में कई आविष्कार हुए परन्तु संगीत के प्रचार प्रसार उसके संरक्षण एवं उसे सुरक्षित रखने के लिये जिन उपकरणों या वाद्ययंत्रों का प्रयोग हुआ वो इसी सदी की देन है। ग्रामोफोन के कारण उस समय के गायक कलाकारों की क्या गायन शैली या विशेषतायें रही या आज गायन में कितना कुछ अन्तर हो गया है इन सबका ज्ञान हमें प्राप्त होता है। ये इन्हीं उपकरणों की ऐसी देन है जिससे कलाकार की कला को वर्षो तक सम्भाल करके सुरक्षित रखा जाता है।

इसके पश्चात एक ओर इलेक्ट्रानिक कृति सामने आयी जिसने भारतीय शास्त्रीय संगीत जगत में ही नहीं वरन पूरे विश्व में क्रान्ति कर ली वो था रेडियो का आगमन जिसके कारण संम्पूर्ण विश्व की सूचना ज्ञान विज्ञान कला संगीत को जनमानस तक सरलता से उपलब्ध कराया गया रेडियो का उद्देश्य जनता के मनोरंजन और उन्हें शिक्षित करने के लिये अच्छे कार्यक्रमों का प्रसारण करना एवं शास्त्रीय संगीत को जन-जन तक पहुँचानें में एक सशक्त माध्यम साबित हुआ। एक चमत्कार सा ही लगने लगा कि कोई कलाकार मुम्बई में गा बजा रहा है और उसे दिल्ली या अनयत्र कहीं सुना जा रहा है।[6] उस समय शास्त्रीय संगीत के ये कार्यक्रम सजीव प्रसारित होते थे संचार माध्यमो में ये उस समय की बहुत बड़ी क्रान्ति थी। रेड़ियो के पश्चात टेलीविजन का विकास तो स्वाभाविक ही था परन्तु चित्रपट का आविष्कार किसी चमत्कार से कम न था क्योंकि ध्वनि के साथ चित्र भी प्रेषित होने के कारण मानव मन की संवेदना एवं व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया गया जिसके माध्यम से दर्शकों पर इसका सीधा प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। इस समय जहां इलेक्ट्रानिक उपकरण के आविष्कार से मानव जीवन का प्रत्येक क्षेत्र प्रभावित हो रहा था वही ग्रामोफोन रिकार्डस आकाशवाणी जैसे चमत्कारों से संगीतकला का प्रभावित होना स्वाभाविक था। इन उपकरणों के माध्यम से संगीत को सुनने एवं उसको सुरक्षित रखने के प्रयास किये जा रहे थे किन्तु इन उपकरणों का प्रयोग उस समय तक गायक वादक अभ्यास पद्वति में एवं मंच प्रदर्शन के कार्यक्रमों में नहीं करते थे परन्तु कहीं-कहीं ध्वनि विस्तारक यंत्र माइक माइक्रोफोन का प्रयोग बड़ी-बड़ी महफिलों क्रान्फ्रेन्सों के लिये किया जाने लगा। कालान्तर में गायन के कार्यक्रम मंच पर ज्यादा प्रदर्शित होते थे। उनकी अपेक्षा में वादक अपना कार्यक्रम मंच पर उतने अधिक प्रभावशाली ढ़ंग से सक्षम नहीं थे क्योंकि इन वाद्ययंत्रों पर स्वर अपेक्षाकृत धीमा होता है और उसे दूर तक सुना नहीं जा सकता है। अगर इन, ध्वनि विस्तारक, इलेक्ट्रानिक उपकरणों का आविष्कार न किया गया होता तो शायद इन तार वाद्यों को कार्यक्रम में महत्व नहीं मिल पाता किन्तु माइक्रोफोन के कारण तत और सुषिर वाद्यों का प्रभाव एकदम बढ़ गया। ये वाद्य मंच पर बहुतायत से प्रयोग होने लगे ध्वनि विस्तारक यंत्र इनके लिये वरदान साबित हुये। वर्तमान काल में अतिसूक्ष्म माइक्रोफोन वाद्यों में लगाकर कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते हैं जिसके माध्यम से वाद्यों के ध्वन्यात्मक सौन्दर्य में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई हैं ध्वनि विस्तारक यंत्रों में माइक्रोफोन आडियो

एम्पलीफायर ट्रांजिस्टर एम्पली फायर के रूप में बहुत विकसित हुआ। अब उसका प्रचार प्रत्येक संगीत सभा में बहुतायत से होने लगा[7]। वैज्ञानिक आविष्कारो ने कुछ अन्य उपकरणो को प्रयोग में लाया जिनका उपयोग सांगीतिक गतिविधियों में ही प्रयोग हुआ। ये उपकरण संगत तथा रियाज के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें विद्युतीय तानपूरा, ताल माला स्वर पेटी, लहरा मशीन इत्यादि वाद्यो का विशेष स्थान है। आज के युग में इन वाद्य यंत्रों को सॉप्टवेयर के रूप में बना दिया गया है जिसके कारण आज संगीत के कलाकार लोग इसे अपने मोबाईल में व्यवस्थित करके तानपूरा, तबला आदि अनेक वाद्ययंत्रों की ध्वनि को लगातार सुन सकते हैं और उसके साथ रियाज भी कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त सिंथे साइजर का प्रयोग पाश्चात्य संगीत में होता था परन्तु हिन्दुस्तानी संगीत में भी इसका प्रयोग हो रहा है। वर्तमान में नये सिंथे-साइजर डिजिटल टेक्नोलाजी से बन रहे हैं। इसमें हर प्रकार के वाद्यों की आवाज पैदा की जा सकती है तथा ये कई वाद्यों की मिली-जुली ध्वनि उत्पन्न करने में सक्षम है, जिसकी कल्पना करना भी कठिन है। भारतीय संस्कृति की मूल धरोहर संगीत की विधायें संचार माध्यमों के द्वारा प्रतिष्ठित एवं पल्लवित हो रही है। वर्तमान के प्रचार-प्रसार के समय में रेडियो, सी. डी., डी वी डी प्लेयर, टेलीविजन, वी सीपी, कम्प्यूटर, पेनड्राइव, इण्टरनेट, मोबाइल फोन ने भारतीय संगीत कोअपना बहुमूल्य योगदान दिया है। सोशल मीडिया वह माध्यम है जो विश्व के कोने कोने में पहुँचकर सबको जोड़ने का काम करता है एवं अतिद्रुत गति से समाचारों का आदान-प्रदान कर सकारात्मक भूमिका अदा करता है। यह एक ऐसा वर्चुअल वर्ल्ड बनाता है जो फेसबुक ट्विटर इंस्टाग्राम युट्यूब, गूगल इत्यादि की सहायता से विश्व के किसी भी विषय की किसी भी कोने में बैठकर जानकारी प्राप्त करा सकता है। पहले शिक्षा के सभी विषयों साहित्य, विज्ञान, मनोविज्ञान, चिकित्सा इत्यादि में सोशल मीडिया की भूमिका रही परन्तु अब संगीत कला में भी सोशल मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण है। व्यक्ति इण्टरनेट के माध्यम से संगीत सीखता और सिखाता है, ये इलेक्ट्रानिक उपकरण और सोशल मीडिया की ही प्रगति है जिसने हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत को बहुत कुछ वरदान दिया है। टेलीविजन के विभिन्न सेटेलाइट चैनलो के माध्यमों से संगीत को लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण निभाई जा रही है कम्प्यूटर के द्वारा नित नये भूमिका सॉफ्टवेयर का निर्माण करके संगीत निर्देशन के क्षेत्र में क्रांति की लहर दौड़ पड़ी। पहले की तुलना में आज ध्वनि की गुणवत्ता में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गये है।

इस तरह वर्तमान समय में प्रौद्योगिकी एवं वैज्ञानिक संचार के उपकरणों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है जिस पर बहुत कम अध्ययन हुआ है, इस विषय पर अध्ययन की पर्याप्त संभावनाएँ निर्धारित हैं। मेरा यह विश्वास है कि तकनीक के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखनेवाले हमारे पुरानी पीढ़ी के कुछ गुरू और कलाकार भी इस आधुनिक उपकरणों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य जुड़े हुए हैं। इन उपकरणों का आविष्कार संगीत जगत पर इतना प्रभावशाली हो चुका हैं कि वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रम में मेनुअल तानपूरा के स्थान पर इलेक्ट्रोनिक तानपूरा आदि का प्रयोग बहुतायत ढ़ंग से किया जाता है। इन उपकरणों की यह प्रमुख विशेषता भी है कि इसके रख रखाव एवं यात्रा करने में भी सुविधा होती है जिसके कारण संगीतज्ञ लोग इसे अधिक पसंद कर रहे हैं।

सन्दर्भ सूची

1. संचार माध्यमों का प्रभाव-सिंह ओम प्रकाश पृष्ठ संख्या - 32
2. आधुनिक समाज मनोविज्ञान-डी.एन. श्रीवास्तव, जगदीश पाण्डे, पृष्ठ संख्या - 107
3. भारतीय संगीत शिक्षा और उद्देश्य - दत्ता डॉ. पूनम, पृष्ठ संख्या - 04
4. भारतीय संगीत वैज्ञानिक विशलेषण - शर्मा डॉ. स्वतंत्र, पृष्ठ संख्या - 53
5. भारतीय संगीत में वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग-गौतम डॉ. अनीता, पृष्ठ संख्या - 24
6. वहीं-पृष्ठ संख्या -38
7. भारतीय संगीत को मीडिया और संस्थानों का योगदान - शर्मा डॉ. राधिका, पृष्ठ संख्या- 13

पेशकार में उपज का महत्व

धनंजय वेकरीया, प्रो. गौरांग भावसार, डॉ. चिराग सोलंकी

शोधसार

प्रस्तुत शोधपत्र में शोधार्थी द्वारा पेशकार में उपज का महत्व विषय पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास किया गया है। पेशकार तबला वादन की विस्तारशील रचनाओं में से एक है। पेशकार की विस्तार प्रक्रिया करना एक विशेष कला है। यह विस्तार प्रक्रिया में उपज एक महत्व का अंग माना जाता है। इस उपज अंग को शोधार्थी ने अलग.अलग पहलूओं से प्रदर्शित किया है जिसमें जाति, क्रिया, ग्रह, लयकारी आदि का संक्षिप्त विवरण दिया है।

बीज शब्द : *पेशकार, उपज, क्रिया, लयकारी, जाति, ग्रह, तिहाई*

वर्तमान में तबला वाद्य सर्वाधिक प्रचलित, समृद्ध एवं लोकप्रिय वाद्यों में शीर्ष स्थान धारण किए हुए है। यह वाद्य भी अन्य अवनद्य वाद्यों की तरह संगत का ही वाद्य है। परंतु ताल साधकों की सतत चिंतनशील प्रवृत्ति एवं अपनी प्रतिभा के विभिन्न पहलुओं को मंच पर स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत कर पाने की कामना ने स्वतंत्र तबला की परंपरा को जन्म दिया। तबला विद्वानों के सतत चिंतन एवं अथक प्रयासों से आज तबला सर्वाधिक समृद्ध एवं प्रचलित वाद्य है। स्वतंत्र तबला वादन के लिए पूर्वजों ने विभिन्न रचनाओं का एक निश्चित क्रम बनाया, जो आज भी वैसे ही चला आ रहा है। इन रचना प्रकारों में मुख्य दो प्रकार हैं

1. विस्तारशीलरचना - पेशकार, कायदा, रेला, आदि...
2. अविस्तारशीलरचना - मुखड़ा, टुकड़ा, परन, गत, आदि...

इस क्रम को बनाने में गायन के अलग अलग रचना प्रकारों का विचार लिया। जिस प्रकार गायन रागों की प्रस्तुति की शुरुआत आलाप से होती है वैसे ही स्वतंत्र तबला वादन की शुरुआत पेशकार से होती है। कुछ घरानों में पेशकार के अनुरूप फर्शबंदी होती है। इस प्रकार धीमी लय की शुरुआत का विचार भी गायन विधा से ही लिया गया है। जैसे गायन में आलाप से ही पूर्ण प्रस्तुति की झलक मिल जाती है। वैसे ही पेशकार तबले की ऐसी रचना है, जिसमे सम्पूर्ण प्रस्तुति की झलक मिल जाती है।

उपरोक्त सभी रचनाओं का प्रयोग तबला के स्वतंत्रवादन एवं साथ संगत में किया जाता है। स्वतंत्र तबलावादन के शुरुआत में विस्तार शील रचनाओं का वादन किया जाता है। इनमें पेशकार का स्थान सर्वप्रथम आता है। पेशकार अर्थात एकल तबलावादन में बजायी जानेवाली पहली एवं पारंपरिक रचना।

इसके संयोजन में तबले की वर्णमाला के सभी वर्ण या बोल लिए जाते हैं।

'पेशकार' फारसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है। 'प्रस्तुत करनेवाला'। तबले की वह विशिष्ट रचना जो ताल के स्वरूप को सुन्दरता के साथ प्रस्तुत करती है उसे पेशकार कहते है। तबले के

फैकल्टी ऑफ परफार्मिंग आर्ट्स, द महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा, वडोदरा
ईमेल –dhananjayvekariya09/gmail.com

दिल्ली व अजराड़ा घराने में एकल वादन का प्रारंभ पेशकार से ही होता है। इस रचना से वादक की तैयारी, घरानों की छाप, हाथों की मिठास, लय की सूक्ष्मता का ज्ञान ऐतिहाईयों का सुंदर ढंग, मींड़ तथा आकार की क्रिया व कलाकार की उपज का पूर्ण परिचय हो जाता है। पेशकार की रचना ही कुछ इस प्रकार से होती है, कि उसकी दुगुन-चौगुन नहीं हो सकती। अतः उसे विलम्बित लय में ही बजाया जाता है। इसमें कायदे की तरह पल्टे भी नहीं किए जाते। अपितु पेशकार का यम करके बीच-बीच में उपज दिखाकर फिर उसी पेशकार पर आ जाते हैं। एक दूसरा भी मत है जो कुछ लोग मानते हैं वह यह है। पहले के जमाने में दीवानी अदालतों में पेशकार वो कर्मचारी को कहते थे जो अदालत के बाहर बैठकर कोर्ट के केस की सारी जानकारी तैयार करता है, जिसके आधार पर बाद में वकील उसके सही कार्यवाही करता है।

उसी प्रकार से संगीत कार्यक्रम के प्रारंभ में श्रोताओं के चित्त को एकाग्र करने और कला प्रस्तुति के अनुकूल वातावरण बनाने के लिए, भूमिका के रूप में जिस प्रकार गायक वादक रागालाप प्रस्तुत करते हैं और नर्तक या नर्तकी ठाठ बांधते हैं। उसी प्रकार तबलावादक स्वतंत्र तबलावादन के प्रारंभ में पेशकार बजाता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पुराने तबलावादक इस प्रारंभिक प्रस्तुती करण को फर्श बंदी कहते थे, जो कि भूमिका शब्द का ठीक फारसी अनुवाद है। अतएव फर्शबंदी और पेशकार दोनों शब्द स्वतंत्र तबलावादन प्रस्तुतीकरण की प्रारंभिक भूमिका को अभिव्यक्त करते हैं।

पं. सुधीर माईणकर जी ने अपनी पुस्तक में कहा है, कि जिस प्रकार चित्रकार जिस समय किसी मानवी शरीर के चित्र को रेखांकित करता है उस समय प्रथम वह उस मानवीय आकृति का अत्यंत स्थूल रूप से रेखांकन करता है और बाद में धीरे धीरे उस मानवी शरीर के विभिन्न अंगों को अपनी तूलिका से, तफसील से चित्रित करता है तथा इस प्रकार एक अंग को ठीक स्पष्ट करते करते वह चित्रकार मानवीय रूप का बिल्कुल हुबहू चित्र निर्माण करता है। ठीक उसी प्रकार की समांतर क्रिया का प्रदर्शन पेशकार वादन के माध्यम से किया जाता है और होना भी चाहिए।[1]

पं. सुरेश तलवलकर जी के अनुसार लय और ताल का आलाप होता है 'पेशकार'। और आलाप कभी बंधा हुआ नही होता है। आलाप क्रिया है, जो गायक के अभ्यास से स्फुरित होता है। उसी तरह से पेशकार भी तबला वादक के अभ्यास से स्वतः स्फुरित होने वाली उपजी कला है। पेशकार एक ऐसी चीज है जिसमें कलाकार और उसकी सोच दिखती है।[2]

प्रो. गौरांग भावसार जी ने अपने शोध पत्र में कहा है कि पेशकार एक संपूर्ण रचना हैं। क्योंकि लय, लयकारी एवं तबला वाद्य के सभी वर्गों का प्रयोग, ताल, खंड, जाति इत्यादि ताल संबंधी तमाम क्रिया-प्रक्रियाओं का संगम पेशकार में होता हैं। मध्य विलंबित लयों में वादक तैयारी एवं लयकारियों का प्रयोग पेशकार में कर सकता है। किसी भी प्रकार के पूर्व प्रयोजन के बिना ही सभी घरानों के मुख्य वर्णों एवं वर्ण समूहों का वादन पेशकार में अपनी सोच के अनुसार कर सकता है। इसीलिए पेशकार सर्वभोम बंदिश है। इसी कारण से पेशकार बंदिश को हम 'वसुधैव कुटुम्बकम' का उपदेश प्रवाहित करने वाली बंदिश कह सकते हैं।[3]

पं. पुष्कर राज श्रीधर के अनुसार पेशकार जैसी रचनाओ को उन्होंने नगाड़ा वाद्य पर यह रचना पंजाब, राजस्थान और लखनऊ में जो नगाड़ाखाना मे सुनी है। वहाँ पेशकार अथवा पेशकार जैसी रचना बजाई जाती है। जयपुर और जोधपुर में नगाड़ा वादन में पूरा स्वतंत्र वादन किया जाता है। वहाँ के लोग पेशकार को थोड़ा अलग तरीके से बजाते थे।[4]

ऽऽक्डधिंऽताऽ धाऽत्रकधिंऽताऽ धागेनधिंऽगेगे नाड़ाऽनगेनतिंऽ नडननडननाऽ क्तिंऽनक्तिंना त्रकधिंनधाऽक्डधिं ऽनक्डधिंताऽऽऽ

नोट : यह इन्टरव्यू बड़ोदा की फेकल्टी अ०फ पर्फोर्मिंग आर्ट्स में लिया गया था। उससे सभार शोधार्थी ने यहा प्रस्तुत किया है। यह विडियो यूय्टूब पर भी है।

किंतु पेशकार का एक प्राचीन समानार्थी शब्द फर्शबंदी अधिक उचित लगता है। इसका कारण यह है कि फर्श शब्द का अर्थ है मूल, प्राथमिक आधारीय सतहया नींव जिस पर मकान टिकता है। इस के

अतिरिक्त पेशकार की प्रस्तुति स्वयं वादक को लय के प्रयोग में लेना और उसके हाथों को उस लय में बजाने के लिए गरमया तैयार करना, पेशकार को वास्तव में संपूर्ण कार्यक्रम की नींव माननी चाहिए।

जब कलाकार पेशकार की प्रस्तुति करता है तब उस कलाकार में उपज का होना आवश्यक है। उपज मतलब उत्पन्न होना, पैदा होना या विकसित होना, अंग्रेजी में इसे हम "Extempore Expression" (स्फूरित अभिव्यक्ति) कह सकते है। कुछ प्रतिभा मनुष्य में जन्म जात होती है और कुछ वह अपने पूर्वज्ञान तथा बौद्धिक कौशल द्वारा उत्पन्न करता है। कुछ लोग प्रतिभा को जन्मजात या भगवान की देन मानते हैं, किंतु ऐसा समझना प्रयत्न वाद में निहित नवनिर्मिति की ऊर्जा पर संदेह करना है, जिसके द्वारा मनुष्य ने विभिन्न क्षेत्रों में असम्भव को सम्भव कर दिखाया है। उपज संगीत का एक अंग है एवं संगीत की पराकाष्ठा है क्यों कि संगीत में हर दिन कुछ ना कुछ सीखने मिलता है। उपज मानव के मौलिक चिंतन का प्रतिबिंब है।

''संगीत में ताल-वादक जब समयानुसार तत्कालिक बौद्धिक कौशल द्वारा कलात्मक व सौन्दर्यपूर्ण प्रस्तुति देता है, तो उसे 'उपज' कहते हैं।'' उपज अंग का प्रयोग सोलोवादन तथा संगति दोनों में प्रयुक्त होता है। किसी बंदिश की लय को आधार मानकर उसके शब्दों द्वारा विभिन्न लयकारियों में बंदिश की बढ़त करना, पेशकार या कायदे के आधार पर स्वतंत्र पलटों की रचना या एक पलटे से दूसरा तथा दूसरे से तीसरा पलटा तैयार करना 'उपज' का ही एक ढंग है।[5] पेशकार के विस्तार में उपज का प्रयोग भिन्न भिन्न माध्यमों द्वारा किया जाता है जो इस प्रकार है।

क्रिया के प्रयोग में उपज

श्तालो घन इति प्रोत्करू कला-पात-लयान्वित।
कालस्तस्य प्रमाणं वै विज्ञेयं तालयोक्तृमि :[6]

अर्थात् कला, पात और लय से युक्त जो काल का विभाग या परिमाणात्मक प्रमाण-जो घन वाद्य के वर्ग में आता है—ताल कहलाता है। संगीत के (प्रयोग के) अवसर पर जब 'ताल' का व्यवहार होता है तो उसे समय के परिमापक 'कला' शब्द से कहा जाता है और तब अर्थ भी ताल का प्रमाणनिर्दशक काल होता है। कलापात अर्थात्स शब्द एवं निःशब्द क्रिया दोनों ही ताल के अत्यंत महत्वपूर्ण शक्ति है और इन दोनों के द्वारा ही लय निश्चित होती है।

पेशकार का विस्तार सामान्यतः खाली भरी के अनुशासन से होता है, लेकिन खाली भरी का प्रयोग भी दो प्रकार से होता है।

(1) कुछ कलाकार पेशकार रचना में भरी बजाने के बाद उसकी खाली क्रिया में तदानुसार ही रूपांतर करते हैं और उसके बाद फिर से भरी का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के प्रस्तुती करण को उच्चस्तर का प्रस्तुती करण माना जाता है। इस प्रकार की वादन पद्धति से कलाकार के अनुशासन तथा उसके संस्कारों का परिचय होता है। लेकिन ऐसे वादन में उपज अंग का थोड़ा अभाव दिखाई देता है, क्योंकि जो शब्द बन्ध वो भरी में बजा रहे है, उन्हीं शब्द बन्धों को वो खाली क्रिया में भी रूपांतरित करते है। जैसे—

तीनताल में पेशकार का उदाहरण—

धिंऽक्डधिंना	तिधागिना	धातिधाति	धाधाधिंता
तिऽधाक्डधा	धिंनाधाति	धाक्डधाति	धाधातिंना
तिंऽक्डतिंना	तित्ताकिना	तातितााति	तातातिंना
तिऽधाक्डधा	धिंनाधाति	धाक्डधाति	धाधाधिंता

प्रस्तुत उदाहरणण् में देख सकते है की भरी क्रिया में जिस बोलो का प्रयोग किया गया है उन्हीं बोलों के खाली का स्वरूप उसकी खाली क्रिया में किया है।

(2) कुछ कलाकार पेशकार की भरी एवं खाली के रूप में बाएं के नादों में एक प्रकार के खुले बंद का प्रयोग करते है, जिससे हमें बाएं पर बजाएं हुए विरोधी नादो की प्रतीति मिलती है। इन विरोधी नाद संगति का प्रयोग केवल खाली क्रिया में ही करना जरूरी नहीं है, ऐसा मानने वाले कुछ-कुछ अच्छे कलाकार है और वे अपने वादन के प्रस्तुतीकरण में किसी भी उचित जगह पर खाली भरी का प्रयोग बिना पूर्व योजना से करते हैं, और अनपेक्षित आनंद भाव निर्माण करते हैं और इसको हम उपज भाव कह सकते हैं।

• तीनताल में पेशकार का उदाहरण— प्रस्तुत उदाहरण में देख सकते है की भरी और खाली दोनों क्रिया में विरोधी नादों का प्रयोग देखने को मिलता

है।

धिंऽक्डधिंना	तिधागिना	धातिधाधिं	नाधातिंना
ऽधातिधा	तिंनाधाति	धाकिटतकधिं	नाधातिंना
ऽतातिंना	ऽधाधिंना	ताकिटतकधिं	नाधातिंना
ऽधाक्डधा	तिंनाधिंना	धातिंनाधिं	नाधातिंना

विभिन्न लयकारी में उपज

पेशकार में जब वादक अलग-अलग लयकारी का वादन पूर्व नियोजित विचार से करता है तब यह लयकारी आनंद कारक होती है। विभिन्न मात्रा काल की विभिन्न गतियों में, विविध नाद बंधो को चुनकर, उन पर रियाझ करके उन्हें प्रभाव कारकता से बजाने की क्षमता कलाकार पा लेता है। यह करने से कलाकार पेशकार में उपज अंग से विभिन्न लयकारी का वादन अच्छी तरह से कर सकता है। इस प्रकार तत्काल उत्स्फुर्त उपज अंग से वादन में लयकरी का प्रयोग श्रोताओं एवं कलाकार दोनों को रोमांचित करता है।

• तीनताल में पेशकार का उदाहरण- प्रस्तुत उदाहरण में पाया है कि ग्यारवीं एवं बारवीं मात्रा में सामान्य लय से परिवर्तन हो रहा है।

ऽत्रकधिंनाऽधाधिंना	धाकिटधाति		धाधाधिंना
ऽधाऽधा ऽधाधिंना	धातिधाति		धाधातिंना
ऽत्रकतिंता ऽक्डतातिंना	तिंनतिंनाकिनाताकेतिरकिट	ताकेतिटताकेत्रकतिंनाकिना	
ऽधाऽक्डधा	तिंनाधाऽक्ड	धातिंनाधा	क्डधातिंना

जाति में उपज

''चतुरशास्त्रथा त्यस्त्रः खण्डो मिश्रस्थैव च ।
संकीर्णा पञ्ज विज्ञेया जातयः क्रमाशो बुधैः ॥[7]

तबलावादन के पेशकार वादन में जाति का प्रयोग भी होता है। जाति मुख्यत्वे पांच प्रकार की होती है। जब अच्छा तबला वादक पेशकार का वादन करता है तब वह तिस्र, चतुस्त्र, खंड, मिस्र एवं संकिर्ण जाति के बोलो को लेकर उपज अंग से विभिन्न जाति का ऐसे वादन करता है जिसे श्रोता को ऐसा लगता है कि वह लयकारी में परिवर्तन कर रहा है किंतु वह जो लय चल रही है उसमें ही वह अलग-अलग जाति के बोलो को लेकर अपने अंदाज में पेश करता है। विभिन्न जातियों के शब्द बंधों को जोड़-तोड़कर नये शब्द बन्धों का निर्माण करना उपज ही है।

• तीनताल में पेशकार का उदाहरण प्रस्तुत उदाहरण में हम देख सकते है की दूसरी और तीसरी मात्रा में श्रोताओं को ऐसी अनुभूति होती है की लय में परिवर्तन हो रहा है, जबकि यहां तिस्त्र जाति के बोलो को चतुश्र लय में प्रस्तुत किया जा रहा है। जाति के इस प्रयोग के कारण कभी-कभी श्रोताओ को ऐसी अनुभूति होती है।

ऽत्रकधिंना	धाधिंनाधा	तिंनाधाति	धाधाधिंना
ऽधाऽधा	ऽधाधिंना	धातिधाति	धाधातिंना
किडनगतिंनतिंना	किनाताकेतिरकिट	धाधिंनाधा	तिंनाधाऽ
ऽधाधिंना	धातिंनाधा	ऽधाधिं	नाधातिंना

• तीनताल में पेशकार का उदाहरण- इस उदाहरण में हम देख सकते है की पहली, दूसरी और तीसरी मात्रा में श्रोताओं को ऐसा लगता है की लय में परिवर्तन हो रहा है, लेकिन यहा मिश्र जाति के बोलो प्रयोग चतुश्र लय में किया गया है और आखरी में तिहाई भी मिस्र जाति के बोलो को लेके बनाई गई है।

ऽत्रकधागे	नधागेतिं	नताकेन	
धाधाधिंना			
ऽधाधिंना	धाधाधिंना	धातिधाति	धाधातिंना
किडनगतिंनतिंना	किनाधाधिंना	धाधातिंना	धाऽधा
धिंनाधाधा	तिंनाधौ	ऽधाधिंना	धाधातिंना

ग्रह अंग से उपज

''ग्रहस्त्रिधा समोतीतस्तथा नागत इत्यपि ।
गीत वाधे च नृत्ये च समचेव प्रवर्तते॥[8]

ग्रह दो प्रकार के होते है।

1) सम ग्रह

2) विषम ग्रह

• विषम ग्रह के 2 प्रकार है। i) अनागत ii) अतीत

हमारा संगीत 'सम' साध्य संगीत है, विविध विस्तारशील या अविस्तारशील बंदिशों के द्वारा विभिन्न प्रयासों से सम पर आना ही मुख्य लक्ष्य होता है इन सभी तरीकों से सम का सौंदर्य बढ जाता है। हर सम अपने चुने हुए ताल या आवर्तन का आरंभ बिंदु होता है।

जब हम सांगीतिकृष्टि से देखते हैं तो जब कलाकार अपने वादन में चुने हुए बिंदु (सम) के पहले सम पर आता है तो उसे अनागत कहते है और चुने हुए बिंदु (सम) के पश्चात सम पर आता है तो उसे अतीत कहा जाता है। कभी-कभी कलाकार पेशकार वादन में सम को छोड़कर वह सम से पहले या सम के बाद, अपने वादन में समदर्शाता है जिससे कभी-कभी वादन में उसकी सौंदर्यता और बढ़ जाती है। पेशकार में भी ग्रह अंग का प्रयोग बहुत अच्छे ढंग से होता है।

• तीनताल में पेशकार का उदाहरण इस उदाहरण में हम देख सकते है की पहली, दूसरी, तीसरी, छठी, नवमी, दसवीं और तेरहवीं मात्रा में एक लघु के पश्चात बोलो की शुरुआत होती है यानि की हमें ऐसा लगता है की अतीत में चल रहा है।

ऽधातिधा ऽक्डधातिंना धातिधाति धाधाधिंना
ऽधाऽधा ऽधाधिंना धातिधाति धाधातिंना
ऽत्रकतिंता ऽक्डतातिंना ताकिटताति तातातिंना
ऽधातिधा तिंनागेना धातिंनागे नाधातिंना

तिहाई अंग से उपज

किसी एक बोल- समूह को एक ही ढंग से बिना किसी परिवर्तन के तीन बार प्रयोग करते हुए उसके अन्तिम बोल का सम पर या किसी निश्चित स्थान पर आना 'तिहाई' कहलाता है। संगीत की सभी विधाओं में 'तिहाई' का खूब प्रयोग होता है। तबला वादक जब पेशकार में विभिन्न प्रकार की तिहाइयों की प्रस्तुति अपने वादन में सम्मिलित करता है तब वादन में उसकी सौंदर्यता और बढ़ जाती है।

तीनताल में पेशकार में अंत में तरह तरह की तिहाई बजाई जाती है, इस उदाहरण में साढ़े पांच मात्रा की धाधिंनाधा तिंना इस बोल को लेके बनाई गई है।

धिंऽक्डधिंना तित्धागिना धातिधाति धाधातिंना
ऽधातिधा तिंनाधाति धाकिटतकधिं नाधातिंना
ऽतातिंना ऽतातिंना ऽधाधिं नाधातिंना
धाऽधाधिं नाधातिंना धाऽधाधिं नाधातिंना

• इस उदाहरण में सात मात्रा की ताऽतिटकिटतिट किटधाऽधाऽतिऽ धाऽऽ इस बोल को लेके बनाई गई है।

धाऽऽक्डधाऽतिऽ धाऽतिटकिटतिट किटधाऽधाऽतिऽ धाऽधाऽधिंऽनाऽ
तिटकिटधाऽतिऽ धाऽतिटकिटतिट किटधाऽधाऽतिऽ धाऽधाऽतिंऽनाऽ
किटताऽतिटकिट ताऽतिटकिटतिट किटधाऽधाऽतिऽ धौऽताऽतिट
किटतिटकिटधाऽ धाऽतिऽधाऽऽ ताऽतिटकिटतिट किटधाऽधाऽतिऽ

निष्कर्ष : तबला वाद्य पर बजनेवाली विविध बंदिशों (रचानाओं) में पेशकार का स्थान अत्यंत महत्त्व पूर्ण है। क्यूंकि यह स्वतंत्र तबला वादन में बजने वाली ऐसी विस्तारशील रचना है जिसमें संपूर्ण वादन की सूक्ष्म झलक मिल जाती है। कायदों एवं रेलों जैसी विस्तारशील बंदिशों में विस्तार क्रिया के निश्चित नियम है। परंतु पेशकार में इस प्रकार के बंधन न होने से इसमें सर्वाधिक उपज अंग की संभावनाएं होती हैं। विभिन्न विस्तार क्रियाओं जैसे, खाली भरी, जाती, ग्रह, तिहाई, आदि के प्रयोग में अपने निर्बंध प्रकार से उपज दर्शाकर वादक अपनी प्रतिभा को संपूर्णतया अभिव्यक्त कर सकता है। अन्य विस्तारशील रचनाओं के विस्तार में वादक की मानसिक एवं शारीरिक तैयारी अनुभूत होती है। परंतु पेशकार एक ऐसी रचना है जिसमें वादक के सांगीतिक विचार, संस्कार एवं प्रस्तुतीकरण के व्यवहार की पहचान विद्वान रसिकों में पेश हो जाती है।

संदर्भ

1. माइणकर, सुधीर/तबला वादन में निहित सौंदर्य, पृ. 71
2. 25th Session – Talyogi Pt. Suresh Talwalkar Organised by Pt. Arvind Parikh; https://youtu.be/UHx&_61KrJE)
3. भावसार, गौरांग/स्वतंत्र तबला वादन और पेशकार/नाद नर्तन जर्नल ऑफ डांस पृ. 11
4. https://youtu.be/il8sQ3OrO: और साक्षात्कार के ओरिजनल वीडियो से
5. श्रीवास्तव, शुभा/उत्तर भारतीय तालों में छंद, रस और सौन्दर्य तत्व, पृ. 130
6. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल, नाट्य शास्त्र, तालाध्याय, श्लोक सं. 1, पृ. 109
7. श्री कंठ, रस कौमुदी, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बडोदा, अ. 4, श्लोक सं. 126/पृ. 72
8. बृहस्पति, आचार्य/संगीत समय सार/कुन्दकुन्द भारती, दिल्ही/परिशिष्ट 'क', पृ 262

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. माइणकर, सुधीरध् तबला वादन में निहित सौंदर्य/सरस्वती पब्लिकेशन, मुंबई
2. पाण्डे, सुधांशु, ताल प्राण, सांस्कृतिक दर्पण, लखनऊ, 2013/ ISBN: 978-81-925555-5-3
3. श्रीवास्तव, शुभा, उत्तर भारतीय तालों में छंद, रस और सौन्दर्य तत्वध् कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीबूटर्स, नई दिल्ही, ISBN: 978-81-8457-425-8
4. सक्सेना सुधीर, तबला वादन और कला, संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली
5. भावसार, गौरांग, स्वतंत्र तबला वादन और पेशकार, नाद नर्तन जर्नल ऑफ डांस अण्ड म्यूजिक, 2014 ISSN No. 2349-4654
6. शास्त्री, बाबूलाल शुक्ल, नाट्य शास्त्र, तालाध्याय, श्लोक सं. 1
7. श्री कंठ, रस कौमुदी, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, अ.4, श्लोक सं. 126
8. बृहस्पति, आचार्य, संगीत समयसार, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ही, परिशिष्ट 'क', पृ. 262

A Study of Factors Affecting Listening Music and Various Types of Feelings

Ms. Parul Sharma

Abstract

Music has an amazing ability to manipulate people's emotions. It's also likely that music has an effect on people's moods, which can be both positive and negative. Making the connection between music and emotion, on the other hand, is difficult.Because each person's musical preferences are unique, they will have incompatible responses to music. This study gathered replies from students from several educational institutes in Kurukshetra, Haryana, to investigate the concept of listening to music and various forms of moods. The study's major goal was to determine the impact of music on various types of emotions. The responses of the students have been tallied. One hundred and ninety-one people took part in the survey in total. The questionnaire was the primary research tool.The study's objective was tested using factor analysis. The study's findings indicated the impact of listening to music on a variety of emotions. The investigation uncovered a number of characteristics, including psychological and physical relaxation, behavioural and emotional strengths, and improved attention. The survey covers the majority of Kurukshetra's institutes. As a result, the interpretation of the study's findings can be applied to other respondents in the same group.

Keywords: *Music,feelings, behavioural and physical relaxation, Factor analysis*

Introduction and Literature:

The Macmillan Encyclopedia defines music as "the art of organising sounds, which are usually sequences of tones of perfect pitch, to produce melody, synchronisation, and rhythm." Perhaps music means a lot more to people than this warped technical description suggests. Because music can be such a personal experience, it's impossible to describe exactly what it means to everyone. Daniel Levitin, an American neuroscientist, said that his familiarity with hearing to music overheadsets makes music more meaningful for him. It was unexpectedlyapproaching from within my thoughts, rather than from the outside world (Levitin, 2007, p.2).This implies that listening to music with earbuds has a pervasive influence on an individual, whereas listening to music without earphones has a diverseconsequence on the hearer, resulting in a different outcome. Baltes and Miu conducted a

Research scholar(Ph.D), Department of Music &Dance, Kurukshetra University, Kurukshetra, Email.id:-sharmaparul21987@gmail.com, Mob.no:- 7015675627

study on the emotional response of participants in the presence of a live music concert at the Romanian National Opera House in 2014.

Furthermore, the study by Greasley and Lamont (2006) noted earlier revealed that individuals were aware of their dedication to music. With the speed with which technology has advanced in recent years, it has aided in making music more accessible to the general public and revolutionised people's dedication to music (Greasley &Lamont, 2006). The ease with which individuals may acquire music on the internet and on their mobile phones has pointedlyimproved the speed with which they seek it out. As a result, people's commitment to pre-recorded music has risen (Greasley & Lamont, 2006).

The ability of music to elicit emotion is a difficult one to master. Emotion, according to Meyer, is transient and ephemeral (Meyer, 1956, as cited in Hu, 2009). It can be defined as a challenging individualanswer to a skewed cognitive state, leading in brief shifts in bodily responses, verbal behaviours, and promoted activities (Forsythe, 2006). These definitions might be useful in describing the expressive impact of music.For example, reliant on the style of music and the person's affection for a demanding piece of music, the individual's mood and/or emotion may be affected by the musical comprehension. It may also cause an individual to have a bodily reaction or an unexpected longing to move their body, such as a foot tap, a recurring head nod, or even a dance. Le Doux emphasised the importance of these bodily responses to the inclusivethoughtful of the emotive response system (LeDoux, 1998, p.40). As a result, after studying the literature on music and its impact on emotions, the researcher looked into the numerous factors that influenced the outcome.

Research Methodology:

Scope of the study

The present research work proposes to study the students of selected educational institutions of Kurukshetra, Haryana to know their responses for effect of music on their emotions.

Objective of the Study

To know the various factors affecting individuals' emotions after listening music.

Sample Profile

The data for the study will be composed from students of selected educational institutions of Kurukshetra, Haryana.

Data Collection

To get a thorough picture of the study, data was collected using an online survey approach using a Google doc questionnaire with a five-point scale.

Statistical Analysis

The data will be analysed using the Jamovi software package. Factor analysis was used to conduct the analysis.

Table no:- 1

Scale Reliability Statistics

Cronbach's α	
Scale	0.959

The Cronbach alpha values lied between 0.71-0.91 and hence the responses were considered reliable as for the current study it is 0.959.

Table no:- 2
KMO and Bartlett's Test

χ^2	Df	p	KMO
2826	190	<.001	0.954

The KMO value was 0.954, indicating that the sample was adequate. Furthermore, at 190 degrees of freedom, the overall significance of the correlation matrices was examined using the Bartlett Test (Approx. Chi-square= 2826 and significant at 0.000) as well as a support for the data for factor analysis.

Table no:- 3

Initial Eigenvalues

Component	Eigenvalue	Variance % of	Cumulative %
1	11.477	57.383	57.4
2	1.244	6.218	63.6
3	0.839	4.196	67.8
4	0.719	3.593	71.4
5	0.619	3.094	74.5
6	0.580	2.900	77.4
7	0.548	2.742	80.1
8	0.487	2.435	82.6
9	0.454	2.270	84.8
10	0.435	2.174	87.0
11	0.382	1.912	88.9
12	0.350	1.750	90.7
13	0.315	1.576	92.2
14	0.298	1.492	93.7
15	0.277	1.384	95.1
16	0.253	1.264	96.4
17	0.224	1.119	97.5
18	0.193	0.965	98.5
19	0.154	0.771	99.2
20	0.152	0.761	100.0

As can be seen from the above, only two components have Eigen values greater than one, and we will proceed with these factors. The overall variation described by these components (1 and 2) was 57.383 and 6.218, respectively, although the cumulative variance explained by all of these factors was 63.6 percent, with the remaining variance owing to factors outside the scope of the study.

Table no:-4
Scree plot

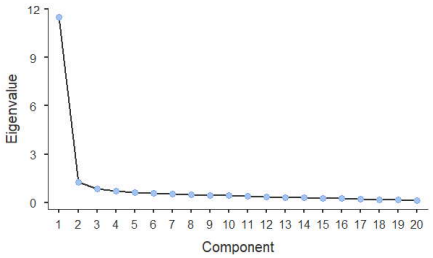

The scree plot diagram also shows that the only 2 factors have eigen value more than value more than one.

Table no:- 5

Rotated Component Matrix

	Statements	Psychological and physical relaxation	Strengths Behaviourally and emotionally	Improves concentration
S1	Listening to music helped to feel relaxed.	0.650		
S2	Listening to music helped to feel calm from anxiety.		0.673	
S3	Listening to music helped to feel happier.		0.830	
S4	Listening to music helped everyone with the way they were feeling	0.703		
S5	Listening to music improved mood.	0.618		
S6	Listening to music made to feel relaxed and motivated.	0.597		
S7	Listening to music helped to me forget any problems.	0.689		
S8	Listening to music helped to get a positive attitude.	1	0.644	
S9	Listening to music helped to study.			0.893
S10	Listening to music helped everybody to distract themselves from any worries.	0.575		
S11	Listening to Music helped to focus on dreams and aspirations.			0.693
S12	Listening to music helped to overcome problems with stress and depression.		0.651	
S13	Listening to music helps to pass journey on the road.	0.693		
S14	Listening to music helps to relax and feel calm when feeling stressed.		0.691	
S15	Listening to music helped to think of new ideas.	0.536		
S16	Listening to music helped			

	to feel calm when feeling down.	0.571			
S17	Listening to music made to feel better.	0.654			
S18	Listening to music helped to get through troubled times.				0.553
S19	Playing music helped everybody to express emotions that they cannot verbally communicate.	0.732			
S20	Listening to music helped everybody feel good about themselves.		0.578		

The above stated factors are in the order of degree of importance i.e. Factor1 (F1) is more importance than the other factor2 (F2); F2 is more important than factor 3(F3) and so on. The F1 and F2 had 57.383 and 6.218 of variance which was the highest variance as compared with factor 3 which is 4.196.Hence it was found that the listening to music resulted into various type of emotions like psychological and physical relaxation, strengths our behaviour and emotions and bring improvement in concentration.

Conclusion

Finally, this study looked at the impact of music on people's emotions across age groups. There were only a few discrepancies in the results between the younger and older subjects. According to the findings of the study, listening to music has a significant impact on respondents' emotions. The study collected the numerous sorts of emotions extracted by individuals after listening to music while taking into account the importance of various types of emotions. Emotions, such as psychological and physical relaxations, are the most significant factor among the factors removed, and they have the greatest difference in comparison to the other factors. Strengthening our behaviour and emotions, as well as bringing attention development, are other important variables.

This will aid managers in developing a strong PRP policy in the future. As a result, managers should contextualise this PRP study in the context of numerous PRP strategies that aid to motivate employees in firms. Because in today's world, this is the most important component for any business. This component is so significant that correct design has even resulted in the withholding of staff in firms. More research on the impact of music on wellness and emotion in younger and older individuals is needed, according to the findings of this study. Furthermore, it is recommended that the sample group be expanded to include people of a wider age range.

References:

1. Balteș, F. R., &Miu, A. C. (2014). Emotions during live music performance: Links

withindividual differences in empathy, visual imagery, and mood. Psychomusicology: Music,Mind, And Brain, 24(1), 58-65. doi:10.1037/pmu0000030
2. Forsythe, A. (2006). Emotion. In Encyclopaedic dictionary of psychology. Retrieved from:http://search.credoreference.com/content/entry/hodderdpsyc/emotion
3. Greasley, A. E., & Lamont, A. M. (2006, August). Music preference in adulthood: Why dowe like the music we do. In Proceedings of the 9th international conference on musicperception and cognition (pp. 960-966)
4. Hu, X, (2009). Music and Mood: Where Theory and Reality Meet. Retrieved from:https://www.ideals.illinois.edu/bitstream/handle/2142/14956/Music&Mood-final.pdf
5. LeDoux, Joseph E. The Emotional Brain: The Mysterious Underpinnings of Emotional Life.London: Weidenfeld & Nicolson, 1998.
6. Levitin, Daniel J. This Is Your Brain on Music: Understanding a Human Obsession. London:Atlantic, 2007.

Aesthetic Aspects Through Comparative Study of Raaga Kafi in North and South India

Mitali Mukherjee, Dr.Kiran Singh

ABSTRACT

Indian music has been classified into several categories and the base of all is considered to be the 'Classical Music' (Raaga). However, with the passage of time it got divided into two parts- North Indian Classical Music(NICM) and South Indian Classical Music(SICM) following their singing method. Although the basis of both the methods are same yet they differ in their singing pattern and singing process. Some entities of both the methods are similar with respect to their names and some with respect to their meaning; just in the similar fashion, as the names of some Raagas are same while the applicability of their swaras are different, and some raagas have similar swaras but the names of their raagas are different. In the light of the above, here the aesthetic aspects through a comparative study between Kafi raaga under Kafi Thaat(a North Indian singing style) and Kharaharapriya Raagam under Mela-Kharaharapriya,(a South Indian singing style), has been attempted.

Keywords: *NICM, SICM, singing style, Kafi, Kharaharapriya, Raaga .*

INTRODUCTION

It's a known fact that human life has been greatly affected by the socio-cultural changes and vice-versa. This is evident from the incidences that took place during the pre-medieval (9th – 11th century) and post-medieval (12th century) period when the *Ananga Pal* declared Delhi as their capital. This is when Indian Music got divided into the following two parts –

(a) North Indian Classical Music (NICM)
(b) South Indian Classical Music (SICM)

Universally there exists 7 basic notes in music. In South Indian Music System the *basic swaras* are in their lowest form but after they mutate(vikrit rupa) they shift to their highest form. SICM has 7 basic swaras, 12 *swara-sthanams* and 16 *swara-names*. However, the 7 basic swaras of a North Indian Music System after they mutate(vikrit rupa), they become 12 in total where a few of these notes shifts to their lowest form and the rest shifts to their highest form.

Inspite of the same foundation, the North Indian and the South Indian Music

P.G. department of Music, TMBU, Bhagalpur,bitmitali@gmail.com
Professor, P. G. Department Of Music, TMBU, Bhagalpur

system are different in both theory and practical. For example –

North Indian Music	South Indian Music
Shadaj	*Shadaj*
Komal Rishabh	*Shudh Rishabh*
Shudh Rishabh	*Chatushruti Rishabh*
Komal Gandhar	*Shatshruti Rishabh*
Shudh Gandhar	*Shudh Gandhar*
Shudh Madhyam	*Sadharan Gandhar*
Tivra Madhyam	*Antar Gandhar*
Pancham	*Shudh Madhyam*
Komal Dhaivat	*Prati Madhyam*
Shudh Dhaivat	*Pancham*
Komal Nishad	*Shudh Dhaivat*
Shudh Nishad	*Chatushruti Dhaivat*
	Shudh Nishad
	Kaushik Nishad
	Kaakali Nishad

Some singing styles are same but their name differ –

North Indian Singing Style	South Indian Singing Style
Bhajan	*Kirtanam*
Tarana	*Tillana*
Raag	*Raagam*
Thumri	*Jawli*

Swaras of some Raagas are different but their names differ –

North Indian Raaga	South Indian Raaga
Malkauns	*Hindolam*
Kafi	*Kharaharpriya*
Bilawal	*Dheer Shankarbharanam*

Some Raagas are similar but they differ in Swaras – eg. *shree*

In North Indian Music, there are innumerable *Taalas* and their *bols* are fixed. Also, the Vibhaags, Matras in Vibhaag, Khaali, Sam, etc. are fixed. But in South Indian Music, there are mainly 7 Taals each of 5 types => Total number of Taals = 7 x 5 = 35

In South Indian Music, there are 72 Thaats given by Pt. Vyankatmukhi among which 19 Thaats are most prevalent. In North Indian Music, there are 10 prevalent Thaats given by Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande. The names of 10 Thaats of North India with its corresponding name in South India are as follows –

North India	South India
Bilawal	*Dheer Shankarabharanam*
Kalyan	*Mechakalyani*
Khamaj	*Harikambhoji*
Kafi	*Kharaharapriya*
Bhairav	*Mayamalav Gaula*
Bhairavi	*Hanumat Todi*
Asavari	*Natbhairavi*
Todi	*Shubhapantuvarali*
Marwa	*Gamanashrama*
Purvi	*Kamavardhani*

The Indian Classical Music (NICM and SICM) stems from Veda. Thus, 'Classical Music' is considered to be the root of the Indian Classical Music System. Although both stems from the same root, still they differ a lot with respect to the language, philosophy, culture, grammar, etc used in each.

The basic difference between NICM and SICM is that, more importance is given to the compositions (Literature) followed by its Raagas (Pattern of swaras) and rules, in SICM. While NICM focuses more on Raagas (Pattern of swaras) than the compositions (Literature). Due to these differences, when same Raagas of both the Music Systems is sung (for e.g. – Raag Kafi and Raag Kharaharapriya), they differ in their singing styles.

Methodology

Many Theoretical and Practical differences can be found on studying both the Raagas of NICM and SICM. Presentation of Raaga Kafi and Raag Kharaharapriya by various artists and at different places also enable us to clearly

spot the differences by listening to them.

Study Area - Thaat Kafi was considered as the Shudh Thaat of Ancient Swara-Saptak. In the modern era, according to Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande of North India, Thaat Bilawal is considered as the Shudh Thaat. Thus it implies that Thaat Kafi is one of the ancient Thaats earlier known by the name Raaga Kharaharapriya. When Indian Music got divided into two parts –North Indian Classical Music (NICM) and South Indian Classical Music (SICM) then the Raaga too came to be known by two different names as Raaga Kafi and Raag Kharaharapriya respectively. The word Kafi has been coined by the Parsis.

Details of Raag-Kafi:

Thaat – Kafi

The very first *Raag of Thaat Kafi* is *Raag-Kafi*, which is known as Janya Raag of Kafi Thaat.

Jati - Sampurna – Sampurna

Vadi - Pancham (PA)/ Komal Gandhar (ga)

Samvadi - Shadaj (SA)/ Rishabh (RE)

(According to the book "Kramik Pustak Malika" by Pt. V.N. Bhatkhande, Pancham (PA) and Shadaj (SA) have been considered as the Vadi and Samvadi swaras of Raag Kafi respectively)

Time - Midnight (11:30 p.m - 1:00 a.m), it is a seasonal Raaga and is mostly sung during the "Spring season" (especially between Basant Panchami and Holi)

Aaroh - SA, RE, KOMAL GA, MA, PA, DHA, KOMAL NI, SA'

Avroh - SA' , KOMAL NI, DHA, PA, MA, KOMAL GA, RE, SA

Nyasa Swara - SA, RE, PA

Pakad – S S, R R, g g, M M, P – R P, M P, g R, M M, P

Swara - Gandhar and Nishad are Komal; rest swaras used are Shudh.

Prakriti - Joyful, Restless

Samprakritik Raag - Desi (maximum match) and Sindura

Kafi - 'Kafi' is a *Parsi* word. Its original and ancient name is Kharaharapriya/ Harapriya.

Raag Kafi is an *Aashraya Raag* of Thaat Kafi. The notes g,R in the *purvang* and the notes n, D in the *uttarang* should be frequently graceful. Though not prominent but in present-day North India, expert singers also include the use of Shudh Gandhar and Shudh Nishad in Raag Kafi. The swara Shudh Nishad along with Komal Gandhar and Komal Nishad is mostly used in the ascending (Aaroh) part of the raga. This combination is not inappropriate, rather it is then considered as Raag "Mishra Kafi". This singing style of Raaga Kafi has become prevalent in present-day North India. Vilambits are not sung in case of Raag Kafi. The popular singing styles of Raag Kafi include mainly Chhota Khayal, Thumri, Hori, etc. Among these singing styles, "Hori" is the most prevalent one, which is also known as Dhamar or Dhamal. It is a kind of folk song singing style, which is different from that of the Classical singing style of Dhamar, where the Taala played is also called Dhamar. In Lok Sangeet, Dhamar has Restlessness (Chanchal) Prakriti. Due to the combination of sweetness, love and restlessness in it, Raag Kafi induces Sringar Rasa. Most bandish of Raag Kafi are based on the festival of "Holi" or "Radha-Krishna" and the notes of most Hori songs (folk song) are based on Raag Kafi. Although Raag Mishra Kafi is more prevalent, Raag Kafi has not lost its

significance in the present North Indian Classical Music(NICM). In the Guru-Shishya Parampara, Raag Kafi is equally significant.

The National Song, "Vande Mataram", written by Bankim Chandra Chatterjee was composed for the first time by Pt. Vishnu Digambar Palushkar based on Raag Kafi, where the use of Komal Dhaivat (dha) was also included, the song being a Light Music.

The patterns of the swaras in Raag Kafi goes like –SS, RR, g g, M M, P- ,SRgMP MP RP MP gR MM- P- , SRPgR nDS,SRgMPgR,RP MP gR nDS.

Details of Raag Kharaharapriya :

Mela (Thaat) - Kharaharapriya (It is known as the 22nd Melakarta Raaga among the 72 Melakarta Raaga)

Aaroh - S, R2, G2, M1, P, D2, N2, S'

Avroh - S', N2, D2, P, M1, G2, R2, S

The notes are Shadaj, Chatushruti Rishabh, Sadharan Gandhar, Shudh Madhyam, Pancham, Chatushruti Dhaivat, Kaushik Nishad.

Jati - Sampurna-Sampurna

Time - Midnight

Rasa - Karuna Rasa

The name of this Raaga stems from the word 'Harapriya'. There are several beliefs behind naming of this Raaga and the renowned one being the legend of Ravana and Lord Shiva. Once Ravana, a devout devotee of Lord Shiva, attempted to take his Lord to his palace at Lanka. But no sooner did he lift the Mount Kailash for the same, his hand got trapped under the mountain, since Lord Shiva had put his toe on it. To please his Lord, Ravana sang many hymns but all in vain. Finally he succeeded only when he sung a hymn based on this Raaga and Lord Shiva (also known by the name 'Hara') was "pleased". Since then the Raaga is known by the name "Harapriya".

Again, the name Kharaharapriya has a different story behind it that relates to the incidence of killing of the demon "Khara" by Lord Rama which is narrated in the "Aranya Kanda" of the "Ramayana". In this case Khara refers to the demon, Hara refers to the Killer and Priya refers to the Beloved one. "Tyagaraja", the greatest South Indian astrologer, poet, musician and a devout devotee of Lord Rama composed several bandish based on Raaga Kharaharapriya in the 18th century waking up the soul in it.

Rishav swara plays a very important role in the Raaga Kharaharapriya.

The patterns of the swaras in Raag Kharaharapriya goes like – R2G2R2, G2M1G2, S'N2D2PM1P

Rasa – On listening NICM carefully it can be well understood that Raaga Kafi is filled with Sringar Rasa and that too full of restlessness of lovers (lord Krishna and Radha). Both are so much engrossed in their secret, intense and exclusive passionate love for each other, that it sensitizes the nature surrounding them with the fragrance of their divine lust for each other, requesting the nature to be with them.

On the other hand in SICM, Raaga Kharaharapriya is considered to be filled with pathos (Karuna Rasa) since it is typically sung in a slow pace to bring out this mood. However, here Karuna doesn't imply mere mercy or sadness rather it reflects a feeling of devotion. This is evident from several compositions (padas) based on this raga by intellectuals like the great Pt. Tyagaraja which, when listened carefully provoke a sense of

devotion within the listeners (especially of Lord Rama, as Pt. Tyagaraja was a devout devotee of Lord Rama).

Therapy – Music, which is believed to be another form of God, by some people, while some intellectuals believe that it is the most easiest path of God's realization and thus music is an inseparable part of mankind. The way Music is resonating as Naad in the atmosphere of this whole Universe, in the same way its presence in the Human body is realized since birth as Heartbeat, Blinking of eyes and Emotions (sadness, smile, etc.). Later it gets converted to Swaras and Melody within an individual practicing Classical Music. Now a day, it's a proven fact that emotions act as a significant factor in determining an individual being healthy or unhealthy, and music is considered to be the best medicine (without any side effects) to keep ones emotion healthy.

It has also been observed that practicing or listening to Raaga Kafi or Raaga Kharaharapriya helps to cure individuals suffering from several diseases like heart disease, depression, neurosis etc. Today,

Medical Science too agrees that Music can act as a medicine even for some incurable diseases; provided it is used properly.

Results and Discussion

The above discussions give rise to several important aspects of Raaga Kafi and Raaga Kharaharapriya. Firstly, despite having similar swaras and style their names differ due to the region and culture. The gaayaki of Raaga Kafi in NICM and Raaga Kharaharapriya in SICM are different because of their varying singing styles such as swara, laya, etc. In NICM, swaras are either used directly or by applying Meendh, whereas in SICM swaras are used with vibrations/ vibratos(kampitam). The SICM System emphasizes more on the compositions and then on the rules of Raagas. The main cause behind this is that even today SICM is based on Margi Sangeet in which the compositions are dedicated to God. In this case, the emotions are linked between God and a Human being rather than between two Human beings. Therefore, every Rasa found in SICM is influenced by Bhakti Rasa. In contrast, NICM gives more priority to the Raagas and their rules. Thereafter comes, its composition. The compositions or Bandish in NICM are dedicated to God, but the emotional connection between two Human beings are also visible than that of the emotional connection between God and Human beings.

Due to this reason in his book "SANGEET DARSHIKA", Nonigopal Bandhopadhyay has clearly mentioned in the Introduction that in the time prevailing NICM instead of being based on Margi Sangeet, it has become a part of Desi Sangeet.

Conclusion

Thus, from the study of Raaga Kafi of NICM and Raaga Kharaharapriya of SICM it can be concluded that despite the differences in the singing styles of various Music Systems, the word Music remains the root word. The Theoretical knowledge of this is important and helpful but the Practical knowledge plays a key role to help understand it better. It is compulsory that the Practical knowledge is gained from a Music Expert . Though the knowledge of any single singing style is sufficient, but in order to understand

and know Music better or to do something new in this field, it is necessary to have the knowledge of the Theory and Practical of both the Music Systems, NICM and SICM.

References

1. History of Indian Theatre (Lok Ranga Panorama of Indian Folk Theatre, Abhinav Publications, M. L. Varadpande, 1992 edition.
2. Kala Sikshan, Dr. Chitalekha Singh and R. Lal, Agrawal Publication.
3. Kramik Pustak Malika ,Pt.V.N.Bhatkhande, Hathras Publiction, 13th edition, 2012.
4. Sangeet Darshika, Nonigopal Bandhopadhyay, Jadavpur, Kolkata.
5. Sangeeter Itibritto, Sambhunath Ghosh, 1st Part, Kolkata 100042.
6. Sangeet Visharad, Vasant, Hathras Publication, 2002 edition. 7. https://ccrma.stanford.edu/~arvindh/cmt/the_12_notes.html
8. http://music-raagaa.blogspot.com/2012/02/kharaharapriya-22nd-melakarta-ragam.html
9. http://ncert.nic.in
10. https://www.frontiersin.org/articles/10.3389/fpsyg.2017.02115/full

An Introduction to Nandikeshwara and his 'Abhinayadarpana'

Disha Roopang Mody*, Dr. Ami Pandya**

Abstract

*The present research paper entitled '**An Introduction to Nandikeshwara and his Abhinayadarpana'** aims at examining various manuscripts of 'Abhinayadarpana' and also the references of Naidikeshwara found in the ancient treatises as well as the modern views about Nandikeshwara and the authorship of both Abhinayadarpana and Bharatarnava.*

It also focuses on the contents and scope of Abhinayadarpana in the context of Bharata's Natyashastra through the comparative study of Angika Abhinaya as described in both the texts.

It discusses how Nandikeshwara's work shows an interesting independence from Natyashastra in several aspects as well.

Keywords: *Nandikeshwara, Abhinayadarpana, Bharatarnava, Bharata, Natyashastra, Tandava, Rasa, Angika Abhinaya, Shirobheda, Drishtibheda, Greevabheda, Asamyutahasta, Samyutahasta, Padakarma, Gatibheda, Chari, Mandala, Natya, Nrutta, Nritya, Sabhalakshnam, Patralakshanam, Purvavanga, Anga, Pratyanga, Upanga*

Acharya Nandikeshwara is considereed to be an important Ancient Scholar who immensely contributed to the development of Indian Classical Dance through his treatises like 'Abhinayadarpana' and 'Bhartarnava', which are published in Sanskrit as well as in Hindi and other vernacular languages. In the catalogue of handwritten Manuscripts published by Sarswati Mahal Grathalaya, Tanjore, the three teatises viz. Tala Lakshanam, Taladilakshanam and Talabhinaya – Lakshanam are attributed to Nandikeshwara. Another incomplete treatise, 'Nandi-Bharatokta–Sankarhastadhaya' is also found in his name. According to Ramakrishna Kavi, Nandikeshwara has also composed 'Nandikeshwara Samhita', the major portion of which has been lost. He has also mentioned Nandikeshwara's treatise on 'Tandava' namely 'Karnabhushana' in his preface to 'Bharatakosh'. Inspite of such scholastic works, Nandikeshwara has always remained a controversial figure in the canons of Indian Dance and

*D/203, Shatrunjay Towers, Behind Medilink Hospital, 132 Ft. Ring Road, Satellite, Ahmedabad – 380015, Gujarat, **Email :** roopang@gmail.com, **Mob. :** +91 98257 87803

**Dance Department, Faculty of Performing Arts, M.S University Baroda

Dramaturgy, as he has not given his biographical details in any of his works. However, both ancient and modern scholars have tried to figure out his time-span and works on the basis of certain internal and external evidences, as follows.

References of 'Nandikeshwara' in Ancient Treatises

In the fourth Chapter of Natyashastra Bharata has described a brief anecdote wherein it is mentioned that on being asked by Lord Shiva, the deity called Tandu, imparted training in Nritta to sage Bharata. In his commentary on Natyashastra, namely Abhinavabharti, Abhinavgupta has mentioned the name of Tandu as Nandi on the basis of which many scholars have opined that Tandu alias Nandin himself is the author of various treatises on dance and music including Abhinayadarpana.

In his 'Kavyamimansa' (1/1) while discussing the origin of poetry and its tradition at the outset, Rajashekhar has mentioned the name of Nandikeshwara as one of the 18 divine scholars of poetry who had written the treatise on Rasa, (Aesthetic Pleasure) – *Rasadhikarak Nandikeshwara:*

Nandikeshwara is considered to be the first and foremost 'Acharya of Rasayana' in Ayurveda. Rasa is related with erotism also. Hence Nandikeshwara is described as the Acharya of Kamashastra in Vatsyayana's Kamasutra' as well as in other works on sexual ethics such as 'Rati Rahasya' and 'Panchasayaka'.

In the list of 18 'Upa-Puranas', 'Nandikeshwara Purana' is also included. Acharya Matanga has mentioned Nandikeshwara as the ancient scholar of music in his splendid work, 'Bruhaddeshi' the first commentary on the 'Desi' type of music. Sarangadev in his 'Sangit Ratnakar' (1/17) has considered Nandikeshwara as the ancient scholar of Music.

Thus, we find the mention of 'Acharya Nandikeshwara' as the exponent of various branches of knowledge including Dance and Music in the ancient treatises.

The Modern Views about 'Nandikeshwara'

M.M. Ramakrishna Kavi in his article published in the Quaterly Journal of the Andhra Historical Research Society (Part 3, page 25-26) considers Nandikeshwara and Tandu as the same person and mentions that he has also composed Nandikeshwara Samhita the major portion of which has been lost but the portion on Abhinaya has survived which is possibly the extant Abhinayadarpana.

The majority of modern scholars agree with M.M. Ramkrishna Kavi's above opinion. Pt. Babulala Shukla Shastri, the Hindi Translator and commentator of Natyashastra has explicitly written in the preface to the first volume of 'Natshastra Pradip' (p. 24-25) that Nandi or Tandu, who is also known as Nandikeshwara is mentioned as Bharata's 'Tandava – Teacher' in Natyashastra itself. Hence there is no harm in considering Nandi as the 'Acharya of Dramaturgy' on the basis of his famous work 'Abhinayadarpana'.

Shri Anandkoomar Swamy, the first English translator of Abhinayadarpana in his preface to 'Mirror of Gestures', (p.31) mentions Nandikeshwara as the follower of 'Tantra', 'Purva Mimansa' and 'Lingayata Shaiva Darshana'. He was

incarnation of Lord Shiva and had a discourse with Lord Indra while residing on Mount Kailasha.

An attempt is made to prove Nandikeshwara to be the predecessor of sage Bharata on the basis of one of the manuscripts of Natyashastra wherein it is mentioned, *'Samaptaschayam' (?) 'Nandi Bharata Sangita Pustakam'* Pt. Babulal Shukla Shastri interpretes it as *'Nandi Bharata Pranitam Sangita Pustakam'* and tries to prove that Bharata was disciple of Nandi or Natyashastra being mentioned in the treatise enunciating 'Nandimata' – 'Nandi-School'. Seth Kaniyalal Poddar in his 'History of Sanskrit Literature' Volume I, p.36-37 has written in his context,

1. Either Natyashastra was written after being inspired by Mahatma Nandi
2. Or the name of Natyacharya Bharata was clubbed with that of Nandi to differentiate him from another Acharya also known as Bharata.
3. Or it might be an error committed by transcriber as happened in nearly 40 manuscripts of Natyashastra.

However, most of the modern scholars consider Nandikeshwara, the author of Abhinayadarpana is as a normal human being rather than a divine person and try to fix the time span of Nandikeshwara in-between $2^{nd}/3^{rd}$ century to $12^{th}/13^{th}$ century.

The Scope of Abhinayadarpanam

The Abhinayadarpanam, treats in a greater detail the Angika Abhinaya that incorporates various gestures, postures and movements which depend upon feet, as the treatise is mainly composed for imparting training in natya and nrtya.

After the introductory matters (1-48) Abhinayadarpanam treats various type of gestures as follows:

(A) GESTURES

(i) Nine gestures of the head *'Shirobheda'* (49-65)
(ii) Eight gestures of eye *'Drishtibheda'* (66-79)
(iii) Four gestures of the neck *'Grivabheda'* (79 – 87)
(iv) Twentyeight gestures by one hand *'Asamyutahasta'* (87 - 165) and four additional gestures (166 – 172)
(v) Twenty-three gestures by both the hands *'Samyutahasta'* (172 – 203)
(vi) Gestures for representing Gods (204 – 215)
(vii) Gestures for representing ten Avataras of Vishnu (216 – 225)
(viii) Gestures for representing different castes, etc. (226 – 231)
(ix) Gestures for representing various relations (231 – 244)
(x) Gestures of hand for dance in general and the method of moving hands in dance (244 – 249)
(xi) Gestures for representing nine planetary deities (250 – 258)

(B) POSTURES AND GAIT *'PadaKarma' and 'Gatibheda'*

Apart from treating gestures Abhinayadarpanam treats various types of gestures and movements of the body that solely depend upon the footwork – *'Pada Karma'* as follows.

(i) Mandalas and Sthanakas (260 – 282)
(Sixteen modes of standing and resting)
(ii) Utplavanas of five kinds (282 – 289) (Leaping movements)
(iii) Bhraman's of seven kinds (289 – 298) (Flight movements)

(iv) Caris and Gaits (298 – 322) (Eighteen kinds of Gaits – *Gati*)

It must be noted that unlike of gestures, the feet movements are not accompanied by their viniyoga applications in Postures (except in the case of sthanakas) the explanation of which is given at the end of Abhinayadarpanam as follows:

> "Mandalas, Utplavanas, Bhramaris, Caris and Gaits according to their relation to one another, are endless in number and variety. Their uses in dance and drama are to be learnt from the Sastra, tradition of the school and through the favour of good people and not otherwise.' (322 – 324)

Abhinayadarpanam and Natyashastra: A Comparision

- The famous opening verse of Abhinayadarpana *'Angikam Bhuvanam Yasya'* is a salutation *'Namaskriya'* to Lord Shiva wherein Shiva has been compared with an actor whose means of expression is gesture and posture as well as language and costume. The conception of Shiva as a cosmic dancer and actor *'Nataraja'* in later treatises also. This shloka of the Abhinayadarpana describes the divine and cosmic form of Shiva in terms of four kinds of Abhinaya enunciated by Bharatamuni in his Natyashastra. Which has been taken by the author of SR also.
- Nandikeshwara also speaks about the origin of Natya (2-7) wherein agreeing substantially with that given in the Natyashastra (IV. 5, 17), he clearly mentions that in the beginning Brahma gave the Natyaveda to Bharata who together with groups of the Gandharava and Apsaras performed natya, nrtta and nrtya before Shiva. Then Shiva having remembered his own majestic performance (dance) caused Bharata to be instructed in that (art) by his attendants (ganas) Natyashastra gives only this much account of origin of Natya and Nrtta but Abhinayadarpana goes one step further and says that 'Before this, an account of his love (to Bharata) he gave to the latter, instructions in lasya through Parvati who on the other hand instructed Usha, the daughter of Bana in lasya who in turn taught the art to milk-maids of Dwarka and they taught this to women of Saurashtra and through them to women of other countries. This additional account given in Abhinayadarpana became so popular that the other treatises have incorporated it verbatim, later on.
- In the following shlokas dealing with *Natyaprashansa* Eulogy of Natya Abhinayadarpana argues that this (art) is viewed even more than the bliss which persons mediating the supreme soul experience (much more than mere *Bramhanand*) otherwise how could it captive the heart of sages like Narada? Natyashastra equates the aesthetic pleasure *Rasanubhava* with *Bramhanand* but Abhinayadarpana considers it *Adhhik* than *Bramhanand*
- Under the heading *Natanbheda* variety of Dances while describing the characteristics of *Natya* natya, *Nrutta* nrtta and *Nritya* nrtya, Abhinayadarpana gives the details of the occasions for these dances

Natanprayogakala This is for the first time that the *Natya, Nrutta,* and *Nritya* are clearly differentiated in terms of Rasa, Bhava and Abhinaya. This clear cut division is followed by all the treatises later on. Such profound division is not found in Natyashastra.

- Abhinayadarpana also speaks about *Sabhapatilakshanam* characteristics of a President *Sabhapati, Mantrilakshanam* characteristics of Adviser, *Sabhalakshanam* character of the Audience, *Sabharachana* Arrangement of the Audience which have become the common subject of all the Medieval Treatises.
- While describing *Patralakshanam* characteristics of *Patra* Abhinayadarpana equates the meaning of the word *Patra* with a dancing girl**,** *Evum with a Guna Peta Nartaki Samudirita* - A girl having all these qualifications is called a dancer (*Patra*). According to SR the dancer is known as a *Patra*. On the other hand Bharatamuni considers *Patra* as a common name of all the characters including *Nayak, Nayika* and their associates connected with the plot of the drama. This is the basic difference.
- Abhinayadarpana also describes the Qualities of Bells *Kinkinilakshanam (Ghungoo)* for the first time which is its original contribution.
- In the 5th chapter of Natyashastra while describing *Purvarang* the Preliminaries Bharata speaks about worshipping the *Ashta Digpala* Lord Indra, Jarjar, Lord Brahma, Vishnu, Mahesh etc. But Abhinayadarpana while giving the details about Introductory Benediction *Prarthanadikam* talks about praising Ganapati, the God of Murja i.e. Drum and the sky and Earth. It also speaks about praising the Goddess of Ranga *Rangadi Devata Stuti* which is unique and followed by all the later treatises on Dance and Drama.
- While discussing about *Angikaabhinaya* Abhinayadarpana clearly divides the limbs of the body into *Anga, Pratyanga, Upanga*. Natyashastra mentions the word *Pratyanga* but does not classify any limb under *Pratyanga*. But Abhinayadarpana enumerates six Pratyanga such as shoulder-blades, arms, back, belly, thigh and shanks, the joining parts of the body.
- Unlike Natyashastra, Abhinayadarpana describes in detail only those limbs which are useful to the dancer viz. *Shira, Drishti, Griva, Hasta* and *Pada,* Head, Glances, Neck, Hands, Foot.

  (a) Head-Gesture. Natyashastra (VIII) describes thirteen gestures of head while Nandikeshavara mentions only nine. Among them five gestures have common names in both the works, besides this, the names of two gestures agree partially.

  If we compare the names, definitions and *vinlyoga* (application) of the head gestures in the two works it is found that the gestures named *Adhomukha, Alolita (Lolita), Dhuta, Kampita, Paravrtta and Parivahita* are defined in each work in a similar manner. As regards their applications also the two works have a

considerable agreement; besides this, the definition of the gesture *Udvahita* in the Abhinayadarpana, agrees substantially with that of the *Utkshipta* of the Natyashastra.

(b) Eye-Gestures. Natyashastra (VIII, 101, ff.), mentions three classes of eye-gestures, (i) eyes for expressing eight rasa, (ii) eyes for expressing sthayi-bhavas, and (iii) eyes for expressing sancharibhavas. Each of the classes (i) and (ii) has eight varieties, while the class (iii) has twenty varieties. But there is no elaboration in Abhinayadarpana (66 ff) in the classification or division of these gestures. It enumerates only eight kinds of them. Further, the classification in the two works has not any common name.

(c) Neck-Gestures. The Natyashastra (VIII. 164 ff) describes nine kinds of these gestures while the Abhinayadarpana (79 ff) mentions four kinds of them. Both have no common name.

(d) Hand-Gestures. Though there is agreement in Natyashastra and Abhinayadarpana regarding classifying the hand-gestures into three classes, and though these three classes share certain common names, they differ as far as the number in each class as well as in their description and application are concerned, as follows:

(1) Single-hand Gestures: According to the Natyashastra (IX), there are twenty-four single-hand gestures, while in the Abhinayadarpana, their number is twenty eight. In both the works twenty-two gestures have common names. Their descrition and application too in the two works have considerable agreement.

If we compare the two works on this point, we find that:

i. The definition of the following thirteen gestures is similar in both the works:
Pataka, Tripataka, Ardhachandra, Araala, Shukatunda Mushti, Shikhara, Padmakosha, Sarpasirsha, Mrgasirsha, Chatura, Bharamara, Mukula.

ii. The following gestures have some similarity in their application as mentioned below: Pataka (2), Tripataka (2), Ardhachandra (2), Mushti (2), Katakamukha (4), Padmakosha (3), Sarposhiras (5), Mukula (2).

iii. Except in the case mentioned in (ii) above the *viniyoga* (application) of the gestures vary in the two works.

(2) Combined-hand Gestures: The Natyashastra (IX) mentions thirteen combined hands, while the Abhinayadarpana talks about twenty-three. The comparasion of the combined-hand gestures named in the two works, shows that

i. The following gestures in both the works have more or less the same definition, and their applications also are similar to a great extent: *Anjali, Kapota, Karkata and Pushpaputa.*

ii. The gesture named Pushpaputa is defined identically in both the works.

iii. The remaining three gestures are defined and applied in a different manner in the two works.

(3) Nrtta-hastas: Abhinayadarpana mentions the 5 movements of the Nrtta-hastas[2a] which are not found in the Natyashastra. The number of nrtta-hastas are thirteen while in the Natyashastra (IX, 173ff.) it is twenty-seven and is different from the single-hand and combined-hand gestures. The nrtta-hastas of the Abhinayadarpana are identical with single or combined-hand gestures. Six of them (Pataka, Tripataka, Sikhara, Kapittha, Alapadma and Hamsaya) are the single-hand gestures of the same name, and the remaining seven (Anjali, Svastika, Dola, Kataka-vardhana, Shakata, Pasha and Kilaka) are the same as the combined-hand gestures of the same name. Thus, whatever might be the number of gestures in each group, the total number of hand-gestures are sixty-four according to the Natyashastra, and fifty-one according to the Abhinayadarpana.

(e) Cari: According to the Natyashastra there are 32 caris, which are divided into two classes: (i) earthly (bhauma) and (ii) aerial (akasagami). But the Abhinayadarpana mentions only eight Caris falling under only one class. Besides, the two works have no common names in their Mandalas.

- Thus, Abhinayadarpana does not follow Natyashastra blindly, though it is highly influenced by it. In each and every aspect of Angika Abhinaya we find some kind of alteration and addition by Nandikeshwara, which is original and unique. That is the reason why Abhinayadarpana has become practical manual for the classical dance practitioners esp of Bharatanatyam.

THE ABHINAYADARPANA AND THE BHARATARNAVA:

Both these works are ascribed to Nandikeshvara, and the authors of the two works may be identical, according to the modern scholars.

References

1) Hindi Translation by Dadheech, Dr. Puru '*Abhinayadarpanam*' Chapter 1 – Introduction, Page 1 to 13, published by Bindu Prakashan, Indore (MP), Third Edition, 2017.
2) Edited and translated by Ghosh, Dr. Manmohan '*Abhinayadarpanam*' Introduction, Page 22 to 28, published by Manisha Granthalaya – Calcutta 73, 6th Print, 1997.

"Asymmetric Non-repetitive Non-circular Physics in Tabla"

Shalini Saxena[+] and MS Godbole[*]

ABSTRACT:

This article describes a considerable potential of mathematics and physics incorporated in re-designing already created many a bandish in Indian art forms of Tabla, Katthak and some Bollywood songs based on Classical Indian Music. The results of this paper suggest that all three, that is, asymmetricity, non-repetitiveness and non-circularity may be able to extend the range of aesthetics, emotions and spirituality in Indian art forms by drawing on certain aspects from mathematical and physics traditions from western science.

Keywords: *Tabla, Katthak, Circular, Physics, Mathematics, Bandish, Layakari, Tihaai, Chakardaar*

Introduction:

Indian traditional art forms have been based on the aesthetics, emotions and spiritual aspects of Indian way of living life. This has given the world great forms of art in Tabla, Katthak and Raga Vocal Music. Even if the human face is symmetric and so do many objects which we see in the natural world and man-made world, still there are some objects which do not come under the category of symmetric repetitive and circular. Not only circularity but also asymmetricity and non-repetitiveness and non-circularity form the inner science in art and music. For this purpose we have used three bollywood songs as experiments and also other example of layakari of Tabla and Katthak in order to demonstrate the role of asymmetricity non-repetitiveness and non-circularity.

Experiments and Observations:

Below is a list of investigations in 12 examples we have done:

1. In Satyajit Ray directed Hindi movie 'Shatranj ke Khilari' there is a song composed Katthak by Pandit Birju Maharaj where Saswati Sen dances on the tune of 'Kaanha mein tose haari…'. The end part of this song has got three Tihaai's in form for chakardaar where there is perfect synchronization between the sound of Tabla beat and the ghungroo-feet sound of the Katthak dancer. This three tihaai or chakardaar can be represented by 3 circles which if merged on top of each other will synchronize so perfectly that they will form only one circle. Such is a great synchronization brought about between Tabla and Katthak. But if we keep on increasing the size of each circle such that circle 3 is bigger

[+] Kendriya Vidyalaya, Bilaspur.

[*]Independent Researcher in Semiconductor Physics and Quantum Physics, Pune.

than circle two which in turn is bigger than circle 1 and then when we merge all 3 circles we will not get a single circle but 3 different circles of different sizes mounted on top of each other which will seem like a rose bud. Instead of the 3 circles we can also do these using 3 ellipses like eggs. This is an example that asymmetric 'ellipse or egg shape' can also be used in music forms and this is where there is a slight minutest 'a-synchronization' between Tabla and Katthak. This example can be a hybrid a-synchronization which is inbetween a tihaai and a chakardaar, but not a perfect tihaai nor a perfect chakardaar. See Figure 1. in appendix.

2. In Guru Dutt's Pyaasa movie there is a song 'Hum aap ki aankhon se iss dil ko…' where there is no sawaal-jawaab (question-answer) but a sawaal-sawaal duet between the male voice and the female voice. But care has been taken that both the sawaal's are in context and not off context. The analogy is that if it was a sawaal-jawaab duet, then if the male and female are on a step of the staircase then a sawaal is climbing one step up and a jawaab is climbing one step done. Then they both will just keep on going up and down just on one stair of the staircase. But in the sawaal-sawaal case there is no jawaab, hence they both keep on climbing all the steps one by one and that together. This is a case of linearity which breaks the circularity in music. See figure 2. in appendix.

3. Here we see a song which is a mixture of point no.1 and point no.2 in our paper where we are having 3 circles which are of different sizes or we have 3 ellipses which are of different sizes and they are going up and up and up on steps of a staircase. So if our 1st ellipse is on step 1 then next bigger size ellipse on step 2 and the next biggest size ellipse on step 3. This trick has been perfectly employed by music director RD Burman in movie Padosan song of 'Mein chali mein chali dekho pyaar ki gali…'. This going higher and higher of saptak levels is an example of non-repetitiveness in music. See figure 3 in appendix.

4. In layakaari on Tabla there can be ratios of 1/1 to 2/4 to ¾ to 1.25/4 and even 5/16 where a 5 matra taal can be fitted in a 16 matra tritaal. See figure 4 in appendix. But if there can be invented a way of playing the left 'bayaan' of Tablaa such that not only in 6 aavartans of Tritaal we get 6 swaras of Raag Yaman say for example, Ni Re Ga Ga Re Sa, but also in 7 aavartans of Tritaal we can produce 6 swaras or vice verse of 6 aavartans of Tritaal we can produce 7 swaras of Raag Yaman, then this is a category of non-circularity and non-repetition. See figure 4 in appendix.

5. When a person is driving a car from point A to point B on the surface of the earth he feels he is going in a straight line. In a similar way if a person is driving a car in a tunnel whose diameter is very long as close to 10 kms. Then in both instances even if the man is going on the curve of the curvature of the earth or the curve of the tunnel, he feels that he is going in a straight line. If these two examples are reversed and then the person is made to feel that he is on a curve but in reality he is only travelling on a straight line, then this amount to non-circular motion in music.

6. When a bird flies from a tree our instant attention goes to the next place where the bird goes but we do not care to look at the past of the bird and that is what happens to the tree the moment the

bird flies. In a similar way if there has to be non-circularity in music then in Tabla the beat which is played at an instant should sound to the listener after one beat later. That is if beat 6 is played the listener should hear beat 5 at that moment. This delay in hearing is a trick which leads this example in category of non-circularity. This is because only when the next aavartan starts does the cycle of circularity starts. But at this instance the listener is listening to the previous beat. This makes it non-circular at 'that instant'.

7. In Gulzar's movie song 'Dil dhondtaa hain phir wohi fursat ke…', just by changing the place of the comma the meaning of the song changes. Similarly in Figure 5 of appendix below when we change the position of the 3 'reference' lines 1 2 3 to new positions 1' 2' 3' we feel the original grill pattern has changed. But it has not changed in reality. Only our feeling is that it has changes because we have changed our 'reference' lines positions. This also amounts to a similar 'delay' in the aavartan of Tabla where just at the instance of start of new aavartan we are still on previous aavartan.

8. A uniform circular motion in physics can be decomposed into two linear motions as in Figure 6 of appendix below. Similarly a Tritaal aavartan which is circular can be decomposed into two taals or bols of Tabla which are not circular but non-circular as in figure 6 in appendix below.

9. Amplitude Modulation or Frequency Modulation are concepts in physics where a small frequency sound is riding or 'swaar' on shoulder of a big frequency sound such that the resulting sound wave is different. This is similar to a man running on a moving train or a small child sitting on the shoulder of her father who is running. When we observe the motion of the man on the train or the small child on the shoulder, then both there motion is a addition of their own motion and the motion of that object on which they are situated. Ina similar way a taal or mukhdaa or a bol can be made to ride or 'swaar' on a original taal in order to change the symmetricity and make it asymmetric. See Figure 7 in appendix below.

10. If a Tabla player is sitting with his Tabla and no playing anything, then this no motion or zero movement also amounts to non-circularity as in physics a no solution is also a solution.

11. Like in a samudra manthan of churning of youghurt using a swirl to make milkcream or a to-fro swirl cycle in washing machine, so is there a reverse-forward motion in taal of Tabla which amounts to non-circularity. See Figure 8 in appendix below.

12. If we put color in different parts of a 'bhavraa' in our bathtub water then different aprts swirl around at different velocity as in physics the surface of water travels at faster velocity that the deeper the water is. This is also a category of delay of time as in above example no. 6 and example no.7 where the circularity is broken. See Figure 9 in appendix.

Conclusion:

Thus we have listed to demonstrate instances of asymmetricity, non-repetitiveness and non-circularity in Indian Arts. There is a hand in hand coordination of mathematics and physics along with aesthetics, emotions and spirituality in Indian music which leads to new innovations and new ideas to be interrelated between Western science and Indian tradition.

Future work:

To find many a new bandish in Tabla and Katthak which will carry forward already created melody and delicacy in music.

Acknowledgements:

We would like to thank our gurus and also all the researchers and artists who have given us great insights in the history and aesthetical philosophy of this art. Our special thanks to Prof. Dr. Hariom Hari, IKSV Khairagarh University. This project is self funded.

References:

1. 'Aesthetics of Bandish', Shubhangi Bahulikar, Diamond Publications [2012].
2. 'Katthak Jnaneshwari', Tirathram Azad, Nateshwar Kala Mandir [2008].
3. 'Aaavartan', Suresh Talwalkar, Rajhans Prakashan [2013].
4. 'Tabla', Arvind Mulgaonkar, Popular Prakashan [1975].
5. 'Tabla: Philosophical and Mathematical Investigations', Hariom Hari *et al*, in press Bhairavi Shodh Patrika [2021].
6. 'On the Fourfold Root of the Principle of Sufficient Reason', Arthur Schopenhauer [1813].
7. 'Tractatus Logico Philosophicus', Ludwig Wittgenstein [1930].
8. Rules in Newtonian Mathematics.
9. Rules in Quantum Physics.

Note: Authors are practicing instrumental Percussion 'Tabla', classical dance 'Katthak' and Classical Raga Mandolin players.

APPENDIX

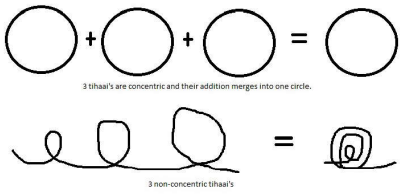

Figure 1.

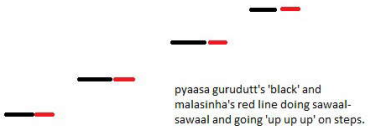

Figure 2.

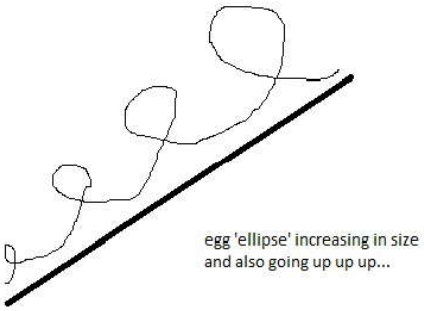

Figure 3.

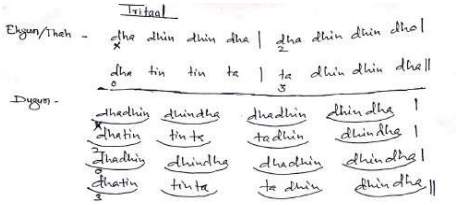

Figure 4.

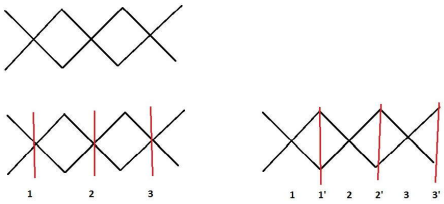

Figure 5.

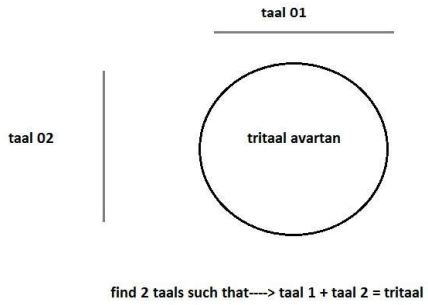

Figure 6.

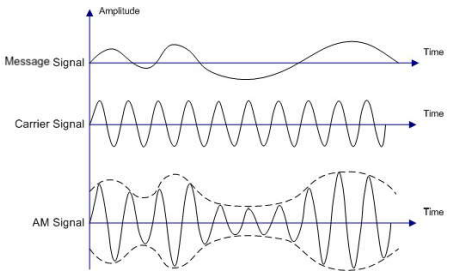

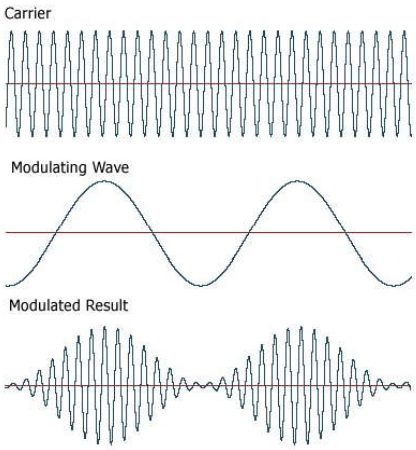

Figure 7.

Figure 8.

Figure 9.

Liberal Arts and the Political Science Pedagogy: Exploration of How Liberal Arts Assists in Comprehending the Political World

Harsha Srinivas[1] & Akshay Agrawal[2]

Abstract

The article takes up the issue of what role art or literature can play in the comprehension of the social or political world, the next part introduces the art forms such as movies, cartoons and novels as pedagogical tools for social science and the last part discusses the National Education Policy (NEP) 2020 and the challenges faced by India in introducing such a pedagogy.

Keywords: *Art, Literature, Movies, Cartoons, Pedagogical, National Education Policy.*

The paper takes up the broader issue of how art in general and literature in particular aid in making sense of the social/ political world. In this paper, the word liberal art is used to refer to mediums such as films/documentaries, novels and cartoons.

Many Social and Political Scientists claim that novels constitute a source of 'data' for research purposes. According to Zukert C (1995) "Teachers of comparative politics have long recognized that having students read a novel or watch a movie is an effective way of introducing them to a foreign culture, enabling them to see the world through the eyes of others and to understand another world view. Works of literature proceed by engaging the sympathy of the reader. They expand our experience vicariously by showing us what it is like to live in another fashion." Thus, artistic forms enable western students of comparative politics to overcome the problem of ethnocentrism.

The question that needs to be raised is what is that the novel provides distinctively as a source of 'data' for research purposes? Negash (2004), a political scientist, addresses this question.

In particular, he asks: 'if insights are

1. Associate Professor, Dept of Political Science, Assam University, Silchar, 200harsha@gmail.com, +919435500933

2. Research Scholar, Dept of Political Science, Assam University, Silchar, akshayagrawal89@gmail.com, +919952978213. Postal Address: S/O-Prof N K Agrawal, A/302, Aradhana Enclave, Pillar No 18, Khajpura, Bailey Road, Patna, Bihar-800014

to be gained from artistic works … one has to provide a more systematic answer to why this is' (original emphasis, Negash, 2004: 187). In answer to his question, Negash makes several suggestions as to 'why the arts, in their form and production, provide a site from where we can observe and experience aspects of political life that we cannot possibly achieve in other ways' (Negash, 2004: 188, emphasis added). The first concerns human agency, the motivations and intentions behind human action, and the way this is represented in artistic works which take 'stock of the discontinuities of the social life process that a "science" of human life or generalizations about human behaviour [sic] cannot accommodate'. As data 'the literary narrative accommodates the unpredictable side of life as well as purposeful behaviour – the fragmented and the coherent at the same time' (Negash, 2004: 193). Second, Negash suggests, 'art is a privileged medium in the sense that it imparts knowledge about life … at both the abstract level and at a deeper cultural level of meaning', revealing something that was not revealed to us before. Together, these two justifications relate to what we might think of as the internal aspects of the text. Negash highlights the contrast between the concerns of a 'traditional' notion of research in the social sciences with its reductive tendencies, aimed at producing generalizations and closure, and those of the artist concerned with complexity, ambiguity and openness. The interdisciplinary tensions produced by this juxtaposition create a productive site, a rich seam, which can usefully be exploited by the social researcher.

This shows up the importance of aesthetics in the novel-as-data: 'one must', Whitebrook (2001: 18) says, 'look at the novel – what goes on inside it – and respond to that. The novel presents a complex picture and this should not, she suggests, quoting Haight (1956), be 'allowed to lapse from the picture to the diagram'. In this sense, the novel, as an ekphrastic device representing the visual in verbal terms, has the potential to move from a simple source of 'empirical data' to an analytical tool that facilitates the development of theory.

Two further reasons are offered by Negash (2004: 193) as to why the novel and other fictional texts (he is also concerned with films) may be of interest to the social researcher. First, novels 'are influenced by other historical circumstances in time and space …'. This relates to Foucault's notion of episteme (1989), a configuration that circumscribes what it is permissible to think in any historical period. Analysis of the text can give insight into the epistemic constraints, or social discourses, which surround its production. Finally, Negash argues that the activities of artists/writers as intellectuals are significant in their own right and 'their influence in the construction of images is also part of the political realities in the here and now (2004: 188), which acknowledges the role of authorial intention in the fashioning of the text. These two aspects relate to context, extending the analysis beyond the confines of the written text. Taken together, all this suggests that fictional narratives provide a potentially distinctive source of data for the social researcher that can be drawn on in a variety of ways.

Another example is provided by a political scientist Whitebrook (2001) in which she provides a complex and

extended example of the use of the novel-as-data. In her book Identity, narrative and politics she analyses literary works by Philip Roth, Thomas Pynchon, E.L. Doctorow and others to examine the narrative construction of identities. This relies on a connection between the form and function of literary narratives and our narratives of experience, a position supported by Culler (1984: 7) who says, 'non-literary discourses prove to function according to principles and processes most dramatically and explicitly manifested in literature so that literature serves as a model for what is involved in the intelligibility they confer'.

Whitebrook (2001: 11) argues: 'given that certain narrative terms are potentially explanatory for the construction of identity, attention is directed to that form of narrative where those terms are most clearly deployed', i.e. novels:

I look at novels as accessible instances of narrative in practice. Turning to narratives – modern novels – allows for observation of how identity is constructed, through attention to content and form; plot and characterization; and narrative structure, style and techniques. The process of narrative construction is relevant since it makes the point that identity is narratively made, and shows what that means for an understanding of political identity. (Whitebrook, 2001: 5)

This approach goes beyond quoting from fictional texts as a means to 'illustrate' particular points or to 'provide insights' (important and useful as this may be). How identity is narratively constructed in the text is subject to systematic interroga¬tion and used to develop theory relating to the creation of political identities. Whitebrook (2001: 17) says, 'novels include political ideas which relate to political theory, but the theory is needed to systematize those political ideas which are part of the literary whole'. It is this process of systematization of ideas, tracking between the artistic source and the resources of social research, traversing the interdisciplinary seam, which provides the strength of this approach in which data and analysis elide, the text becoming as much critical analytical tool as a source of data.

For Whitebrook (1993: 258) this is key and she decries the tendency for researchers with an interest in literature to work with 'crude conceptions' of literary realism in which 'plot is taken as an account that can be treated like a case study and ignoring style, struc¬ture and metaphor'. This highlights a dichotomy: Tierney arguably does indeed treat the campus novel as a 'case'; Phillips and Zyglidopoulos (1995: 593) in their analysis of Asimov's Foundation Trilogy and its relevance to organizational research, are upfront about this, arguing that 'our general approach is to treat works of narrative fiction as intensive, qualitative case studies … we treat the narrative as if it grew out of some underlying hypothesis that the author is struggling within the book', and they equate their approach with grounded theory in which through their analysis they uncover this hypothesis and restate it in a way more useful to research. The dichotomy appears to rest on a distinction between a literary approach to narrative analysis and an ethnographic approach, which cannot be collapsed, illustrating the potentially productive tensions held open across the interdisciplinary seam.

An attempt has been made below to illustrate how art forms such as films, cartoons and novels could be used as a

pedagogical tool in political science teaching and research.

Film

Social scientists are increasingly utilizing mediums such as movies/documentaries to make social phenomena intelligible. The teachers of political science have also started to use movies as a pedagogical tool to explain political phenomena such as foreign policy, conflict situations and foreign governments. According to the scholar, Craciun Claudiu, films can help both students and professors avoid common places, stereotypes and prejudices built against distant people, threatening neighbours or irritating minorities. Firstly, this method helps stimulate the senses. The usual verbal communication has its strong and weak points. Image has many advantages that can be converted into long-lasting memories. Using films or clips doesn't divert student attention from the written materials and lectures' speeches. They just add a plus of image and sound, possibly reverberating in personal life experiences. Secondly, the film can help make abstract concepts concrete. Social science typically uses more abstract concepts than natural sciences. These concepts are not at all easy to explain and are made operational. The authors mention the concept of deterrence that can gain a substantial analytic body by seeing how it works in the real life. One of the best visual references is provided by the Cold War dark comedy Dr Strangelove (1964).

Engaging emotions is also an important benefit. The emotional imagery created by movies can help students add higher stakes to the topics debated. Yet, emotions can hinder the learning process, as some movies/scenes can prove to move to allow a meaningful debate. Teaching politics by using movies a group can address easier past issues. Using films help create bridges to the past. Collective and personal memory doesn't help so much in this matter. So, apart from books and recollections that came from elderly relatives and friends, we might need to 'relive' and historically and theoretically relevant experiences of our societies. We often do speak about the 21st Century World Wars with a certain detachment. The carnages of our century tend to be forgotten or insufficiently assimilated. If students will watch Mann's All Quiet on the Western Front (1979) after the novel of Eric Maria Remarque or Francis Ford Coppola's cinema masterpiece Apocalypse Now (1976), just to name two, students might see in a different light the conflict of this century. Last but not least, using films helps the faculty advance the learning paradigm. From a hierarchical pattern of interaction, they can move towards a more open and creative frame. Students become more easily involved if they know that their contribution is not evaluated concerning the 'good answers' from the books. Watching movies can bring in the class every student with their ideas, experiences and viewpoints. The teacher moves from a central position and leaves the floor to the students. Ultimately, it is a move from a teaching to a learning paradigm, the latter being significantly more student orientated than the first. Political Scientists are usually using movies to teach topics or issues such as international relations, foreign policy, and comparative politics.

Cartoons

Cartoons have also been used as a

pedagogical tool to make the study of politics more lively and exciting to students. This technique capitalizes on the visual learning style of many students and interjects an added interactive dimension to classroom discussions. According to scholar Beth. K. Dougherty (2002) Cartoons should be treated as serious commentary on political affairs. Interpreting a cartoon requires that the viewer be familiar with current issues and debates, savvy about cultural context and capable of analytical judgement.

Although in western countries there are copious cases of scholars/teachers using cartoons as a pedagogical tool, in India during 2006 the Scholars Yogendra Yadav and Suhas Pulshikar wrote the National Council of Educational Research and Training (NCERT) political science textbook with cartoon illustrations. NCERT Political Science textbooks of Standards IX-XI used cartoons to teach young minds about politics. According to the noted scholar Valerian Rodrigues (2012), the texts under question seem to propose that the best way to teach subjects such as political science is by nurturing among the relevant age group a sense of enquiry and reasonableness, and a set of concerns and commitments rather than by doling out a set of truths, or mapping processes, or enumerating facts and their internal linkages. The latter, a formalistic/ scientistic model, makes the learner distance himself/ herself from social reality and remain affectively untouched by it. It tends to foster a sense of naïve objectivity, which even in the natural sciences scholars have increasingly come to discard. On the contrary, the textbooks under question invite a student to engage with social reality although he/she may choose not to, or choose only a domain or two as sufficient.

Novels

There are also instances of using novels to teach international relations and foreign policy. Nafisi (2003) writes in Reading Lolita in Tehran, "A good novel shows the complexity of individuals, and creates enough space for all these characters to have a voice; in this way, a novel is called democratic—not that it advocates democracy but that by nature it is so" (132). This ability to see characters enmeshed in social systems and their multiple selves on full display can create much more complex readings of politics than strict rational-actor models (Fliter 2008). The other value of teaching novels is that these works themselves are embedded in political and economic contexts. This might be clearer in science fiction, where the social commentary is often prominent or works based on historical events.

Stephen Deets (2009) in his article 'Wizarding in the Classroom: Teaching Harry Potter and Politics, describes teaching a course called Harry Potter and Politics. Focusing on aspects of political culture, the class tackled themes of identity, institutional behaviour and globalization.

Stephen opines that the basic problem in teaching political culture and political identity has been twofold. If the students are studying their societies and examples with which they are very familiar, they bring to the analysis their own biases, including which positions are right, which issues are uninteresting, and which narratives predominate. If they are studying societies or issues with which they are unfamiliar, trying to master the details often overwhelms them, leaving little time for them to analyze the situation or apply political science theories with

any nuance. Hence, Stephen imagined a society that students both know intimately and yet have enough distance that they could examine it dispassionately. According to Stephen's teaching Harry Potter has several benefits. Students are both familiar with the wizarding world and yet have enough distance to examine it dispassionately. The book is driven by ethnic conflict, political power struggles, and dysfunctional bureaucracies. Finally, there is academic literature on the books. Beyond Harry Potter, teaching politics through popular culture is not only natural for addressing political culture, but taps into the ways undergraduates are increasingly experiencing politics.

Several attempts have been made by political scientists and scholars to use the novel to teach international relations or the concepts of international relations. April Morgan (2006) in his article titled 'The Poisonwood Bible: An Antidote for What Ails International Relations' examines the heuristic value of a work of fiction in an international relations classroom, in which students in an upper-level political science course were asked what stood out to them about international political economy in the Barbara Kingsolver novel, The Poisonwood Bible. In this study, Student papers were analyzed in a phenomenologically informed hermeneutic study, for which they received no extra credit. Collective thematic analysis of responses identified three meanings common to student experiences of the book. These themes included the relative power of international political economy theories to explain the Congo's underdevelopment during the period covered in the novel, the salience of interpersonal skills in international relations, and holism in knowledge and politics. Underlying theoretical implications and study results are discussed in terms of the pedagogical implications for the ongoing debate within international relations as a discipline of explaining versus understanding. Thus, the scholars underscore the significance of fictional works as a relatively better mode of teaching international relations to the students.

National Education Policy (NEP) 2020

The New National Education Policy (NEP) 2020 included by the Ministry of Education has introduced many changes to reform the state of Higher Education in India. The policy aims to transform higher education in India from being a piece of degree-granting machinery to a platform that nurtures the creative talent of an individual. The Education Ministry envisions providing quality higher education to all students in India. A part of the changes introduced by the NEP 2020 is the move to introduce music, arts and literature subject in all the colleges in India. No matter which course a student is pursuing, whether it be engineering or management, they will be able to choose subjects that are otherwise clubbed under the banner of 'arts' as a part of their course. Students will also be provided with credits, for completing these courses, which will be counted towards their overall course completion goals. The shift is intended to bring education in India up to the standards and requirements of the 21st century. Thus, NEP acknowledges the significance of liberal arts subjects and provides enormous scope for using them as a pedagogical tool to teach political science. In the backdrop of NEP 2020 & taking into account the ground reality of higher education in India, the

following section enumerates the challenges.

Challenges

The present section discusses the challenges faced by India in utilizing liberal arts such as movies, cartoons and novels.

The first major hurdle for the introduction of such pedagogical tools is the competence of the teachers who are supposed to possess basic skills. Many scholars such as Rajeswari Deshpande (2011) have cast aspersions on the manner of appointment of teachers through inconsistent UGC guidelines. The teachers appointed through such controversial norms could lack the skills & capability to impart quality education.

The second biggest hurdle is the linguistic capabilities of the students themselves who are especially studying in-state universities. Such a scenario in some of the states in India poses a challenge to the efficacious use of such pedagogical tools.

The lack of basic infrastructure such as uninterrupted power supply, high-speed internet, overhead projector in India's public universities & colleges acts as a constraint to employ such innovative pedagogical methods.

The contested nature of social & political reality in India poses a formidable challenge to invoking liberal arts as a pedagogical tool to teach political science in India. The series of incidents of vandalism, censorship and curtailment of artistic and academic freedom India has witnessed in the last two decades points to the contested nature of academics in India. In 2011 owing to the pressure from right-wing groups, A. K. Ramanujan's text was removed from the reading-list of the History syllabus for the BA Degree at Delhi University.

The objection that undergirds the call to ban a book or a text is generally attributed to hurt religious sentiments; however, there are claims to political sentiments also being hurt. The Shiv Sena in Mumbai objected to Rohinton Mistry's novel, Such a Long Journey because one of the characters in the book was said to resemble their leader, Bal Thackeray. Hence, the book was taken off Mumbai University's literature syllabus. Another book on the teaching of political science as part of the Social Studies syllabus of the National Council of Educational Research and Training (NCERT) had several cartoons illustrating, quite humorously, certain points being made in the text. Dalit organizations and parliamentarians objected to some of the cartoons in the NCERT book because it showed B. R. Ambedkar riding a snail and Nehru standing by with a raised whip, which was meant to suggest that the writing of the Constitution by Ambedkar was going at snail's pace. Instead, it was viewed by Dalits as Nehru trying to whip Ambedkar, even though it was repeatedly pointed out that the whip was meant for the snail and not for Ambedkar. Succumbing to the pressure of Dalit groups & the political opposition, the Congress government ordered the removal of all the cartoons without contemplating the academic utility of cartoons as a pedagogical tool. These controversies highlight the limitations to innovate new pedagogical methods such as cartoons in teaching politics & social sciences.

Conclusion

The New National Education Policy

(NEP) 2020 underscores the utility of liberal arts and bestows liberty to the scholars & educationists to innovate new pedagogies to teach political science in India. The recent decision of UGC to rope in industry experts and professionals by scrapping NET & PhD. & creation of two special positions such as professor of practice and associate professor of practice to teach other subjects & political science is a welcome move. This will allow a diplomat to teach international relations and a professional to teach public policy. Thus, the new policy would empower the teacher cum practitioner to bring his expertise & he/she would be more competent to use new pedagogies to teach political science. It is an opportunity for the political science teachers & educationists to employ new pedagogical tools to inculcate value education to the students.

References

1) Cantor, P.A. (1995). "Literature and Politics: Understanding the Regime," Political Science and Politics 28(3): 192–195
2) Craciun, C. (2004). Teaching Political Science at the Movies. *Political Science After the EU Enlargement: Challenges To The Discipline*. Presented at the The Epsnet Plenary Conference 2004, Charles University, Prague.
3) Culler, J. (1984). Problems in the theory of fiction. *Diacritics* 14(1), 2–11.
4) Deets, S. (2009). Wizarding in the Classroom: Teaching Harry Potter and Politics. *PS: Political Science & Politics, 42*(4), 741-744. doi:10.1017/S104909650999014X
5) Deshpande, R. (2011). How does the System Encourage Academic Dishonesty, *Economic & Political Weekly*, 46 (8),14-16.
6) Edelman, M. (1995). From Art to Politics: How Artistic Creations Shape Political Perceptions. Chicago, IL: Chicago University Press
7) Fishman, E. (1989). Likely Stories: Essays on Political Philosophy and Contemporary American Literature. Gainesville: University of Florida Press .
8) Foucault, M. (1970). *The Order of Things*. Routledge.
9) Gorman, D. (1995). Jonathan Culler: A Checklist of Writings on Literary Criticism and Theory to 1994. *Style*, *29*(4), 549–561. http://www.jstor.org/stable/42946311
10) Horton, J. (1996). "Life, Literature and Ethical Theory: Martha Nussbaum on the Role of the Literary Imagination in Ethical Thought," in J. Horton and A.T. Baumeister (eds), Literature and the Political Imagination. London and New York: Routledge .
11) Horton, J. and Baumeister, A.T., eds (1996). Literature and the Political Imagination. London and New York: Routledge .
12) Leitch, V. (1988). Notes. In *American Literary Criticism from the Thirties to the Eighties* (pp. 413-438). New York Chichester, West Sussex: Columbia University Press. https://doi.org/10.7312/leit90260-017
13) Negash, G. (2004). Art Invoked: A Mode of Understanding and Shaping the Political. International Political Science Review, 25(2), 185–201. https://doi.org/10.1177/0192512104041284
14) Negash, N. (2003). "Resistant Art and Censorship in Africa" , Peace Review 15(2): 133–139
15) Rodrigues, V. (2012). Politics and Pedagogy: The NCERT Texts and Cartoons, *Economic & Political Weekly*, 47 (22), 21-23.
16) Shapiro, M.J. (1981). Language and Political Understanding: The Politics of Discursive Practices. New Haven, CT: Yale University Press
17) Whitebrook, M., ed. (1992). Reading Political Stories: Representations of Politics in Novels and Pictures. Lanham, MD and London: Rowman and Littlefield
18) Whitebrook, M. (1995). Real Toads in Imaginary Gardens: Narrative Accounts of Liberalism. Lanham, MD and London: Rowman and Littlefield
19) Whitebrook, M. (1996). "Taking the Narrative Turn: What the Novel has to Offer Political Theory," in J. Horton and A.T. Baumeister (eds), Literature and the Political Imagination. London and New York: Routledge
20) Whitebrook, M. (2001). Identity, Narrative and Politics. London: Routledge
21) Zuckert, C. (1995). "Why Political Scientists Want to Study Literature?" Political Science and Politics 28(2), 189–190

Performing Women: A Critical Study of Construction of 'Woman' in Ancient Indian Drama

Dr. Mrityunjay Kumar Prabhakar

Abstract

It is obvious that representation of women in Ancient Indian Drama and Sanskrit dramaturgy was not as powerful and iconic as men though woman have been integral part of Indian drama and dramaturgy since its inception. The question is not about assigning greater roles to women characters but the question is the mere representation of the 'women'. The 'women' of the most of the Sanskrit plays have been shown as passive and at the receiving end while their 'men' counterparts have been shown active and doers, barring few exceptions. And as Bharata in his first chapter of Natyasastra written, Drama is mere representation of the real world. In that sense whether the kind of representation given to 'Woman' in Sanskrit Drama/Ancient Indian Drama do signify anything or suggest about the real well being of the 'woman' in society.

Keywords: *Sanskrit Drama, Ancient Indian Drama, Performing Women, Woman Performers, Feminism*

Introduction

The question keep occurring in my mind that whether the walking, talking and co-living women folk we indulge with in our daily life from our own family to our office spaces to the wider society are real ones or the represented ones? Whether the women we interact with in our life are real women or they are the gender constructs of the society? These questions comes to my mind as I have felt that most of them are just shadow of themselves, as if they are not leading their lives but representing somebody else. They might be co-living, co-existing and breathing beside their male counterparts in a family, office or society but they have nothing leading life of their own. Sometimes, it feels like they are programmed like any robot or computer to perform certain tasks in certain manner and are no living beings like their male counterparts, as we see that even their wishes are mostly not for themselves but for their loved ones or closed family members or others. From where this 'woman' folk has arrived? The answer is that this woman folk has been created through a lot of efforts, deliberation and designing which controls not only their behaviour but also their thinking and mind. This becomes more real, specially, when we talk about the

older times or ancient India.

In the ancient times, which was a predominant men's world, woman presence was as good as being absent. They were always there but their presence was hardly felt apart from the roles assigned to them. This is how history has been made and this is what we got through different available literatures. Though, literature has not been considered as authentic source of history but they do signify the reality of the world in their own way. The representation of 'woman' in ancient texts specifically Ancient Indian Drama or Sanskrit plays have a lot to say not only about the plight of 'woman' in society as subject but also the construction of 'woman' as an object. How these are inter-related or connected and how these things started interpolating with each-other, and what are its impact or after-effects are the main concerns of this paper.

Representation of Woman in Ancient Indian Drama

It is obvious that representation of women in Ancient Indian Drama or Sanskrit dramaturgy was not as powerful and iconic as men though woman have been integral part of Indian drama and dramaturgy since its inception. The question is not about assigning greater roles to women characters but the question is the mere representation of 'women'. The 'women' of the most of the Sanskrit plays have been shown as passive and at the receiving end while their 'men' counterparts have been shown active and doers, barring few exceptions. This is what feminist scholar Laura Maulvey observes, *In a world ordered by sexual imbalance, pleasure in looking has been spilt between active/male and passive/female,* in her article 'Visual Pleasure and Narrative Cinema' published in *Screen (16(3): 6-18)*. Here, the portrayal of 'women' in many sense is as good as 'performing' them as these women are created through the lens of men's gaze and desire.

Most of the women characters of Ancient Indian Plays or Sanskrit plays (Though, I will be limiting myself to the Sanskrit plays written till 12th century AD) seem to be developed as desired by men. The presentation of 'women' here is limited to their physicality in many senses. In many cases even in love stories, which is a predominant theme of Sanskrit drama, 'women' are portrayed as 'beloved' or 'love interest' rather than projected them, too, as lovers. Love is supposed to be the equalizer of men and women but here, too, they are at the receiving end. This is what I call objectification of women subject. In a way, the representation of 'women' in Sanskrit plays looks similar to what the feminist scholars Propp and De Lauretis discuss as objectification of 'women', utilizing the actantial model of Geimas, which proposes a schema based on six functions (Sender, Subject, Object, Helper, Opponent, Receiver) in any narrative, and which had a wider application in dramatic and theatrical contexts, as discussed by Elaine Aston [1988: 39]:

To give an example of the actantial model: in a traditional love narrative the hero (Subject), under the influence of love (Sender), seeks the heroine (Object), as a result of his own desire (Receiver), and is aided by friends (Helper/s), or opposed by his adversaries, often the heroine's father/guardian (Opponent/s).[1]

This is exactly how 'women' have

been objectified in most of the narratives of Ancient Indian Drama/Sanskrit plays. In the absence of women playwrights, performers (?), producers, directors, organizers and viewers this was very much expected, as the women voice/ presence was either hidden or totally absent. They are being represented as mere victims of the choices the protagonists made or their fates,whether it's plays like*Abhijnanasakuntal, Malvikaagnimitram, Vikramourvasiyam, Swapanvasavdatta, Ratnavali, Priyadarsika, Uttarramcharitam* or any other play.

Examples of Women Characters in Ancient Indian Drama

Let's take examples of woman characters from the play texts which are part of Ancient Indian Drama or Sanskrit Drama. I will try to establish what I have said earlier in this article through the examples of woman characters of the plays, which are supposed to be the representation of the actual woman folkof that time. Through, these characters we will not only get the hint towards what I was talking about but also the proof of the same. I will try here to establish my notion through some of the important woman characters of Ancient Indian Drama, as taking each and every character and talking about them would be not feasible.

Let's take first the most prominent woman character *Sakuntala*, as example, portrayed in Ancient Indian Drama by none other than *Kalidasa*, one of the greatest poet and playwright of the period. *Sakuntala* became the archetype of woman figure through the play *Abhijnanasakuntal* in ancient India. She became the most sought after female protagonist after that and many poets later tried to re-create her look alike under different names and figures in later phases. *Sakuntala* of the play *Abhijnanasakuntal* is probably the ideal woman figure and wish of every male of Indian society. She is young (sweet sixteen), charming, alluring, loving, caring, and devoted. She is playful as a lover and dutiful as wife to her husband. Sheremains faithful towards her husband, even if she had gone through a lot of miseries from his own hands. What else a male can demand from his beloved? She possess all five qualities prescribed by *Chanakya Neeti* to be an ideal woman.

According to *Chanakya Neeti* there are five qualities prescribed by Chanakya, which makes a woman best among the lot. They are being compassionate and polite (Daya aur Vinamrta), following dharma (Dharm ka palan), habit of hoarding (Sanchay karne ki pravriti), sweet voice (Vani ki madhurata) and being six times more courageous than male (Purushon se chhah guna sahas). If we analyse the character of *Sakuntala* in the light of *Chanakya Neeti*, we will find that she quite fit in the frame developed by Chanakya in his *Chanakya Neeti*.

In the play once Dusyanta goes away from Ashrama after making merry with her, he didn't even worry to get back to her, neither has he remembered her when she approaches him with colleagues from Ashrama, as saint Kanya had sent her to the King once he finds out that she has done gandarva vivaha and she is now pregnant. Though, in the narrative *Kalidasa* had rescued him from his deeds with the use of dramatic convention of 'curse' given by *Durvasa* rishi, but we all know that in the actual narrative of Mahabharata, nothing this sort happens. And even if this was due to the curse

itself how *Sakuntala* could be knowing and being considerate about the same. With all humiliation she had felt, she had to leave the palace with the baby in her womb. She faced her agony without any complain. Does she look like a real woman? I think, absolutely not. She is the creation of man's desire and that's why she is the most desirable and sough after character of Indian mythology and society. This is what I call 'construction' of woman for consumption of the male ego and desire.

The same came can be seen in the character of *Vasavadatta* in the narrative of *Swapnavasavdatta* written by one of the oldest playwright of Ancient Indian Drama named *Bhasa*. The narrative of Ujjain's princess Vasavadatta's gandharva vivaha with king Udayana, king of Kosal, has been told in the earlier play titled *Pratigyayougandhrayan*by Bhasa. In *Swapanvasavadatta* Bhasa comes up with the story of their falling apart as in the very first act of the play it has been established that *Vasavadatta* has become victim of a great fire and thus *Udayana* has lost her as his kingdom, which has been snatched by his enemy. This has been planted by Udayana able minister *Yougandhrayan*, as he believes that in the presence of *Vasavadatta*, he will not act accordingly, as the time demands. And to win back his kingdom he has to be in action and marry the *Padmavati*, princess of Magadh, to gather and take support of army of Magadha to win back his state. The play depicts the story of their *Viyoga* (separation) and ultimately they come together in the end when *Udayana* wins back his kingdom with the support of Magadha army. In this text also not only the character of *Vasavadatta* but also of *Padmavati* are being used by the playwright as if they are here merely as wish fulfilling creatures of *Udayana,* not the real human beings, who have their own desires and thinking. And this is true for most of the other plays of Ancient Indian Drama. This is also very much evident through the concept of *Nayika Bheda* developed by *Bharata* in *Natysastra*.

The Concept of Nayika Bheda

If, we see, the categorization of women characters portrayed in Sanskrit plays or advised to portray in such light through some dramaturgical texts and other sources through the concept of *Nayika-Bheda*, we will come to know that even these categorization has been done keeping men at centre of the discourse. Be it the differentiation of *Nayikas* by *Bharata* in his famous dramaturgical text *Natyashastra* or by *Agnipurana*, women here are differentiated according to their relation with their men and their mental or emotional state. They are eight in numbers; *Vasaksajja Nayika, Virahotkanthita Nayika, Svadhinabhartruka Nayika, Kalahantarita Nayika, Khandita Nayika, Vipralabdha Nayika, Proshitabhartruka Nayika and Abhisarika Nayika*, as defined in sloka number 210-211 of chapter twenty four of *Natyasastra*.[2]

Here, *Vasaksajja Nayika* is the one who is ready or dressed up for the union, *Virahotkanthita Nayika* is the one who is distressed by separation, *Svadhinabhartruka Nayika* is the one who is having her husband in subjection, *Kalahantarita Nayika* is the one who separated by quarrel, *Khandita Nayika* is the one who is enraged with her lover, *Vipralabdha Nayika* is the one who is deceived by her lover, *Proshitabhartruka*

Nayika is the one who has a sojourning husband and *Abhisarika Nayika* is the one who is going to meet her lover. Thus, we see that all this classification is based on the 'women' relationship and emotional state with their 'men'. If, I argue on the basis of the characters like *Sakuntala, Malavika, Urvashi, Padmavati, Vasavadatta, Vasantsena, Tapti, Sita, Draupadi, Hidimba, Dharni* and other main characters introduced in different plays by various playwrights like *Kalidas, Bhas, Bhavbhuti*& others, these characters have either been woven around *Nayika-Bheda*or provided authenticity to those categorization.

Woman as part of Theatre Repertory

Though, it is believed that women were part of the performing troupes in ancient times and they used to play women characters represented in the Sanskrit plays but there is hardly any fact available regarding the same. Either the aestheticians, philosophers and critics of Indian dramaturgy are silent on the issue or they haven't found any practice. The practitioners are supposed to be degenerated and not suitable to live in civil society, as suggested by Indian politician cum philosopher *Kautilya* in his text *Arthsastra*.

There shall be no grounds or buildings intended for recreation [in the new settlements]. Actors, dancers, singers, musicians, professional story tellers, and minstrels shall not obstruct the work [of the people], because in villages whch provide no shelter [to outsiders], the people will be {fully} involved in the work of fields. [Consequently] there will be an increase in the upply of labour, money, commodities, grains and liquid products. {2.1.33-35}.[3]

The deliberate marginalization of performer community, which is still obvious in the present society, was very much there in ancient times and this must be the reason behind the silencing of 'women' performers in the history. As, 'women' performers must have faced two layered marginalization, first as being performer and second being a women. Thus, we need to focus on the issue of marginalization of women performers as a whole and unearth the 'hidden' or 'silenced' voice of women and their reasons in particular as suggested by Elaine Aston in feminist method of theatre studies:

The 'new direction' in theatre history was exposing the history of male domination of the stage and recovering women's performances which, like so much of women's culture, had been 'hidden' and silenced by a body of conservative, male criticism.[4]

Woman as Performed Entity

There is hardly any doubt about it that any art practice in general or performance in particular has its roots in the immediate setting of the society. The society influence the art practices and performances in various ways which is not just limited to acquiring narratives and forms from them. In the same way art practices or performances also influence the society in long terms. In connection to that it is also interesting to note that whether the 'women' represented as 'object' in Sanskrit performances and dramatic texts had played any role in 'objectification' of 'women' in society. This is the central thrust of this research.

The theatre history and dramaturgy of Ancient Indian Drama and study of it

shows that 'woman' has been constructed as other than 'man' and it has been represented in various Sanskrit play texts. As feminist scholar De Lauretis mentions that historically woman has been represented as other than man and how feminist scholarship is trying to identify and analyze it:

Feminist scholarship in recent years has been centrally concerned with the theoretical discourses of representation articulated through the texts of a number of cultural fields: art, cinema, media, advertising, theatre, etc. In consequence, feminist analysis of representation has identified the oppressive discourse of engendered representation which constructs and positions 'woman' as 'the other-from-man'.[5]

In the light of this new thinking when we try to analyse the same various questions arise about the woman folk and its representation in Ancient India and Ancient Indian Drama. Some of these are;

Whether the portrayal of women in Sanskrit drama subjective or objective? Whether the image of the 'objectified' women also reflected in 'subjective' women or just 'subjective' women got 'objectified' in the portrayal of the characters? Did the 'Performed Women' became the prototype of society women and sooner or later their characteristics have been adopted by them?Does the portrayal of women in plays and literature of Sanskrit texts are mere representation of women of the society or these performed women have constituted the women of the society in longer period. Have performed women played any role in developing the women kind in general society?

And surprisingly answers to all these questions are in affirmative. The Performed entity of 'woman' later get translated into real 'woman' as society has set the expectation from them in the similar fashion and because of the resonance of the same was everywhere and the society was predominantly run by the dictums of the men, the woman kid of the society had no option but to follow the suit. And thus slowly the real woman got transformed into the performed entity, because the society had different expectations from them and they have no other option than accepting the same as they were devoid of the property rights and they can't even have proper education.

Conclusion

Thus, it can be argued safely that Ancient Indian Drama and its dramaturgical texts and their performances had played a vital role in construction of the women of our society. The role assigned to them and expectations from the women characters in a play was always to please the 'man' of the family or society. The portrayal of women in plays and literatures of Ancient Indian Drama and various Sanskrit texts are not mere representation of women of the society but these performed women have framed and constituted the women of the society in the longer period. Here, the performed entity of women overshadowed the women of the society and sooner or later they got transformed into performed entities.

[1] Elaine, A. (1995) *An Introduction to Feminism and Theatre,* Routledge: London and New York, 39.

[2] https://www.wisdomlib.org/hinduism/book/the-natyashastra/d/doc210156.html 21.02.2022

[3] Kautilya The Arthasastra (1982) (edi.) N. Rangarajan, Penguin Books: New Delhi, 180.

[4] Elaine, A. (1995) *An Introduction to Feminism and Theatre,* Routledge: London and New York, 3.

v Lauretis, T. D. (1984) Alice Doesn't: Feminism Semiotics Cinema, Bloomington: Indiana University Press, 5.

Bibliography

Adaval, Niti. *The Story of King Udayana*, Chowkhamba, Varanasi, 1970.

Basham, A.L. *The Wonder that was India*, Grove Press, New York, 1959.

Baumer, Rachel van M., and James R. Brandon. *Sanskrit Drama in Performance*, University of Hawaii, Honolulu, 1981.

Bhat. G.K., *Appointment with Kalidasa*, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad, 1982.

Bhat, G.K., *Vidushaka*, New Order Book Company, Ahmedabad, 1959.

Byrski, M.C., *Concept of Ancient Indian Theatre,* Munsilal Manoharlal Publisher, New Delhi, 1974.

Byrski, M.C. *Methodology of the Analysis of Sanskrit Drama*, Rozprawy Uniwersitetu Warszawskiego, Warsaw, 1979.

Dasgupta, S.N., and S.K. De., *A History of Sanskrit Literature*, University of Culcutta, Kolkata, 1974.

De., S.K. *Ancient Indian Erotics and Erotic Literature*, Firma K.L. Mukhopadhyay, Kolkata, 1959.

Devasthali, G.V. *Introduction to the Study of Mrichhakatika,* Keshav Bhikaji Dhavale, Bombay, 1948.

Elaine, A. *An Introduction to Feminism and Theatre,* Routledge, London and New York, 1995.

Freud, Sigmund.,*Beyond the Pleasure Principal*, Hogarth, London, 1986.

Ghosal, S.N., *The Inception of the Sanskrit Drama,* Calcutta Book House, Culcutta, 1977.

Goldman.,*Mortal Man and Immortal Woman: An Interpretation of Three Akhyana Hymns of the Rgveda*.' JOI 18.4 (1969): 272-303.

Goodwin, Robert E., *Aesthetics and Erotic Entrancement in the Sakuntala*, AO 43.1 (1989): 99-123.

Goodwin, Robert E., *The Play World of Sanskrit Drama*, Motilal Banarasidas Publisher, New Delhi, 1998.

Ingalls, *Kalidas and the Attitude of the Golden Age*, JAOS 96.1, (1976): 15-26.

Jagirdar, R.V., *Drama in Sanskrit Literature*, Popular Prakashan, Bombay, 1967.

Keith, A.B. *The Sanskrit Drama: In its Origin, Development, Theory and Practice,* Motilal Banarasidas Publication, New Delhi, 1998.

Kuiper, F.B.J. *Varuna and Vidushaka: On the Origin of Sanskrit Drama*, North Holland Publishing Compnay, Amsterdam, 1979.

Lauretis, T. D. *Alice Doesn't: Feminism Semiotics Cinema*, Indiana University Press, Bloomington, 1984.

Manikar, T.G. *Kalidasa, His Art and Thought*, Deshmukh Prakashan, Poona, 1962.

Majumdar, Pusalkar and Majumdar, *The Classical Age*, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1988.

Pusalkar, A.D., *Bhasa: A Study*, Munsiram Manoharlal, New Delhi, 1968.

Shekhar, Indu., *Sanskrit Drama: Its Origin and Decline*, E.J. Brill, Leiden, 1960.

Spratt, P., *Hindu Culture and Personality,* Manaktalas, Bombay, 1966.

Van Buitenen, J. A. B., *Dharma and Moksha*, PEW 7 (1954): 33-40.

Wells, Henry.,*The Classical Drama of India*, Asia Publishing House, London, 1963.

Wilson, H.H., *Select Specimens of the Theatre of Hindus*, London, 1835.

The musical prowess of Sri. Subbarama Dikshitar– A study through the Tanavarnam in Erukalakambhoji

Bindu J R*,Dr. V Janaka Maya Devi**

Abstract

The "Sangita Sampradaya Pradarsini" is an important text on South Indian Musicology and is the masterpiece work of Subbarama Dikshitar. This text originally in Telugu was published in the year, 1904 at Ettayapuram, Tamilnadu. Indian music is unique with its diversity of musical forms, with a strong focus on Sruti, Tala, instruments, and composers. These had gradually evolved through scientific experiments, which may be traced back through the treatises' references. The Lakshanagrandhas play a significant role in music since they reflect the musical systems of various periods. The majority of these publications deal with the science of music prevalent at that time.

The Sangita Sampradaya Pradarsini has a pride place among modern period works given its both theoretical and practical features. The 'Pradarsini' of 'Sangita Samprdaya' provides the connection to the tradition. Subbarama Dikshitar is a composer and a musicologist (Lakashanakara) (Vaggeyakara). He has composed various musical forms such as Jatisvara, tana varna, Padavarna, chowkavarna, Daru, Kirtana, Ragamalika, Chitta tana, and composed Sanchari for ragas specified in Sangita Sampradaya Pradarsini.

***The Methodology followed for this research paperis as follows**:*

- *Subbarama Dikshitar –Life sketch and career*
- *Sangita Sampradaya Pradarsini- a glimpse*
- *Janya ragas of Harikedaragaula*
- *Compositions of Subbarama Dikshitar in janya ragas of Harikedaragaula*
- *Tanavarna of Subbarama Dikshitar in Erukalakambhoji*
- *Dhatu Analysis*
- *Matu Analysis*
- *Discussion*
- *Conclusion*

***Key Words :** Subbarama Dikshitar, Sangita Sampradaya Pradarsini, Mela, Harikedaragaula, Erukalakambhoji*

---

* Assistant Professor & Ph.D. Scholar, Dept. of Music, Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore, (Ph. No: 6282285843) (email: bindu_mus@avinuty.ac.in)

**Professor & Head, Dept. of Music, Avinashilingam Institute for HomeScience and Higher Education for Women, Coimbatore

Introduction

Being a multifaceted personality Subbrama Dikshitar is regarded as one among the great Musicians of South Indian Music. It would be rather impossible to find a comparable figure in the musical history. The musicians and musicologists are greatly indebted to him especially for the grand work Sangita Sampradaya Pradarsini through which the entire treasure of golden age of Carnatic music was brought to light.

He was the heir to a long and illustrious tradition known as Dikshitar Parampara. Even two centuries after his death, he continues to fascinate and instruct music students.

Subbarama Dikshitar – Life sketch[1]

Subbarama Dikshitar was born in Tiruvarur, Tamilnadu, in 1803. ShivaramaIyer and Annapurni, Baluswamy Dikshitar's youngest daughter, were his parents. He was given the name Balasubrahmanya Sarma, and affectionately called Subbarama. The ruler of Ettayapuram, Jagadisvara Rama Kumara Ettappa Maharaja, who was well-versed in astrology, called upon renowned astrologers to examine Subbarama's horoscope, and after seeing that it predicted a bright future, the king urged Balasvami Dikshitar to adopt him. Baluswami Dikshitar, his maternal grandfather, took him to Ettayapuram when he was just five years old and adopted him as his own son.

Subbarama Dikshitar received rigorous music training from Baluswami Dikshitar, especially on the vina, and learned Telugu and Sanskrit with the help of other tutors.

Career

In his seventeenth year (1858), Subbarama Dikshitar became a composer and at the age of nineteen he become Asthana Vidvan (Court Musician), succeeding Baluswami Dikshitar. He began composing at the early age of seventeen. Although he gave the Tana varna in raga Darbar before the king, some court scholars believed that it was written by Baluswami Dikshitar. The king tasked him with writing a Jati-svara in the raga YamanKalyan and gave him the following instructions[2]:

1. It should be in Adi tala
2. Svara passage after Anupallavi
3. Next svara passage should be in 3 tempos and to be sung in reverse orderalso
4. End with muktayisvara

He had effortlessly completed the composition and after hearing it he was rewarded with a pair of shawls and ten sovereigns.

Composer

Sri Subbarama Dikshitar rose to prominence as a composer and performer (Vaggeyakara) and he composed a variety of musical forms and tuned certain pieces written by others. In terms of composition, he followed Muthuswami Dikshitar. Sanskrit and Telugu are the languages used.

The Valli-Bharatam, a Tamil composition by Kadigai Namassivaya Pulavar of the Ettayapuram Court, was set to music by Subbarama Dikshitar. And, he set another composition, Ma - moha -lahiri in Khamas by the same Tamil scholar to dance-music, similar to famous Useni Svarajati. It is printed in the Sangita Sampradaya Pradarshini. He also did a

Tamil translation of the Telugu Mahabharata. He also composed the music for some of Krishnasamayya's (another artist attached to the Court) lyrics.

Works

1. Sangita Sampradaya Pradarshini
2. Pratahmabhyasa Pusthaka
3. Andhra Mahabharata
4. Vallibharatam
5. Sanskrta Andhra Dravida Kirtanalu

Sangita Sampradaya Pradarsini- a glimpse

Subbarama Dikshitar worked on his work Sangita Sampradaya Pradarsini for four years, beginning in 1901 and finishing in 1904. This work was finished due to the great effort taken by Chinnaswami Mudaliyar, a lover of Carnatic music and superintendent in the Madras Government Secretariat. It was Chinnaswami Mudaliyar, who requested the Raja of Ettayapuram Samsthanam to bring to light the treasure of Carnatic music with the help of Subbarama Dikshitar. Subbarama Dikshitar has left a wonderful legacy to future generations. The original Telugu text is divided into two volumes.

Content[3]

The Content of the work includes:

- Sangita Lakshana Prachina Paddhati (Musicology of Ancient time)

a. Containsthe technical terms of music (nada, sruti etc.), raga system of ancient times i.e, born out of Grama, Marga ragas and desi raga
b. Different classifications of ragas such as Sudh, Salaga, Sankirna and Uthama, madhyama, adhama
c. Classification of Talas
d. Lakshanas of Vaggeyakara

- Sangita Lakshana Sangraha (Modern musicology)

a. Description of Venkatamakhi's Caturdandiprakasika
b. Categories of music (Vaidikagana, Vyakhyaganalaukikagana and Kevalalaukigagana)
c. The 22 srutis and their distribution
d. Swara classification such as vadi, Samvadi etc.
e. Musical forms

- Vaggeyakaracharitram
  77 biographies, from Sarangadeva to Subbarama Dikshitar
- Gamaka Samjnaniyama Vidhana Vivaranamu

The detailed narration of Panchadasagamakas. The '11' gamakas have been exhibited with symbols through vina.

The main framework contains the detailed lakshana of 72 Raganga ragas and their Janyas, lakshyagitas of Venkatamakhi, tanas, musical forms of various composers, prabandhas of Venkatamakhi, Sancharis of Subbarama Dikshitar etc. It also contains the original compositions of Subbarama Dikshitar. Gamaka signs are used to notate all compositions. There are two annexures, 'Anubandham' A & B, which contain ragamalikas and compositions by various composers.

Study Area

This paper mainly concentrates on the compositions of Subbarama Dikshitar in the janya ragas of Harikedaragaula Mela. Harikedaragaula is the 28thmela in the 72 Mela scheme of the older version whereas Harikambhoji is the 28thmela in the new system which follows the sampurna character for a Melakarta. As Subbarama Dikshitar is a conserver of

the Venkitamakhi school, Harikedaragaula adorns the 28th place in the scheme. Harikambhoji resembles Khamaj Taat of Hindustani Music.

The total number of derivatives of Harikedaragaula is 16. Out of which seven are Upanga ragas (those take only the svaras of parent raga) and nine are Bhashanga ragas (those take foreign svaras also). The list of Janyaragas :

Janya ragas of Harikedaragaula Mela[4]

Table 1

S No	Upanga	Bhashanga
1	Balahamsa	Kambhoji
2	Mahuri	Kannada
3	Devakriya	Isamanohari
4	Andhali	Surati
5	Chayatarangini	Erukalakambhoji
6	Narayanagaula	Athana
7	Natanarayani	Natakuranji
8		Jujavanti
9		Kamas

Since Subbarama Dikshitar was not only a musicologist but also a composer and a vainika, one could see the diversity in his compositions. He has composed Varnam, Daru, Svarajati, Kriti etc.

Compositions of Subbarama Dikshitar in janya ragas of Harikedaragaula are:

Table 2

S No	Composition	Raga	Tala
1	Tanavarna	Balahamasa	Ata tala
2	Daru	Natanarayani	Tisrajati Eka tala
3	Cauka Varna	Surati	Adi tala
4	Kirtana	Erukalakambhoji	Adi tala
5	Tana Varna	Erukalakambhoji	Ata tala
6	Daru	Erukalakambhoji	Adi tala
7	Tanavarna	Athana	Ata tala
8	Tanavarna	Athana	Ata tala
9	Kirtana	Natakuranji	Rupaka tala
10	Padavarna	Kamas	Tisrajati Eka tala
11	Svarajati	Kamas	Rupaka tala

From this list of compositions, the scholar has selected the Tanavarnam in Erukalakambhoji for analysis as an example. Since varnam is a scholarly composition that reveals the knowledge and understanding of the composer in that particular raga. For the study of tanavarnam, it is mandatory to know about the musical form.

Tanavarnam

'Varnam' in Carnatic music are the compositions with great importance[5]. They reflect the svarupa of the particular raga and demonstrate the svarasancharas i.e., the ranjakaprayogas and viseshaprayogas. They include both in Abhyasagana and Sabha gana. The vocalists and instrumentalists learn and practiceVarnas with great attention and care.PracticingVarnam in different tempos increases the capacity of the throat for a vocalist, develops the finger skills for an instrumentalist, and also improves and strengthens the tala jnana.

The structure of a varnam

The varnam has two parts:-Purvangam and Utharangam

Purvangam comprises the Pallavi, Anupallavi,and Muktayisvaram. In this Pallavi and Anupallavi are with the lyrics (Sahitya)

Utharangam consists of Charanam

and charanasvaras or Chittasvaras. Charnam has the Sahitya part.

Rendering of Varnam:-The composition starts with the Pallavi followed by Anupallavi and Muktayisvaram. The Purvanga concludes with repeating Pallavi.

The Utharnga commences with Charanam. The Charanasvaras will be in a progressing manner in its length and structure. After each charanasvara the charanam repeats.

Different kinds of Varnas are:

- **Tanavarnam**
- **Padavarnam**

Tanavarnam

The Tana varna is distinguished by the vast dispersion of Sahitya syllables*. It is sung at the commencement of a concert. It gives a warm exercise for the performer. As the svara patterns are in the style of 'tana', it is called Tana varnam.

Padavarnam

Apart from the Pallavi, Anupallavi, and Charanam, all the sections of the Padavarnam have Sahitya or the lyrics. It is a dance form and is in vilambitalaya (Sloe speed). Ragamalikavarnams are also there.

Tala

The varnams are composed in talas like Adi, Rupaka, Ata, etc.Rupaka tala in slow tempo can be seen mostly for Padavarnams.

Composers

Some of the prominent composers of Tanavarnams are Pachchimiriyam Adiyappayya, Sonti

Venkatsubbayya, Syama Sastri, Swati Tirunal, Patnam Subrahmanya Iyer, Ramanadapuram

Srinivasa Iyengar and Mysore Vasudevachar.

Tanavarnam of Subbarama Dikshitar:

Unlike the normal pattern of Tana varnam, Subbarama Dikshitar's Tanavarnam comprises the Sahitya (lyrics) for the entire varnam. Almost all the Varnams of Subbarama Dikshitar that are given in Sangita Sampradaya Pradarshini are in this structure. His varnams are the good narrative of a raga through comprehensive svarasancharas.

The Varnam taken for study is in raga **Erukalakambhoji**, Ata tala. For the understanding of the structure of raga, the Lakshana (Description) given in Sangita Sampradaya Pradarshini has been taken. In Sangita Sampradaya Pradarshini, Subbarama Dikshitar described the raga with the sloka of Venkitamakhin.

The raga lakshana of Erukalakambhoji (as per SSP):

Erukalakambhoji[6]

Slokam-Venkatamakhi

aroheganivarjyassyatsagrahassarvakalikah |
syaddrukalakambhojiragasyoktammahatmabhih||

Arohana : S R2 M P D2*m&N*D2 P D2 S

Avarohana : S *m&N*D2 P M G3R2 S

It is a Bhashanga raga. Shadja is grahasvra. Gandhara and nidhada are varjya in the arohana. The jivasvaras are madhyama, dhaivata, gandhara and nishada. It is a sarvakalika raga.

Some phrases given by Subbarama Dikshitarare:

S r M m ; g m p M ; g m p d ; m p d ; p m G ; s r p M G ; r/ m g \ R ;g r g S ; P d S

There are three compositions of Subbarama Dikshitar in this raga.

- Kirthana (parthasarathini) in Adi tala,
- Tana varanam in Ata tala (srirajeevaksha) at the request of the zamindar of Sivagiri, Raja varaguna Rama Sangili Veerappa Pandiyan Avargal, and
- Daru (srikarudaniki) in Adi tala.

The Structure of Tanavarnam in Erukalakambhoji

- Pallavi in one avarta
- Anupallavi in one avarta
- Muktayisvarasahityam in two avata
- Charanam in one avarta
- Charanasvaram with sahityam (6nos.)

Dhatu Analysis

Dhatu means the svara part of the composition. Subbarama Dikshitar portrayed all the patterns of svaras which give the essence of the raga.

Jantasvara sancharasare used in the pallavi itself and he is a master in using Jantasvaras.

Some Jantasvara phrases are : *P m m p p d d n n d d p m - Pò S p p d d s d r r m m g g r – d d p p m g - p p d d m m p p d d*

It is interesting to note some svara phrases in triplets. Ex: *s s r rrpò pò pò*

Dhaattusvara phrases are extensively seen in this Varnam.

Ex: *S p – s r p m - P m g – m d p p m g – r pò - s m p d - p d – g r g s R Pò - g r d p m g r*

Visesha Sancharas noted are: s *pò s d D n n D – d p – r r m mmm g r – G G r m g – s r m G m – s #n S r*

The third Charanasvara filled with combinations of svara patterns ending in Dhaivata: D p m g r r s R m p –D p m g r s *G - pò pò s pò - s d D n d D – np D*

Matu Analysis

Matu is the lyrical part of the composition. The varnam is in praise of LordSubrahmanya.The Sahitya is filled with many embellishments which adds to the beauty of the composition. Some examples are given here:

Prasa

Prasa is the rhyming letters in the lines or within the line of sahitya.

Pallavi: **Sri**rajivaksha
Srivallilola
Anupallavi: **Sri**rajillu
SriKarthikeya
Muktayisvarasahityam: **sukumara**mgavititamara hara **kumarakumara**nata
san a**tkumara**(within the same line)

Svarakshara

It is a Dhatu Matualankara. The svara and sahiya syllables come identical or like-sounding. It may be Suddha, Suchita, or Misra Svarakshara. In this varnam, the Muktayisvarasahityam is so brilliantly crafted with Svaraksharam which gives an exciting emotion filled with pleasure. Some examples are:

Table 2

1.	Suddha	[P] m g [P] [d] [Pa] ta la [pa] [da] (Muktayisvarasahityam)
2.	Suddha	[M] p n d- [M] p p [M] p [Ma] ra ha ra [ma] raku [ma] ra
3.	Misra	g r S garssa
4.	Suchita	[s] [r] m p[su] [ra]

Gamakas used

Gamakas are the backbone of our music which gives different colours to the ragas. The use of Gamakas with their symbols

in notation is the specialty of Sangita Sampradaya Pradarshini and it is very helpful for the musicians and researchers to understand in a better way the manner of rendering the songs and also to realise the compositions in their original form. For a raga like Erukalakambhoji which is a slow tempered raga,Gamakas like Kampita, Andolita (Jaru), Vali, Tirupa, Spuritaetc. are used more.

Some of the Gamaka patterns used in this Varnamare :

Kampita – It is the shaking of the svara without the shade of other svaras.
Ex:-*s r M p m g ; M P m m (Pallavi).*

Jaru - Jaru means gliding of a svara.The in-between svaras will be in shade. It can be used in ascending or descending.
Ex:-*g r / p m r ; P / n d ; S \ pò pò*

Vali - From a svarastana produces the higher svaras by circular deflection is Vali. This is a pure Veenagamaka.

Tirupa- One time hitting of the svara. It is also known as 'Nokku'. It is aptly used in the places where the thrust is needed.
Ex:-***p*** *m p ;* ***r*** *g s r ; m g* ***m*** *p ;* ***g*** *m p M*

Spurita - It is the stress given to the second note in a jantasvara combination in Arohana. The shade of the lower note below the stressed svara comes as anusvara.
Ex:- m **m** p **p** d **d**; s **s** r **r**\ *pò* ***pò***

Results and Discussion

When analysing the whole composition, thescholar came to know the legacy ofthe Composer who is a descendant of the great Dikshitar family. The application of the raga is at its maximum level and the Sahityapadas (words) are aptly given. The raga and sahitya are so closely connected which have taken the composition to the next level.

By analysing the varnam, the following points are noted:

- The structure of the Varnam is different from a normal Tanavarnam
- Maximum possible combinations of svaras are represented
- Extensive use of Jantasvara phrases
- The Anyasvara (foreign note) used in a different way i.e , as - ***s*** $_{\#}$***n S*** -is a rare usage. Generally, the foreign note uses only in the phrase – ***s*** $_{\#}$***n p d s***
- Instead of the elongated svaras (Dirghasvara) that typically comes in the first Charanasvara of Varna, SubbaramaDikshitarhas given Hraswasvaras (svaras without elongation) which adds the crispiness of the song.
- The third charanasvara is very attractive in its svaraprastara and that highlights the beauty of the song.
- The fourth Charanasvara is in the Sarvalaghu pattern which is very challenging for a raga like Erukalakambhoji.
- Since this raga is a Gamakapradhana raga in a comparatively slow tempo, the appropriate usage of Gamakas enhances the charm ofthe raga.

Conclusion

Subbarama Dikshitar was an eminent

composer. It is evident from his compositions. His compositions are mostly in Suddhamadhyama ragas like Sankarabharana, Bhairavi, Anandabhairavi, Sriranjani, Suruti, etc. The Pratimadhyama raga compositions are less in number.

Erukalakambhoji, a Bhashangajanya ragais well exposed in this Varnam by Subbarama Dikshitar. He was a musical genius and an 'Utthama Vaggeyakara'. The cream of the raga came out in a very excessive way which shows the talent of the composer in the understanding of the raga in the deepest manner. The beauty of the raga and its usage by the great composer cannot be condensed through a single article.

References

1. Subbarama Dikshitar, Sangita Sampradaya Pradarshini, English edition Vol 1, published by P.P Narayanaswami and Vidya Jayaraman
2. Lakshmi Devnath, Subbarama Dikshithar and his Sangita Sampradaya Pradarsini-2, Sruti-February 2005
3. https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/257007/5/05_chapter%202.pdf
4. Subbarama Dikshitar, Sangita Sampradaya Pradarshini (Telugu), vidyavilasini press, Ettayapuram, 1904
5. Sambamurthy P, South Indian Music Book III; Chennai, Tamilnadu; The Indian Music Publishing House, 2001
6. Subbarama Dikshitar, Sangita Sampradaya Pradarshini, English edition Vol 1, published by P.P Narayanaswami and Vidya Jayaraman

Essence of Adbhuta Rasa in Tyagaraja's composition with special reference to Valmiki Ramayana

R. Nandhini, Dr. V. Janaka Maya Devi,

Abstract

Rasa is the source to expose the feelings or emotions. Music acts as a tool to convey or express the essence of the feeling. Our ancestors proved that Ragas are the embodiment of Rasas. They have also used specific ragas to expose their feeling through their compositions. For instance they used the raga Atana for Veera, Mukhari for Shoka, Kadanakuthukalam for happiness etc. The rasa are nine in number.

Navarasa (Nava+Rasa) – Nava means nine; Rasa means a flavour, an essence, mood or the emotion that evokes normally in human being. The Natyashastra, ancient Sanskrit treaties by Bharata Muni is the famous text on Navarasa. He mentioned only about the eight rasas such as shringara, Hasya, Karuna, Raudra, Veera, Bhibhatsa, Bhayanaka and Adbhuta. The ninth rasa Shanta was later derived from the work of Abhinavagupta.

Among the above nine rasas, Adbhuta rasa means the emotion of wonder or surprise. The emotion of adbhuta occurs when one see the supernatural magical things which one could never seen or imagine about it. The emotion of adbhuta can be express by thrilling, wondering, shedding tears, etc.,

Apart from music, navarasa plays major role in dance, dramas, literature and especially in epics.

Keywords: *Adbhuta rasa, Ahalya, Rama, Yadukula Kamboji, Bala Kanda.*

Introduction:

Ramayana and Mahabharatha are the two ancient epics in India. Among those two Ramayana is very ancient one and also the largest. The hero of the epic is Rama, who is considering as an incarnation of lord Vishnu. Sage Valmiki is the author of epic Ramayana. He carried out all the nine rasa throughout the epic in a beautiful way.

Saint Tyagaraja is a legendry Carnatic Music composer and one among the Musical trinities. He was a dedicated devotee of lord Rama. The majority of his compositions are on lord Rama and Ramayana. Like Valmiki he also handled

* PhD scholar & Department of Music Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore- 641043. Tamilnadu. Email: nandhu14.1993@gmail.com, Mobile: 8098811288

** Professor, Research advisor

Navarasa in his compositions in an attractive manner.

Study area:

The study is focused on the Adbhuta rasa through the song 'Sri Rama Jaya Rama' in the raga 'Yadukula Kamboji' of Saint Tyagaraja. Tyagaraja wondered how Rama rescues Ahalya from the curse. The raga utilized for this kriti is Yadukula Kamboji which elevates the Adbhuta rasa with the correlation of the lyrics. So this article picture the Adbhuta rasa, Ahalya saba vimochana, beauty of the raga Yadukula kamboji and the relevant verses from Ramayana.

Methods/Methodology

This article is going to discuss briefly about the essence of Adbhuta rasa in Tyagaraja's composition with special refence to Valmiki Ramayana in the following Methods

- Biography of Tyagaraja
- Ramayana a glimpse
- Navarasa
- Ahalya- The women liberated by lord Rama
- Tyagaraja's composition – Sri Rama Jaya Rama
- Yadukula Kamboji Raga lakshana
- Result and discussion
- Relevent reference from Valmiki Ramayana

Biography of Tyagaraja:

Tyagaraja was born in the cultural head quarters of Kaveri delta Tiruvarur on 4th May 1767 (27th Sarvajith, Chaitra, Monday, Sukula Saptami, Pushya) according to one tradition; and in 1759 according to the others. His father Ramabrahmam was the Ramayana Kadha kalekshapam performer. His mother Sitamma was the daughter of asthana vidhwan of Tanjore court. Since Tyagaraja was basically from Musical family made him to carry out his interest to learn music and further developed as a legendry Musician.

Tyagaraja was a dedicated devotee of lord Rama. According to him, Music is the NADOPASANA. He dedicated his entire life in practicing Nadopasana. He set a target to attain salvation through Rama bhakthi and Music. Tyagaraja chanted over 96 crores time of Rama Sadakshari mantra over 21 years (1, 25,000 times per day, which is not a simple thing).

Tyagaraja was very fortunate to have the dharshan of lord Rama in four occasions. Twice in dreams and twice in physical form. When he saw the lord in physical form he had composed the song **'Ela ni daya radu'** in **Atana** raga and **'Bhavanuta'** in **Mohana** raga. The other two compositions **'Kanugontini'** in **Bilahari** raga and **'Giripainela'** in **Sahana** raga was composed when he saw Rama in his dreams. Through his compositions one could come to know the Bhakthi he had on lord Rama as well as the knowledge he had in Valmiki Ramayana. He was very well aware of each nook and corner of Valmiki Ramayana.

Ramayana a glimpse

Epics are Ithihasa which is a religious story, which was happened and written during the lifetime of the narrator. Among the epics Ramayana is very ancient one with 24,000 verses. It was written in Sanskrit by the sage Valmiki. It has seven kandas namely Bala kanda, Ayodhya Kanda, Aranya kanda, Kishkinda kanda, Sundara kanda, Yuddha kanda and Uttara

kanda. This epic has the story of Rama and Sita who is considered as the incarnation of lord Vishnu and goddess Lakshmi.

Dasharatha belongs to Ikshavaku dynasty (Suryavamsam or Raghuvamsam) was the king of Ayodhya. He had three wives namely Kaushalya, Kaikeyi and Sumitra. Rama (the hero of Ramayana) Bharatha, Lakshmana Shatrughna and Shanta are the children they had. Rama the beautiful prince of Ayodhya married to beautiful princes Sita who was the avathar of Sri Lakshmi. After twelve years of their marriage life, the king Dasaratha wished Rama to take the charge as King. But Rama's step mother Kaikeyi, through her plotting exiled Rama to the forest for fourteen years. Rama's wife Sita and his brother Lakshmana decided to go along with Rama.

Before their period in forest gets over, Sita was abducted by the demon King Ravana. While searching Sita, Rama and Lakshmana had friendship of Hanuman (great devote of Rama), Shukrivar (the king of Monkeys and bears). Jambavan(the head of bears), Angathan (son of Vali). Shukrivar sent the monkeys and bears to search Sita. First Hanuman visited Lanka and found Sita. After that he came back to Rama to convey that Sita is in Lanka. Rama gathered the army of Monkeys and Bears to rescues his wife. Finally Ravana, the demon king was killed by Rama and rescued his wife. To prove the chastity, Sita entered into fire but she was vindicated by the Gods and restored to her Husband. After the couple's triumphant, they return to Ayodhya. They had twin sons known as Kusa and Lava and the story continues. Rama's righteous rule is a golden age for all the mankind.

Ramayana teaches how one should follow the path of morality and justice even during the hard time. Valmiki's verses in Ramayana have the attractive flavor of navarasas.

Navarasa

Each rasa expose its own feeling. Below table have the picture of Navarasa and the emotion evokes by the rasas.

S. No	Name of the Rasa	Emotion that Rasa evokes
1.	Sringara	Love
2.	Hasya	Laugh
3.	Raudra	Anger
4.	Karuna	Mercy
5.	Bibhatsa	Disgust
6.	Bhayanaka	Horror
7.	Veera	Heroic
8.	Adbhutha	Wonder
9.	Shantha	Peace

These navarasas plays a major role in music as well as dance. In dance one can bring out the emotion through the expressions. In music, the essence of that particular rasa can be conveying through the ragas. Each raga has its own taste to feel it. So the composers were very conscious to choose raga for their compositions.

Tyagaraja gave importance to rasa. His compositions are the important source of knowledge.

'Navarasayuta Kritiche bhajiyinche yukti' [1]

Means Music itself can establish rasas. Above mentioned line is from Tyagaraja's Kriti Sogasuga Mridanga talamu which was set in Sriranjani raga. This is the best quote to show how much the saint has given importance to rasas. Below are few examples that be evidence for how he portrayed the rasa through

raga in his compositions.

S. No	Composition portrayed in it	Raga	Tala	Rasa
1.	Teratiyyaga rada	Gaulipant	Adi	Karuna Rasa
2.	Enta bhagyamo	Saranga	Adi	Adbhuta Rasa
3.	Santamu leka	Sama	Adi	Santa Rasa
4.	Chani toditeve	Harikamboji	Adi	Sringara Rasa
5.	Chinthisthun-nade Sangita sastra gnanamu Karubaru	Mukhari	Roopakam Adi Adi Adi	Karuna Rasa (Soka rasa)

Apart from the nine rasas, Tyagaraja speaks of Bhakthi rasa. He holds bhakthi rasa like the Sun, whereas other rasa like the other planets revolves around it. The story of Ahalya from Ramayana is depicted in one of this song. The study of the raga rasa handled by Tyagaraja in that composition is carried out further.

Story of Ahalya – The women liberated by lord Rama:

Ahalya the most beautiful women created by Lord Brahma. She was married to the sage Gautama Maharishi. Once Indra disguised like Gauthama Maharishi and seduced Ahalya. At that time Gautama maharishi came home and cursed both of them. He cursed Ahalya will be fogged and to be clouded by the dry leaves and dust. She cannot feel the sunlight or even the moon and also no one know the presence of Ahalya. She explained the trickery played by Indra. Finally Gautama Maharishi said she will be liberated from the curse once Rama Manifested.

Tyagaraja's composition Sri Rama Jaya Rama:

Song: Yadukula Kmaboji
Tala: Kandachapu

Pallavi

Sri Rama Jaya Rama Sringara Ramayani
Cintimpa Raade oh Manasa (Sri)

Charanas

1. Taluku Chekkula muddu betta Kausalya munu
   Tapamemi jeseno Kausalya tapamemi jeseno teliya (Sri)
2. Dasarathudu Sri Rama Raaraayani biluva munu
   Tapamemi jeseno Dasarathudu Tapamemi jeseno teliya (Sri)
3. Tanivaara paricarya seya saumitra munu Tapamemi jeseno
   Saumitra Tapamemi jeseno teliya (Sri)
4. Tana venta Jana yupponga Kausikudu Tapamemi jeseno
   Kausikudu Tapamemi jeseno teliya (Sri)
5. Taapambanagi Roopavatiyauta Kahalya Tapamemi jeseno
   Ahalya Tapamemi jeseno teliya (Sri)
6. Dharmaatma karanambu soka siva Caapambu Tapamemi jeseno
   Caapambu Tapamemi jeseno teliya (Sri)
7. Tana tanayanosagi kanulara gana Janakundu Tapamemi jeseno
   Janakundu Tapamemi jeseno teliya (Sri)

8. Daharambu karuga karamunu
   batta Janaki Tapamemi jeseno
   Janaki Tapamemi jeseno
   teliya (Sri)
9. Tyagarajaptayani bogada
   narada Mauni Tapamemi jeseno
   Aamauni Tapamemi jeseno
   teliya (Sri)

Meaning of the song:

The composer starts this song by praising Rama as a gorgeous Rama. In pallavi he tells himself 'Oh Mind think of that beautiful Rama (Sringara Rama)' He calls Rama with different names such as Sri Rama, Jaya Rama, Janaki Rama etc.

- In first charana he wonders that how much his mother Kausalya is fortunate to be her mother and also to kiss him, He does not know.
- He wonders how much lucky that his father Dasaratha to call him often as 'Rama' He does not know.
- He did not know what penance did Lakshmana did to serve his brother Rama
- He did not know what penance did Visvamitra did before to have Rama under his tutelage
- He wonders about the unimaginable thing happened that Ahalya who was cursed by her husband and liberated from that curse when Rama entered the hermitage. He wonder that he don't know what penance Ahalya did before.
- He did not know what penance did the bow of lord Shiva did, to be touched by Rama.
- How much the king Janaka is fortunate to marry his daughter to Rama.
- Sita is fortunate to hold Rama's hand and walk beside him as his wife. He doesn't know what penance she did previous.
- He does not know what penance Narada did. He had the distinctive privilege to address Rama as the friend of Tyagaraja.

Thus the whole song is wondering about the persons connected with Rama in Ramayana. Particularly the incident happened with Ahalya is unimaginable supernatural thing. Transforming stone to beautiful women, imagining such things brings Goosebumps and make us to feel wonder.

Yadukula Kamboji Ragalakshana

Yadukula Kamboji is a Janya raga in Carnatic Music derived from the 28th mela Harikamboji. It is an audava sampurna raga. The swaras enclose in arohana are Shadjam, Chathushruti Rishabam, Suddha Madhyamam, Panchamam, Chathushruti Dhaivatam. Whereas the swaras in avaroha are Shadjam, Kaishiki Nishadam, Chathushruti Dhaivatam, Panchamam, Suddha Madhyamam, Antara Gandaram, Chathushruti Rishabam and Shadjam.

Yadukula Kamboji is a famous raga handled by many composers such as Shyama sastri, Dikshitar, Papanasam sivan, Tirugnanasambandar, GNB, etc., It is a famous raga, can be sing as a main piece in the concerts. This raga evokes the essence of Adbhuta rasa. So that Tyagaraja had chosen this raga to express his wonder feeling which apt for this song.

Results and Discussion

Music is an aesthetic art it gives leisure not only to human being but also to the animals such as cow, serpent and so on. Scientist proved that playing Music can yield more than a normal farming.

Composers utilized ragas to expose their knowledge in multi fascinated way i.e., to reveal the history, the language proficiency, astrological knowledge, the thatparya of various deities and the importance of the sthala moorthis and so forth.

Yadukula Kamboji is utilized by so many composers to express the above mentioned views. If one come acrossthese compositions, theywill certainly obtain knowledge in the various feels of the world.

Tyagaraja is the first foremost spontaneous composer and his compositions are taking majority of the places in the stage performances as well as in all the functions and even prayers too.

It is really a wonderful and fortunate received by Tyagaraja since his mother used to tell Ramacharitham from his childhood onwards. His father was a kadhakalekshaba performing artist, fed him the spontaneous flow of thought provoking speech, raga knowledge.

Even it can be said that Tyagaraja poured all his knowledge in this Yadukula Kamboji 'Sri Rama Jaya Rama' itself.

Yadukula Kamboji is a Rakthi Raga[3] which means a pleasing raga utilised to rescue Ahalya who was suffered or invisible for a long period naturally it is a great relief to Ahalya

DS S, „S,

Ahalya

In the above phrase, 'Dha' swara touches or started below the adhara shadja and remaining all the swara are the adhara shadjas only. Here it shows that Tyagaraja is the source of knowledge, who express by touching adhara shadja, which relates to mooladhara shakthi.

In the history of music, even some Ragas omit tharasthayi shadja i.e., higher octave of adhara shadja(Madhyasthayi shadja) But there is not even a single raga without the adhara shadja, so adharam means essential, basic or moolam (root cause)

Mooladhara or the root chakra is one of the seven primary chakras are to Hindu tantrism[4]. Mooladhara shajthi attributes vitality, vigour and growth. Tyagaraja consciously utilized this adhara shadja to indicate that Ahalya got saba vimochana.

Likewise, the end of the word resonate from adhara shadja and the swaras touched and developed from shadja till Ghanthara and then reaches to tharasthayi and again finish by the note Adhara shadja itself.

S,R,,G RSS,S, %SRG, GS R, „%SR/MPDS

Ta pa me mi je se no teli ya

While doing Tapa (meditation) the shakthi starts from the bottom i.e., mooladhara. Then it should gradually touches the agnya chakra and finally it will come to the mooladhara place itself.

What an enthralled knowledge of Tyagaraja! The complete thantrika is captivated by shedding the essence of Yadukula Kamboji raga swaroopa. The sentence utilized by Tyagaraja once again here, it can be expressed to emphasis the depth of the wordings. Here come the lyrics again

'Tapa memi jesino Ahalya

Tapamemi jeseno'

Music is beyond the language. Anybody can easily understand the meaning of the word that what a Tapa (penance) you have done Ahalya to touch the feet of Rama. The ragaprayogas as well as the lyrics are correlated and competitive with each other. While listening or reading the lyrics

or tune, it can be visualized the adbhuta rasa by everyone.

In Music there are plenty of evidences are there to showcase the wonders are happened. For example once Dikshitar sang a song in the raga Amirtha Varshini with lyrics 'Varshaye', immediately it starts to rain nonstop. In another song Tyagaraja sang Naajeevadhara song in Bilahari raga. The person who died was brought back to his life through this Naajeevadhara song by Tyagaraja. So Music has the power to make wonders through ragas.

Relevent reference from Valmiki Ramayana:

ददर्श च महाभागाम् तपसा द्योतित प्रभाम् ।
लोकैः अपि समागंय दुर्निरीक्ष्याम् सुर असुरैः॥

(1-49-13)

प्रयत्नात् निर्मिताम् धात्रा दिव्याम् मायामयीम् इव ।
धूमेन अभिपरीत अंगीम् दीप्ताअम् अग्नि सिखाम् इव॥

(1-49-14)

स तुषार आवृताम् स अभ्राम पूर्ण चन्द्र प्रभाम् इव ।
मध्ये अंभसो दुराधर्षाम् दीप्ताम् सूर्य प्रभाम् इव॥

(1-49-15

Transliteration:

Darsha cha mahabhagam tapasa dyotit prabham
Lokai api samaganya durnirikshyam sur asurai

Prayaat nirtam dhatra divyam maymayim ev
Dhumen Abhiprit Angim Deeptaam Agni Sikham ev

Sa Tushar Aavrutam Sa Abram Purna Chandra Prabham ev
Madhe ambhaso duradharsham deeptam surya prabham ev

Above verses are taken from 49th Sarga of Balakanda in Ramayana

Ahalya was turned as a dust form and clouded by dry leaves and dust. She is not visible to anyone and she was also not able to feel anything. She was there for so many years like a Tapasvi. She was not able to do anything almost like a stone. She was surviving only with the support of air. Rama entered the hermitage followed by his guru Vishwamitra. There he saw the glorious form of Ahalya. She is fortunate to have such a glorious thing to happen in her life. She was not visible to anyone but what penance she would have done; Rama was able to see the Tapasvi form Ahalya and rescued her from the curse.

Conclusion

Tyagaraja, in his composition 'Sri Rama Jaya Rama' beautifully carried out the essence of Adbhuta rasa through the raga Yadukula Kamboji. In each nook and corner of the song he handled the rage with care to bring out his wonder feeling. Not only in Musical aspect also lyrically.

Here only one example has been given to emphasize the essence of Valmiki Ramayana implemented in the composition of Tyagaraja with the elevating support of the raga Yadukula Kamboji.

References:

1 Padma Bhushan Prof P. Sambamoorthy - The Great composers – The Indian Music Publishing house, Chennai – 1962 p.g. 135

2 T.K. Govinda Roa – Compositions of Tyagaraja – Ganamandir Publications, Chennai – 31 March, 2009 – p.g. 414

[3] Dr. Nookala Chinna Satyanarayana- Raagaas of Indian Music – Sri Dattasai Graphics, Hyderabad – January 2004 – p.g. 400 https://en.wikipedia.org/wiki/Muladhara#:~:text=Muladhara%20(Sanskrit%3A%20%E0%A4%AE%E0%A5%82%E0%A4%B2%E0%A4%BE%E0%A4%A7%E0%A4%BE%E0%A4%B0%20or%20%E0%A4%AE%E0%A5%82%E0%A4%B2%E0%A4%BE%E0%A4%A7%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%BE,the%20colour%20pink% 20or%20red.

[5] https://sanskritdocuments.org/sites/valmikiramayan/baala/sarga49/bala_49_frame.htm